संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा

राजमङ्गल यादव

संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा

लेखक
राजमङ्गल यादव

प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली भारत

प्रथम संस्करण 2011

ISBN : 978-81-7702-268-1

मूल्य : 850.00

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., एम. फ़िल्., पी-एच.डी.
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (O) 47084852 (M) 9350884227
e-mail : pratibhabooks@ymail.com

टाईप सेटिंग : एस०के० ग्राफिक्स
दिल्ली-84

मुद्रक : एस०के० ऑफसेट, दिल्ली

Tradition of Modern Sanskrit Poetics

Author

Rajmangal Yadav

PRATIBHA PRAKASHAN
DELHI-110007

First Edition : 2011

ISBN : 978-81-7702-268-1

Rs. : 850.00

Published by :
Dr. Radhey Shyam Shukla
M.A., Ph.D.
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
7259/23. Ajendra Market,
Prem Nagar, Shakti Nagar
Delhi-110007
Ph. : (O) 47084852, 09350884227
e-mail : pratibhabooks@ymail.com

Laser Type Setting :
S.K. Graphics, Delhi-84

Printed at : **S.K. Offset,** Delhi

Mahāmahopādhyāya
Prof. Abhirāja Rajendra Mishra
Ex Vice Chancellor

Ph. : 0177-6534607
M : 094181-76968, 092185-34607
Dated..........................

नान्दीवाक्

काव्य एवं शास्त्र का विकास समानान्तर गति से होता है। उसका कारण है दोनों का सापेक्ष होना। दोनों के बीच व्यवहार एवं सिद्धान्त का सम्बन्ध होता है और यह सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक व्यवहार का नियामक उसका सिद्धान्त होता है। सिद्धान्त निर्णीत हो जाने पर व्यवहारों का पल्लवन तीव्रता से होने लगता है।

जब काव्य है तो उसका नियामक शास्त्र भी होगा। शास्त्र का शास्त्रत्व दोनों ही प्रकार से संभव है- शंसन से और शासन से। अतएव आचार्यों ने शंसनात् शास्त्रम् तथा शासनात् शास्त्रम्-दोनों व्याख्याओं को सम्मत एवं संगत माना है। ज्योतिषशास्त्र, संगीतशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, कामशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र आदि की ही तरह कविता अथवा साहित्य का भी अपना पृथक् शास्त्र रहा है जो वेदमूलक रहा है। कालान्तर में आचार्य भरत (ई० पू० चौथी शती) ने उसका एक विस्तृत, हृद्य-निरवद्य शास्त्र लिखा, नाट्यशास्त्र के नाम से। प्राय: पाँचवीं-छठी ई० तक रंगप्रधान नाट्य से काव्य के पृथक् व्यवस्थित एवं प्रत्यभिज्ञात हो जाने पर, काव्यशास्त्र की असङ्कीर्ण प्रतिष्ठापना हो गई और भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, रुद्रट, भोज, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय तथा पण्डितराज ने अपने सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न मानक काव्यशास्त्र लिखे, जिनके द्वारा अनेक काव्यतत्त्वों की सलक्षण समीक्षा के साथ ही साथ, रस-अलङ्कार-रीति-ध्वनि-वक्रोक्ति एवं औचित्य जैसे काव्यात्म-सिद्धान्तों की भी नींव डाली गई।

काव्यशास्त्र को साहित्यशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र भी कहा गया है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनन्तर, जब सल्तनतयुगीन स्थिरता समाप्त हो गई तथा अंग्रेजी राजसत्ता की लिप्सा बढ़ने के कारण, संस्कृत रचनाधर्मिता दूसरी बार बाधित हुई तो काव्यशास्त्रीय चिन्तन भी अवरुद्ध सा हो उठा। फिर भी

अनेक प्रातिभ आचार्यों, टीकाकारों तथा कवियों ने यथाकथञ्चित् प्राचीन काव्यशास्त्र-सिद्धान्तों का पुनरावलोकन, पुनर्व्याख्यान, संशोधन एवं परिष्कार का क्रम अक्षत रखा। आधुनिक गहन शोधों से ज्ञात होता है कि पण्डितराजोत्तर युग में भी प्रायः 350 ऐसे आचार्यों ने योगदान दिया।

मैं व्यक्तिगत रूप से, कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की 1784 ई० में स्थापना के साथ 'अर्वाचीन संस्कृत साहित्य' का प्रारंभ मानता हूँ। तब से अब तक का कालखण्ड पुनर्जागरण (1784-1884), स्थापना (1885-1946) तथा समृद्धिकाल (1947 से अद्यावधि) में विभक्त है। समृद्धिकाल ही, मेरी दृष्टि में, संस्कृत रचनाधर्मिता का सुवर्णयुग भी है।

समृद्धिकाल में ही अवरुद्ध अथवा स्थगित काव्यशास्त्रीय चिन्तन की धारा पुनः आगे बढी। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा, आचार्य अभिराजराजेन्द्र, आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी, आचार्य शिवजी उपाध्याय तथा आचार्य रहस विहारी द्विवेदी ने उन्मुक्त भाव से काव्यशास्त्र पर युगापेक्षित चिन्तन किया। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे, डॉ० रमाशंकर तिवारी आदि विद्वानों ने भी किसी विशेष बिन्दु पर गहन चिन्तन किया।

नये काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अलङ्कार एवं ध्वनि सम्प्रदाय की नये सिरे से प्राणप्रतिष्ठा दीखती है। काव्यलक्षण, प्रयोजन, हेतु तथा वर्गीकरण पर भी मौलिक विचार हुआ है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली गवेषक चिरञ्जीवी डॉ० राजमङ्गल यादव ने इसी अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र की अत्यन्त, मौलिक, तुलनात्मक प्रमाणपुरस्सर समीक्षा की है, जिसमें उनका अध्यवसाय तथा प्रतिभा-दोनों ही जीवन्त दीखते हैं।

मेरा दृढ विश्वास है कि डॉ० राजमङ्गल का यह ग्रंथ एक 'सन्दर्भ-ग्रंथ' सिद्ध होगा। मैं कृति एवं कृतिकार का, संस्कृत जगत् की ओर से हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

शिमला

30/8/2010

सस्नेह

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

(अभिराज राजेन्द्र मिश्र)

प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानवसंसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

Prof. Radhavallabh Tripathi
Vice-Chancellor
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
Deemed University
(Under MHRD, Govt. of India)

शुभाशंसा

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्यरचना तथा काव्यसिद्धान्तविमर्श की प्रक्रिया प्राय: तीन सहस्राब्दियों से आज तक जारी है। संस्कृत के आचार्यों का सिद्धान्त है कि लक्षणों का निर्धारण लक्ष्यग्रन्थों के अनुसार होता है। ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है– **'रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धिव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्।'** रामायण महाभारत आदि उपजीव्य काव्य तथा कालिदासादि कवियों की कालजयी रचनाएँ लक्ष्य ग्रन्थ हैं। लक्ष्याधारित लक्षण परवर्ती काव्यों के लिये निकष बनते हैं। लक्ष्य और लक्षण का यह परस्पर अन्त:संवाद काव्यपरम्परा को जितना प्रकर्ष प्रदान करता है, उसी तरह काव्यशास्त्रीयविमर्श को भी वह स्फूर्त करता है।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में संस्कृतसाहित्यरचना न केवल प्रचुर मात्रा में हुई, उसकी विकास यात्रा में नये पड़ाव भी आये, नये मानदंडों या प्रतिमानों की सृष्टि हुई। प्रातिभ नवोन्मेष के साथ नये वातायन खुले। नवीन प्रवृत्तियों व नये युगबोध से समन्वित कृतियाँ सामने आईं। तदनुरूप नये काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना हुई। यह सत्य है कि लक्ष्य और लक्षण के संवाद की जो उर्वर भास्वर परंपरा भामह, दण्डी आदि आचार्यों से लगा कर पण्डितराज तक प्रशस्त रूप में दिखती है, उसमें किंचित् अवरोध प्रतीत होता है। ऐसा संस्कृत के नवीन साहित्य को समुचित महत्त्व न दिये जाने से हुआ है। अथ च काव्यप्रकाशादि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही नये साहित्य का भी

आकलन किया जा सकता है या किया जाना चाहिये– इस बद्धमूल धारणा के कारण भी पण्डित समाज में नवीन लक्षणानुसन्धान की आवश्यकता कम अनुभव की जाती रही है। तथापि साहित्य में नवीन प्रयोग करने वाले रचनाकारों ने नवलक्षणसन्धान भी किया। ऐसी स्थिति में स्वभावतः ही उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में संस्कृत में साहित्यशास्त्र के जो नये ग्रंथ लिखे गये, उनके प्रणेता संस्कृत के रचनाकार ही थे। साहित्य में नवोन्मेष की अवतारणा करने वाले रचनाकारों ने स्वोपज्ञ शास्त्रों में नवीन कोटियों की परिकल्पना की। प्रस्तुत शोधप्रबंध में चर्चित श्रीपाद शास्त्री हसूरकर, गजानन शास्त्री करमलकर, गिरिधरलाल व्यास, छज्जूराम शास्त्री, आनंद झा, जगन्नाथ पाठक, गोविंदचंद्र पांडे, शंकरदेव अवतरे, रेवाप्रसाद द्विवेदी, शिवजी उपाध्याय, अभिराज राजेन्द्र मिश्र तथा प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक – ये सभी रचनाकार भी रहे हैं और शास्त्रकार भी। छज्जूराम शास्त्री ने अपने काव्यबिन्दुः में समस्त कोटियों के उदाहरण नैषधकाव्य से दे कर एक नई अवतारणा की है। रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका में अलंब्रह्म की अवधारणा प्रस्तुत की है। ध्वनिवाद की समीक्षा करते हुए उन्होंने अलंकार के समग्रसौन्दर्यदर्शन का नवोन्मीलन किया है।
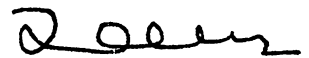
काव्यशास्त्र की परम्परा में तीन प्रकार के मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन होता आया है – आकर ग्रंथ, प्रकरण ग्रन्थ और संग्रह ग्रन्थ। युवा विद्वान् राजमङ्गल यादव ने संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा शीर्षक इस शोधकृति में 29 नई काव्यशास्त्र कृतियों की चर्चा ही है, इनमें कुछ प्रकरण ग्रन्थ हैं, अन्य संग्रह ग्रन्थ। साहित्यविन्दुः, अभिनवकाव्यप्रकाश तथा अभिराज राजेन्द्र मिश्र का अभिराजयशोभूषण – ये ग्रन्थ काव्यप्रकाशादि के समान संग्रह ग्रन्थ हैं। अभिराजयशोभूषण में विशेष रूप से अद्यतन साहित्य की नवीन विधाओं के लक्षणनिर्माण का संरंभ हुआ है। रहसविहारी द्विवेदी की नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

प्रसन्नता का विषय है कि संस्कृत का नया काव्यशास्त्र स्वयं को प्रमाणित और स्थापित कर रहा है। संस्कृत में लिखे गये काव्यशास्त्र के ग्रन्थों पर अनेकत्र संगोष्ठियाँ आयोजित की गई हैं, तथा अनेक विश्वविद्यालयों में इन पर अनुसंधान कार्य किये गये हैं। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के जयपुर परिसर में

साहित्यशास्त्र के नूतन मानदण्डों पर सङ्गोष्ठी आयोजित की गई, जिसमें प्रस्तुत किये गये आलेख साहित्यशास्त्र के सुधी आचार्य रमाकान्त पाण्डेय के द्वारा सम्पादित हो कर पुस्तकाकार प्रकाशित किये जा चुके हैं। मेरी कृति अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र पर पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिर आदर्शशोधसंस्थान में राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई, इस संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये निबंध भी पुस्तकाकार प्रकाशित किये जा चुके हैं। अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र पर अभिराज राजेन्द्र मिश्र, रहसविहारी द्विवेदी, शिवजी उपाध्याय, रमाकांत पाण्डेय आदि विद्वज्जनों की सुचिंतित समीक्षाएँ सागरिका तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। अभिराजयशोभूषण की समीक्षाएँ भी सागरिकादि पत्रिकाओं में सामने आईं हैं। इन समीक्षाओं में समीक्षक विद्वानों ने समीक्ष्य ग्रन्थकार की मान्यताओं पर पुनर्विचार और पुनर्मीमांसा भी की है, जिससे संस्कृत काव्यशास्त्र का नवसिद्धांतविमर्शक्रम और आगे बढा है। इस क्रम में ही अन्यान्य भाषाओं के साहित्य पर भी आज के संस्कृतशास्त्रकारों ने विचार किया है। यही नहीं, संस्कृत काव्यशास्त्र का वैश्विक परिप्रेक्ष्य इस विचारक्रम में सामने आने लगा है।

संस्कृत के अभिनवकाव्यशास्त्र ने काव्यलक्षण, काव्यकोटियों, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि पर नवीन विमर्श किया है। सुज्ञानकुमार मोहान्ति आदि युवा पंडितों ने स्वोपज्ञ नवीन संस्कृत काव्यशास्त्रों में पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांतों की भी नवमीमांसा की है। अभी तक संस्कृत काव्यशास्त्र के इस नवोन्मेष को लेकर सम्यक् परिशीलन नहीं हुआ है। डॉ० राजमङ्गल यादव का प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में एक स्तुत्य प्रयास है।

इस ग्रन्थ में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत काव्यशास्त्र की मीमांसा तो प्रस्तुत हुई ही है, नवीन सहस्राब्दी के काव्यशास्त्र की पीठिका भी बनी है। निश्चय ही यह प्रयास काव्यशास्त्र के अभिनव चिंतन से जिज्ञासुओं व अनुसंधाताओं को अवगत करायेगा। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ के द्वारा संस्कृत के प्रत्यग्र काव्यचिंतन की संभावनाएँ फलीभूत होगीं।

राधावल्लभ त्रिपाठी

Prof. Dipti S. Tripathi
Director

राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन
National Mission for Manuscripts
Indira Gandhi National Centre for the Arts
11, Mansingh Road, New Delhi - 110001
Tel : + 91-11-2338 3894, Fax : + 91-11-2307 3340
E-mail : director.namami@nic.in

आशीर्वचन

संस्कृत काव्यशास्त्र, संस्कृत में उपलब्ध सभी शास्त्रों की भाँति विशाल, विस्तृत एवं अखण्ड प्रवाह की भाँति निरन्तर गतिशील रहा है। आचार्य भरत से लेकर अद्यावधि मत-मतान्तरों से परिपोषित होता हुआ यह शास्त्र भारतीय विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं चिन्तन की मौलिकता का अत्यन्त सुन्दर निदर्शन है। किसी भी भाषा का साहित्य लेखक के युग का प्रभाव सँजोये रहता है। इसीलिए एक भाषा में लिखे होने पर भी अलग-अलग काल के साहित्य में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। काव्याशास्त्री इन प्रवृत्तियों का सम्यक् विश्लेषण कर उसे शास्त्र में समाहित करता है। यही कारण है कि काव्यशास्त्र जैसा जीवन्त शास्त्र आचार्यों को नवीन स्थापनाएँ करने के लिए प्रेरित करता रहा है।

किसी युग में संस्कृत लोकभाषा थी, बाद में शिष्ट भाषा का रूप मिला और पुनः काल की गति के साथ वह शास्त्रभाषा हो गयी। यह सत्य है कि शास्त्रभाषा के रूप में विकसित और प्रयुक्त होने के बाद भी संस्कृत में काव्यरचना निरन्तर होती रही है, यहाँ तक कि आज भी हो रही है; लेकिन उतना ही सत्य यह भी है कि अलग-अलग काल की वस्तु के अतिरिक्त भाषा और शैली भी काल से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी यह प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। काव्य के असाधारण धर्म के विषय में प्रसिद्ध मान्यताएँ अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि एवं रस साहित्य के विकास के साथ विकसित और प्रस्तावित हुए हैं।

आधुनिक संस्कृत साहित्य का काल, प्रायः विद्वानों ने सर विलियम जोन्स के द्वारा एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के पश्चात् स्वीकार किया है।

इस साहित्य को स्वतन्त्रता पूर्व एवं स्वातन्त्र्योत्तर दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों वर्गों के लेखकों का कथ्य, प्रतिपाद्य एवं शैली भी स्पष्टत: एक दूसरे से भिन्न है। आधुनिक काल के विश्लेषकों, समालोचकों एवं चिन्तकों ने साहित्य की बदलती हुई प्रवृत्ति के अनुसार नूतन काव्यशास्त्र की रचना की आवश्यकता का अनुभव किया। इनका चिन्तन मूलरूप से पारम्परिक संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित है। किन्तु अर्वाचीन युग के साहित्य की नवीन उद्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए इनमें भी नवीन समालोचना पद्धतियों एवं सिद्धान्तों का विकास होते देखा जा सकता है।

डॉ० राजमङ्गल यादव ने आधुनिक काव्यशास्त्रियों की कृतियों का सम्यक् अध्ययन करते हुए तत्तत् लेखकों के मतों को विषयानुसार विश्लेषित किया है। इस कार्य में इन्हें समय एवं श्रम दोनों का निर्बन्ध उपयोग करना पड़ा। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र की अल्पज्ञात परम्परा को खोज निकालना ही अपने आप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। डॉ० राजमङ्गल ने इसे केवल खोज ही नहीं निकाला है अपितु इसका सम्यक् विश्लेषण और उपस्थापन भी किया है। मुझे विश्वास है कि इनका यह प्रयत्न आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र को प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के विकास की कड़ी के रूप में जोड़ने में सहायक होगा।

डॉ० राजमङ्गल ने सामग्री के सञ्चयन में जितना श्रम किया है वही अपने आप में श्लाघनीय है। सञ्चित सामग्री को विश्लेषण के साथ तर्कसम्मतरूप में उपस्थापित करना सोने पर सुहागा जैसा प्रतीत होता है। काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह कृति अपरिहार्य साहाय्य ग्रन्थ का काम करेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। मैं डॉ० राजमङ्गल को उनके परिश्रम के लिए बधाई देती हूँ और आशा करती हूँ कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार सुचिन्तित और मौलिक कार्यों में प्रवृत्ति बनाये रखेंगे।

दी० त्रिपाठी

नई दिल्ली (दीप्ति त्रिपाठी)

18/10/10

प्रो. शारदा शर्मा
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-11000
दूरभाष/फैक्स : 011-27666657

Prof. Sharda Sharma
DEPARTMENT OF SANSKRIT
University of Delhi, Delhi-110007
Tel./Fax : 011-27666657
E-mail : shardasharma54@gmail.com

प्ररोचना

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह की कृति काव्यालङ्कार के अस्तित्व में आने के पश्चात् काव्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा अद्यावधि पर्यन्त प्रवहमान है। भामह के पश्चात् दण्डी, वामन, रुद्रट, भोज, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डिराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) तक काव्यशास्त्र का विस्तार निरन्तर होता रहा है। काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं तथा अध्यवसायियों के मध्य कुछ दिनों तक प्रायः यह अपवाद रहा है कि पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् काव्यशास्त्रीय परम्परा का अवसान हो गया। परन्तु यह धारणा नितान्त मिथ्या सिद्ध हुई है; क्योंकि पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् भी काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषियों ने इस परम्परा को अग्रसरित किया है। संस्कृत के विद्वानों ने पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् के समय को संस्कृत साहित्य का आधुनिक काल माना है। इस आधुनिक काल में भी संस्कृत साहित्य का अधिक विस्तार हुआ है। प्रायः संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं (काव्य-महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि तथा नाट्य-रूपक, एकांकी, भाण, प्रहसन आदि) में काव्यों की रचना हुई है। संस्कृत साहित्य के आधुनिक विद्वानों द्वारा 20वीं शताब्दी के काल को संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग माना गया है। क्योंकि इस युग में प्राचीन साहित्य की अपेक्षा आधुनिक संस्कृत साहित्य पूर्णतः पल्लवित-पुष्पित हुआ है। काव्य-नाट्य साहित्य के विकास क्रम में काव्यशास्त्र भी पूर्णतः विकसित हुआ है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत काव्यालङ्कारकारिका, डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यसत्यालोक, प्रो० राजेन्द्र मिश्र कृत अभिराज यशोभूषणम्, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कृत अभिनव-काव्यालङ्कारसूत्रम् तथा प्रो० रहस विहारी द्विवेदी कृत नव्यकाव्यतत्वविमर्श आदि आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में

आधुनिक दृष्टि से काव्यशास्त्रीय तत्वों पर विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने अपने-अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में जो कालक्रमानुसार आज के आधुनिक युगानुरूप अपेक्षित है, उसे संयुक्त किया है तथा परम्परा का विखण्डन न करके उसका भी अनुवर्तन किया है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र की इस परम्परा में विद्वानों ने काव्यशास्त्रीय तत्वों की समीक्षा तथा व्याख्यान में अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय देकर काव्यशास्त्रीय परम्परा को उपकृत किया है। आधुनिक विद्वानों द्वारा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में किया गया यह उत्कृष्ट प्रयास है। इस महनीय कार्य के लिए मैं आधुनिक विद्वानों को भी साधुनाद देती हूँ।

मेरे शोध-निर्देशन में राजमङ्गल यादव ने आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर शोधकार्य किया है। आधुनिक काव्यशास्त्र के लगभग 44-45 ग्रन्थों का पूरे भारत से सङ्कलन कर राजमङ्गल ने 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा को इतिहासबद्ध किया है। सामग्री के सङ्कलन में जितना अथक् परिश्रम राजमङ्गल ने किया उतना ही अथक् परिश्रम कर समस्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का आलोडनकर समीक्षा भी प्रस्तुत की है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में किया गया यह उत्कृष्ट और सराहनीय प्रयास है। सम्पूर्ण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में तथा संस्कृत की संस्थाओं में इस प्रकार का यह अभिनव प्रयास है। इससे काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शोध करने वाले शोधार्थियों तथा अध्यवसायियों को पर्याप्त सहायता मिलेगी। साथ ही यह ग्रन्थ प्राचीन और अर्वाचीन परम्परा को संक्षिप्त रूप से एक साथ कड़ी के रूप में प्रस्तुत करने वाला अद्वितीय ग्रन्थ है। मेरे निर्देशानुसार राजमङ्गल ने ग्रन्थ में यथा साध्य श्रम करने का प्रयास किया है। अतः मैं डॉ० राजमङ्गल यादव के उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ तथा अपेक्षा करती हूँ कि भविष्य में वह इस प्रकार के अन्य कार्यों में भी रुचि लेकर कार्य करेंगे।

शारदा

नई दिल्ली
16/9/10

प्रो० शारदा शर्मा

भूमिका

दूर्वेव प्रतिपर्व रोहतितरां दुग्धे सुधाधेनुवद्
रम्भेव प्रतिपत्रपत्रितगतिः सुस्वादु पम्फुल्यते।
मातेव प्रतिपालयत्यरिजने सिंहीव जागृज्यते
सेयं संस्कृतभारती सुमनसां सम्मानसे सज्जताम्।।

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक साहित्य से लेकर भरतपूर्व तक काव्यशास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रचुर रूप में विवेचन किया गया है, परन्तु वहाँ पर काव्यशास्त्र का शास्त्रीय निरूपण नहीं मिलता। वस्तुतः इसके स्वरूप का दिग्दर्शन हमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से होता है। भरतमुनि से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ पर्यन्त इसकी सशक्त परम्परा चलती रही तथा काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का खण्डनात्मक-मण्डनात्मक व्याख्यान होता रहा है। परन्तु पण्डितराजजगन्नाथ के अनन्तर जिन-जिन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई वे काव्यमीमांसा की परिधि से ओझल रहे, जिसके कारण उनकी ख्याति पर्याप्त रूप से प्रसरित नहीं हो सकी। पण्डितराज के अनन्तर तथा (20 वीं शताब्दी में) वर्तमान समय तक काव्यशास्त्र की अक्षुण्ण धारा प्रवहमान होती हुई हमारे मानसिक चिन्तन को अभिसिक्त कर रही है तथा भविष्य में भी अपने शास्त्रीय विवेचन के द्वारा काव्यशास्त्ररूपी ज्ञानगङ्गा का सम्वर्धन करती रहेगी। काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने आभरत पण्डितराज पर्यन्त की काव्यशास्त्रीय परम्परा (इतिहास) को चार भागों में विभाजित किया है-

(1) **प्रारम्भिक काल-** प्रारम्भ (वैदिक काल) से लेकर भामह तक ।

(2) **रचनात्मक काल-** भामह से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य तक अर्थात् 600 विक्रमी से 800 विक्रमी-तदनुसार सन् 550 ई० से 750 ई० तक।

(3) निर्णयात्मक काल- आनन्दवर्धनाचार्य से लेकर मम्मट तक अर्थात् 800 विक्रमी से 1000 विक्रमी तदनुसार-सन् 751 ई० से 950 ई० तक।

(4) व्याख्या काल- मम्मट से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक अर्थात् 1000 विक्रमी से लेकर 1750 विक्रमी- तदनुसार- सन् 951 ई० से 1700ई० तक ।

इन चारों कालखण्डों में क्रमानुसार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना तथा उन पर व्याख्यान-प्रत्याख्यान होता चला आया है। इसी का परिणाम 20वीं शताब्दी भी है। प्रस्तुत कालविभाजन आचार्यों के स्थिति काल के अनुमान के आधार पर काव्यप्रकाश की भूमिका में उपस्थापित किया गया है। वस्तुतः आचार्य भरतमुनि का समय प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जाता है। इसलिए ज्ञात काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रारम्भ भरतमुनि से ही माना जाना चाहिए। प्रकृत ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय परम्परा को इसी आधार पर दर्शाया गया है। इसका संक्षिप्त परिचय ग्रन्थ के प्रथम अध्याय तथा इसके परिशिष्ट भाग में दिया गया है। इस काल विभाजन के अनन्तर अर्वाचीन काव्यशास्त्री प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने अपनी कृति सप्तधारा के प्रथम खण्ड में अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के रचना-काल का त्रिधा विभाजन किया है-

1.	पुनर्जागरण काल	(Renaissance Period)	1784-1884 ई०
2.	स्थापना काल	(Renovation Period)	1885-1947 ई०
3.	समृद्धि काल	(Golden Period)	1948-2007 ई०

इन त्रिविध कालखण्डों में संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं में विपुल साहित्य का सर्जन हुआ है तथा वर्तमान समय तक हो भी रहा है। परन्तु इन त्रिविध कालखण्डों में समृद्धिकाल (Golden Period) की परम्परा वर्तमान समय (अर्थात् सन् 1948 से 2007-08 ई०) तक वास्तव में बहुत समृद्धशील रही है। इस समय में संस्कृत-साहित्य के समस्त प्रभागों (अर्थात् विविध विधाओं) में प्रभूत साहित्य रचा गया है, जिसमें काव्यशास्त्रीय परम्परा भी पल्लवित-पुष्पित होती हुई समृद्धशीलता को प्राप्त हुई है।

इस समृद्धिकाल में जिस प्रकार महाकाव्य- (गीत, इतिहास, पुराण, लोककथा आदि) खण्डकाव्य-(स्तोत्रकाव्य, लहरीकाव्य, सन्देशकाव्य, अपदेशकाव्य, नीतिकाव्य, गीतिकाव्य, रागकाव्य आदि) मुक्तच्छन्दकाव्य, गजलगीतिकाव्य, समस्याकाव्य, अन्योक्तिकाव्य, हास्यव्यङ्ग्यकाव्य, अनुकृतिकाव्य, नभोनाट्य (रेडियो रूपक) काव्य, लघुबिम्बकाव्य, लिपिरूपककाव्य, लघुवर्णकाव्य, शतककाव्य, प्रतीकविधानकाव्य, प्रगतिशीलकाव्य प्रभृति पद्यबद्ध और निबन्ध, कथा, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा, रेखाचित्र, जीवनचरित, यात्रावृत्त प्रभृति गद्यबद्ध तथा चम्पूकाव्य (गद्य-पद्य उभय विधा में निबद्ध काव्य) तथा साथ ही साथ संस्कृत साहित्य में वैदेशिक विधा-यथा-विल्वपत्रकाव्य (हाईकू) , तान्काकाव्य (जापानी काव्य विधा), सीज़ोकाव्य- (दक्षिण कोरियार्य। काव्यविधा) आदि में काव्यरचना एवं नाटक आदि की प्रचुर रचना हुई तथा इन समस्त नूतन एवं प्राक्तन काव्य विधाओं में सृजित काव्यों के लक्षणों को भी आचार्यों ने उपनिबद्ध किया, उसी प्रकार काव्यशास्त्र के पण्डित-प्रवर आचार्यों ने अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना कर काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नूतन दृष्टि से विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। इस समय (20-21वीं शताब्दी) में प्रणीत काव्यशास्त्रीय कृतियाँ तथा कृतिकार अधोलिखित हैं :-

क्र०	कृति	शास्त्रकार	स्थान
1.	साहित्योद्देश	पं० सीताराम शास्त्री	अलवर- राजस्थान
2.	व्यञ्जनावाद	पं० यदुनाथ मिश्र	मधुबनी- बिहार
3.	साहित्यमञ्जरी	पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर	इन्दौर- मध्य प्रदेश
4.	भक्तिरसार्णव	स्वामी करपात्री जी	प्रतापगढ़ - उत्तर प्रदेश
5.	रसचन्द्रिका	पं० लेखनाथ झा	मधुबनी- बिहार
6.	लोकमान्यालङ्कार	श्री गजानन शास्त्री करमलकर	उज्जैन- मध्य प्रदेश
7.	साहित्यविमर्श	श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा	तिरुपति- आन्ध्र प्रदेश
8.	साहित्यसार	श्री सर्वेश्वर कवि	तिरुपति- आन्ध्र प्रदेश
9.	साहित्यबिन्दु	आचार्य छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर	कुरुक्षेत्र- हरियाणा
10.	अभिनवकाव्यप्रकाश	पं० गिरिधर लाल व्यास शास्त्री	उदयपुर- राजस्थान
11.	काव्यालङ्कारकारिका	प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी	वाराणसी- उत्तर प्रदेश
12.	ध्वनिकल्लोलिनी	आचार्य आनन्द झा	दरभङ्गा- बिहार
13.	काव्यसत्यालोक	डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा	जयपुर-राजस्थान

14.	व्यञ्जनावृत्तिविचार	पं० रामावतार मिश्र	गया- बिहार
15.	साहित्यसन्दर्भ	प्रो० शिवजी उपाध्याय	वाराणसी- उत्तर प्रदेश
16.	सौन्दर्यकारिका	प्रो० जगन्नाथ पाठक	रोहतास- बिहार
17.	मैथिलीकाव्यविवेक	कविशेखर पं० बदरी नाथ झा	मधुबनी- बिहार
18.	सौन्दर्यदर्शनविमर्श	प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय	इलाहाबाद-उत्तर प्रदेश
19.	काव्यतत्त्वविवेक	डॉ० रमाशङ्कर तिवारी	बलिया- उत्तर प्रदेश
20.	काव्यात्मनिर्णय	डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित	सीतापुर- उत्तर प्रदेश
21.	अभिनवकाव्यशास्त्रम्	डॉ० शङ्करदेव अवतरे	बुलन्दशहर-उत्तर प्रदेश
22.	काव्यसिद्धान्तकारिका	प्रो० अमरनाथ पाण्डेय	इलाहाबाद-उत्तर प्रदेश
23.	रसवसुमूर्ति	प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी	भदोही- उत्तर प्रदेश
24.	चमत्कारविचारचर्चा	प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार	गाजियाबाद-उत्तर प्रदेश
25.	अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्	प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी	राजगढ़- मध्य प्रदेश
26.	अभिराजयशोभूषणम्	प्रो० राजेन्द्र मिश्र	जौनपुर- उत्तर प्रदेश
27.	लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण	पं० नित्यानन्द शास्त्री	जोधपुर- राजस्थान
28.	नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा	प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी	इलाहाबाद-उत्तर प्रदेश
29.	अलङ्कारविद्योतनम्	म० म० कृष्णमाधव झा	मधुबनी- बिहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का परिचय एवं कृतियों में विवेचित प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार-विमर्श किया गया है। इसके अतिरिक्त इस शताब्दी के 12 प्रमुख टीका ग्रन्थों तथा 6 समीक्षा ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया गया है। इन ग्रन्थों तथा उनके लेखकों का भी परिचय दिया गया है। विषय सामग्री के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम अध्याय का नाम ''काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र'' है। इसमें प्रारम्भ (भरत-भामह आदि) से लेकर वर्तमान समय (प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी एवं प्रो० राजेन्द्र मिश्र) तक की काव्यशास्त्रीय परम्परा और विकास को संक्षिप्त रूप से दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, उसमें विवेचित विषय-सामग्री तथा ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए ग्रन्थों के वैशिष्ट्य को उपस्थापित किया गया है। इसी अध्याय के अंत में 12 टीका ग्रन्थों तथा 6 समीक्षा ग्रन्थों एवं उनके लेखकों का भी परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय "काव्यप्रयोजन और कारण विमर्श" है। इसके अन्तर्गत

प्राचीन एवं अर्वाचीन परम्परा के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन एवं कारण पर विचार-विमर्श किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम "काव्यस्वरूप, काव्यभेद, एवं शब्दार्थशक्ति" विवेचन है। इस अध्याय के अन्तर्गत प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण, काव्यभेद और शब्दार्थशक्ति के सम्बन्ध में उनके मतों को लक्षणोदाहरणपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। "काव्यात्मविमर्श" नामक चतुर्थ अध्याय में रसात्मत्व, अलङ्कारात्मत्व, रीत्यात्मत्व, वक्रोक्त्यात्मत्व, ध्वन्यात्मत्व, औचित्यात्मत्व तथा चमत्कार के काव्यात्मत्व पर प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों के मतों का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। पञ्चम अध्याय "कविव्यापार एवं सहृदय निरूपण" है। इसमें कविव्यापार एवं सहृदय के सन्दर्भ में प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों की अवधारणाओं को निरूपित किया गया है। षष्ठ अध्याय में रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलङ्कार तथा दोष का निरूपण है। इस अध्याय में इन समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के सन्दर्भ में प्राचीन एवं अर्वाचीन आलङ्कारिकों के मतों को तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थापित किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्तिम सप्तम अध्याय अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का मूल्याङ्कन है। इस अध्याय के अन्तर्गत अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के जो आचार्य प्राचीन परम्परा के जिस आचार्य से प्रभावित हैं, उसका स्पष्टीकरण करते हुए अद्यतन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मौलिक तथ्यों को उपस्थापित किया गया है। अन्ततः सम्पूर्ण ग्रन्थ में विवेचित विषयों का उपसंहार किया गया है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के निमित्त प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भाग में प्रारम्भ (100-400 ई०) से लेकर वर्तमान समय (2007-08 ई०) तक की काव्यशास्त्रीय परम्परा को पाँच भागों में विभक्त कर आचार्यों के समय सहित अङ्कित किया गया है। यद्यपि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का काल सन् 1784 ई० अर्थात पण्डितराजजगन्नाथ के पश्चात् से माना जाता है; तथापि प्रकृत ग्रन्थ का मूल उद्देश्य 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय कृतियों की मीमांसा एवं परिचय प्रस्तुत करना है। इसलिए इस ग्रन्थ के प्रथम अध्यान में काव्यशास्त्र की परम्परा का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते समय पण्डितराजजगन्नाथोत्तर कालीन काव्यशास्त्रीयों का परिचय अर्वाचीन युग के अन्तर्गत ही किया गया है। परन्तु

ग्रन्थ के अवशिष्ट अध्यायों में अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रस्तुतीकरण में ग्रन्थ के मूल उद्देश्य के अनुसार ही 20वीं तथा 21वीं शताब्दी के प्रारम्भिक समय तक में प्रकाश में आये ग्रन्थों की मीमांसा एवं परम्परा को ही प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा काव्यतत्त्वों के संदर्भ में प्रतिपादित मौलिक अवधारणाओं को विवेचित किया गया है। संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं में विरचित ग्रन्थों की ही भाँति काव्यशास्त्र के प्रति अनुराग रखने वाले आचार्यों ने भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचे हैं। इनमें इन आचार्यों ने किञ्चित मौलिक उद्भावनाओं के साथ आवश्यक संयोजन एवं परिमार्जन भी किया है। अतः इन्हीं समग्र विषयों का विवेचन प्रकृत ग्रन्थ में किया गया है। आर्वाचीन संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्यों की काव्यतत्त्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार-धाराओं को एक साथ प्रस्तुत करने वाला यह प्रामाणिक ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पूर्णता में जिन-जिन विद्वानों का अपरिमित सहयोग सुलभ हुआ है, उन सभी विद्वान् आचार्यों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रो० शारदा शर्मा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण सुझाव मुझे सदैव प्रदान किये। आदरणीय गुरुवर्या सहृदयमना प्रो० दीप्ति त्रिपाठी, आचार्या एवं पूर्व विभागाध्यक्षा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली तथा वर्तमान निदेशिका, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, इन्दिरा गाँधी, राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली, का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत विषय पर कार्य करने की अभिप्रेरणा प्रदान की तथा सन्मार्ग दर्शन किया। प्रो० मदन मोहन अग्रवाल पूर्वविभागाध्यक्ष (संस्कृत) एवं कलासङ्कायाध्यक्ष, प्रो० शशिप्रभा कुमार, विभागाध्यक्ष प्रो० मिथिलेश चतुर्वेदी, प्रो० शकुन्तला पुञ्जानी, प्रो० रमेश चन्द्र भारद्वाज, डॉ० ओमनाथ, डॉ० मीरा द्विवेदी तथा समस्त विभागीय प्राध्यापकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनका मार्गदर्शन एवं सहयोग सदैव मेरे उत्साहवर्धन का कारण रहा है। प्रो० शिवजी उपाध्याय, पूर्व प्रति कुलपति-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रो० राजेन्द्र मिश्र,

पूर्वकुलपति–सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, कुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली तथा प्रो० हरिदत्त शर्मा, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रो० रमेश कुमार पाण्डेय, अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली, डॉ० हरिराम मिश्र, सहायक आचार्य, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली तथा डॉ० ज्ञानधर पाठक, शोध सहायक, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली आदि विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने आधुनिक काव्यशास्त्रीय कृतियों की सूचना प्रदान करने के साथ–साथ मार्गदर्शन भी किया।

सर्वदा वात्सल्य भाव तथा असीम स्नेह से मेरा हृदय–सेचन कर पठन–पाठन के प्रति मेरी प्रवृत्ति का सम्बर्धन करने वाले पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय पिता श्री शिवमूरत यादव एवं माता श्रीमती विमला देवी के प्रति शाब्दिक कृतज्ञता से आत्मसन्तोष नहीं होता। अतः परमात्मा से मैं प्रार्थना करता हूँ कि उनके प्रति मेरा स्नेह सदैव बना रहे। अभिभावक के रूप में मेरे प्रति स्नेहभाव रखने वाले तथा मुझे कार्यों के प्रति सदैव उत्साहित करने वाले पितृतुल्य श्री ओमदत्त त्यागी तथा मातृतुल्य श्रीमती परीक्षा देवी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। अग्रज डॉ० सुनील कुमार उपाध्याय, मेरे सभी मित्र, परिवारिक सदस्य तथा समस्त विद्वान्, जिनका नामोल्लेख मैं विस्तार भय से नहीं कर सका हूँ, सबके प्रति मैं हृदय से आभार अभिव्यक्त करता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक को आकर्षक स्वरूप के साथ प्रकाशित कर विद्वान् लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने वाले मनस्वी सहृदय डॉ० राधेश्याम शुक्ल (प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली) का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पुस्तक का समग्रावलोकन कर अविलम्ब प्रकाशित किया।

विदुषामाश्रवः
राजमङ्गल यादवः

संकेत सूची

सं० का० शा० का आलो० इति०	–	संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास
सं० का० शा० का इति०	–	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
अलं० शा० का इति०	–	अलङ्कारशास्त्र का इतिहास
पृ० सं०	–	पृष्ठ सङ्ख्या
का० प्र०	–	काव्यप्रकाश
ना० शा०	–	नाट्यशास्त्र
अ० पु०	–	अग्निपुराण
प्र० सं०	–	प्रथम संस्करण
द्वि० सं०	–	द्वितीय संस्करण
तृ० सं०	–	तृतीय संस्करण

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्रीय परम्परा और विकास

संस्कृत-साहित्य में हृदयावर्जक काव्यरचना की समीक्षा तथा उसके लक्षण को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ को काव्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र अथवा आलोचनाशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। वस्तुतः काव्यशास्त्र में उन समस्त विषयों का विवेचन किया जाता है; जिनका काव्यरचना में भावात्मक या अभावात्मक योगदान होता है। ये विषय हैं- रस, अलङ्कार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, गुण और दोष आदि। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण तथा विकास की मूलभित्ति काव्य ही है। इस प्रकार काव्यशास्त्र की महत्ता इस बात में सन्निहित है कि वह काव्यरचना से प्रेरित होकर उसके उपस्कारक का कार्य करता है।

काव्यों का विपुल स्रोत हमें वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेदीय सूक्तों-यथा-संवाद-सूक्त, दान-सूक्त, अक्षसूक्त तथा मण्डूक-सूक्त आदि में काव्य की अभिव्यक्ति प्रचुर रूप में दर्शनीय है। ऋग्वेद में कवि और काव्य दोनों के वर्णन प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के एक स्थल पर अग्नि को समस्त काव्यों का ज्ञाता कहा गया है- **आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् तथा अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।**[1] ऋग्वेद के ही अष्टम मण्डल में कहा गया है- **स कविः काव्या पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यति।**[2] अर्थात् कवि वरुण काव्यों का लालन-पालन उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार द्यौ प्रत्येक वस्तु के पृथक् रूपों का पालन करता है। इसी प्रकार अथर्ववेद के अप्सरा-सूक्त

1. ऋग्वेद-तृतीय मण्डल-सूक्त-1-मन्त्र-17-18
2. ऋग्वेद-अष्टम मण्डल-सूक्त-41-मन्त्र-5

तथा राष्ट्र-सूक्त भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। अथर्ववेद में वेदों को परमात्मा का ऐसा काव्य बतलाया गया है- जो न मृत्यु को प्राप्त होता है और न जीर्ण होता है- **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।**[1] अतः काव्यतत्त्वों की समीक्षा का आयाम भी हमें वेदों से ही प्राप्त होता है।

काव्यरचना में विद्यमान सौन्दर्यावर्जक तत्त्वों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों को काव्यशास्त्र कहा गया है। आचार्य भरतमुनि (प्रथम से तृतीय शताब्दी) से लेकर वर्तमान समय तक काव्यशास्त्रीय परम्परा अविच्छिन्न रूप से युगानुरूप काव्याङ्गों का विवेचन करती हुई प्रवहमान है। प्रायः अपवादस्वरूप सुना जाता है कि काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं। परन्तु यह एक मिथ्याभ्रान्ति सिद्ध हुई है। क्योंकि इनके अनन्तर अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है। इसी क्रम में 20वीं तथा 21वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में अनेक काव्यशास्त्रीय रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, जिनमें वर्तमान परिप्रेक्ष्यों के आधार को ग्रहण कर काव्याङ्गों का विवेचन किया गया है। जानकारी के निमित्त प्रारम्भ से वर्तमान तक की काव्यशास्त्रीय परम्परा में विरचित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। प्रस्तुत अध्याय में यद्यपि अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रस्तुती करण पण्डित राजजगन्नाथ के समय के अनन्तर के काव्यशास्त्रकारों से किया गया है। क्योंकि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का समय सन् 1784 ई० में एशियाहिक सोसायटी की स्थापना से विद्वानों ने माना है। परन्तु प्रकृत ग्रन्थ का मूल उद्देश्य 20वीं शताब्दी तथ 21वीं शताब्दी के आरम्भ तक में प्रकाश में आये काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का व्याख्यापित करना है। अतः ग्रन्थ के अवशिष्ट अध्यायों में केवल 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक प्रकाश में आये काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की मीमांसा एवं प्रस्तुती करण किया गया है।

क. प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा

100-500 ई०

1. अग्निपुराण

पुरातन साहित्य में पुराण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनमें विविध विधाओं का विवेचन करने वाला अग्निपुराण भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें व्याकरण, औषधिविज्ञान, कोष, काव्यशास्त्र तथा ज्योतिष विद्या से सम्बन्धित

---

1. अथर्ववेद-काण्ड-10-सूक्त-8-मन्त्र-32

पुष्कल सामग्री उपलब्ध है। प्रस्तुत पुराण का रचयिता कौन था? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है कि प्रकृत पुराण को सूतमुनि ने शौनक आदि ऋषियों को सुनाया था तथा उन्होंने इस विद्या को महर्षि व्यास से प्राप्त किया था। व्यास ने यह विद्या महर्षि वशिष्ठ से प्राप्त की तथा वशिष्ठ को इसका उपदेश अग्नि ने दिया था।[1] अतः इसके प्रवर्तक अग्नि माने जाते हैं। इस पुराण के 337 से लेकर 347 तक के अध्यायों में काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। इन 11 अध्यायों में 362 श्लोक हैं। अग्निपुराण के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में आज तक मतैक्य नहीं है। अतः काव्यशास्त्रीय परम्परा में इसे नाट्यशास्त्र से पूर्व व्यवस्थित किया गया है।[2]

2. नाट्यशास्त्र : भरतमुनि

आचार्य भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र के मूल विषय रससिद्धान्त का विवेचन इसमें ही प्राप्त होता है। यद्यपि इस ग्रन्थ का उद्देश्य नाट्यरचना के तत्त्वों और उसके अभिनय के अङ्गों का व्याख्यान करना है, तथापि इसमें काव्य के समस्त अङ्गों का भी सर्वाङ्गीण एवं सूक्ष्म विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में नाटक की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह की रचना, अभिनय, वेष-भूषा, सङ्गीत, नृत्य, भाषा और छन्द आदि नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के साथ-साथ रस, गुण, रीति, तथा अलङ्कारादि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में 36 अध्याय तथा 5000 से अधिक श्लोक हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसमें 36 अध्याय तथा 6000 श्लोकों की पुष्टि की है।[3] काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने विभिन्न तर्कों के आधार पर भरतमुनि का समय प्रथम से तृतीय शताब्दी के मध्य स्थापित किया है।

---

1. अग्निनोक्तं पुराणं यदाग्नेयं वेदसम्मितम्।
   भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं पठतां शृण्वतां नृणाम्।।
   अ० पु० अ०-1-श्लोक-सं०-10
2. (i) सं० का० शा० का इति०-पी० वी० काणे- पृ०-4
   (ii) अलं० शा० का इति०-डॉ० कृष्णकुमार-पृ०-46
   (iii) सं० का० शा० का आलो० इति०-प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी-पृ०-3-8
3. षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् मध्ये षट्त्रिंशाध्यायम्।
   अभिनवभारती-प्रथम अध्याय-कारिका-2

3. विष्णुधर्मोत्तरपुराण

प्रस्तुत पुराण में भी काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। अग्निपुराण के ही सदृश इसमें भी काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के विषयों की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। यह सामग्री इस पुराण के तृतीय खण्ड के प्रथम 35 अध्यायों में सङ्कलित है। इसके 18, 19, 32 और 33 अध्याय गद्य में हैं और शेष अध्यायों में श्लोकों की सङ्ख्या 1000 के लगभग है। प्रकृत पुराण में प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुकरण किया गया है। अलङ्कारशास्त्र के विषय ज्ञान के लिए यह पुराण उत्तम सामग्रियों से युक्त है। इसका समय चतुर्थ शताब्दी माना गया है।[1]

4. मेधाविन : ग्रन्थ अनुपलब्ध

प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मेधाविन का उल्लेख अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में किया गया है। भामह, नमिसाधु और राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया है। यद्यपि आचार्य मेधाविन विरचित किसी ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है, तथापि काव्यशास्त्रीय समालोचकों के उल्लेखों से यह विदित होता है कि इन्होंने अलङ्कारशास्त्र विषयक किसी ग्रन्थ की रचना की होगी। इनका समय भी काणे तथा कृष्णकुमार के ग्रन्थ में चतुर्थ शताब्दी निश्चित किया गया है।

501–1000 ई०

5. भट्टिकाव्य : आचार्य भट्टि

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आचार्य भट्टि की भी गणना की जाती है। इनकी रचना भट्टिकाव्य (रावणवध) है, जिसमें 22 सर्ग तथा चार खण्ड हैं– (i) प्रकीर्णकाण्ड–(1–5 सर्ग) (ii) अधिकारकाण्ड–(6–9 सर्ग),

---

1. (i) सं० का० शा० का इति०, काणे–81–91
   (ii) अलं० शा० का इति०–कृष्णकुमार–51–54

(iii) प्रसन्नकाण्ड (10–13 सर्ग), (iv) तिडन्तकाण्ड–(14–22 सर्ग)। इस ग्रन्थ के (चतुर्थ खण्ड) प्रसन्नकाण्ड में काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। इनका समय षष्ठ शताब्दी माना गया है।

6. धर्मकीर्ति : ग्रन्थ अनुपलब्ध

यद्यपि इनका अलङ्कारशास्त्र पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि कुछ काव्यशास्त्रीय समालोचकों ने इन्हें काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लिखित किया है। 'बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कारभूषिताम्' सुबन्धु कृत वासवदत्ता की इस पङ्क्ति के आधार पर पीटर्सन तथा आफ्रेक्ट आदि समालोचकों का अनुमान है कि इन्होंने काव्यशास्त्र पर किसी ग्रन्थ की रचना की होगी। ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने इनके प्रस्तुत श्लोक को उद्धृत किया है–

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महानर्जितः
स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ता ज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणभावाद्वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।।[1]

इनका समय 620 ई० माना गया है।

7. काव्यालङ्कार : भामह

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के प्रणेताओं में भरतमुनि के अनन्तर आचार्य भामह को माना गया है। भरत को नाट्यशास्त्र तथा भामह को काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। प्रायः काव्यशास्त्र के समस्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने भामह कृत काव्यालङ्कार के प्रमाणों को अपनी कृतियों में उद्धृत किया है। आचार्य भामह ने काव्यशास्त्र की समस्त सामग्री को नाट्यशास्त्र से पृथक् कर स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कार की रचना की। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद हैं, जिसमें उन्होंने 60 कारिकाओं में काव्यशरीर का, 160 कारिकाओं में अलङ्कारों का, 50 में दोषों का, 70 में न्याय का तथा

---

1. ध्वन्यालोक–तृतीय उद्योत–पृ०–304, तृ० सं०–1998 ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

60 कारिकाओं में शब्दशुद्धि का विवेचन किया है। इसका विवरण अधोलिखित पद्यों में द्रष्टव्य है–

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्यात्वलंकृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येव वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः।।[1]

आचार्य भामह का कालिदास, भास, न्यासकार– (बौद्ध विद्वान् जिनेन्द्र बुद्धि), भट्टि, दण्डी, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति के साथ पौर्वापर्य स्थापित किया गया है। परन्तु फिर भी काव्यशास्त्रीय परम्परा में इन्हें सर्वप्रथम आचार्य के रूप में माना गया है। इनका समय 500–620 ई० के मध्य निश्चित किया गया है।

8. काव्यादर्श : दण्डी

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में दण्डी भी महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पदलालित्य के लिए प्रसिद्ध आचार्य दण्डी विरचति काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं। इन तीनों परिच्छेदों में आचार्य ने काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का सर्वाङ्गीण तथा विशद् विवेचन किया है। इनका समय 675–725 ई० के मध्य निश्चित किया गया है।

9. अलङ्कारसारसंग्रह : उद्भट

अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में उद्भटाचार्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये वामन के समकालीन हैं। इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की– (1) अलङ्कारसार-संग्रह (2) भामहविवरण और (3) कुमारसम्भव। अलङ्कारसारसंग्रह काव्यशास्त्र पर लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जो 6 वर्गों में विभक्त है। इस ग्रन्थ की 79 कारिकाओं में 41 अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। इनका समय 750–850 ई० के मध्य सुनिश्चित किया गया है।

---

1. काव्यालङ्कार– अन्तिम परिच्छेद– कारिका–65–66

10. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति : वामन

आचार्य वामन विरचित प्रकृत ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय रचना है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर काव्यसमालोचना के क्षेत्र में इस मौलिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की तथा एक नवीन मार्ग का प्रतिपादन किया, जो काव्यशास्त्र में रीतिसम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध है। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति बहुत व्यापक ग्रन्थ है, जिसमें तीन भाग हैं- (1) सूत्र (2) वृत्ति और (3) उदाहरण। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है तथा प्रत्येक अधिकरण का विभाजन अध्यायों में किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 12 अध्याय, 319 सूत्र तथा 250 श्लोक उदाहरण के रूप में दिये गये हैं। इनका समय भी 750-850 ई० के बीच निश्चित किया गया है।

11. काव्यालङ्कार : रुद्रट

आचार्य रुद्रट का भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी केवल एक ही रचना 'काव्यालङ्कार' उपलब्ध होती है। काव्यालोचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शब्दशक्ति और गुणों के विवेचन के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है। 16 अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में कुल 734 पद्य हैं, जो आर्या छन्द में रचित हैं।[1] इनका समय भी 750-850 ई० के मध्य सुनिश्चित किया गया है।

12. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन विरचित ध्वन्यालोक संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में युगान्तकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना तथा स्थापना के द्वारा आचार्य ने काव्यशास्त्र-जगत् में महान् ख्याति अर्जित की। प्रकृत ग्रन्थ में चार उद्योत हैं। काव्यमाला सीरीज के प्रथम संस्करण के अनुसार इसमें 126

---

1. अतिलोकमलङ्कारमाविभ्रदमृतस्रुतम्।
आर्यानुरागी सर्वज्ञः सत्य रुद्रः सरुद्रटः।।
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- पी०वी० काणे- पृ०-190

तथा चौखम्भा संस्कृत सीरीज के संस्करण के अनुसार 116 कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं में ध्वनि के स्वरूप, लक्षण तथा भेदोपभेद का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इनका समय 860-890 ई० के मध्य निश्चित किया गया है।

13. अभिधावृत्तिमातृका : मुकुलभट्ट

प्रकृत ग्रन्थ 15 कारिकाओं की लघुकृति है, जिस पर वृत्ति भी आचार्य मुकुलभट्ट कृत दी गयी है। इस ग्रन्थ में अभिधा तथा लक्षणा इन दो शब्दशक्तियों का तथा मुख्य और लाक्षणिक दो प्रकार के अर्थों का विवेचन किया गया है। लक्षणा शब्दशक्ति का भेदोपभेद सहित सोदाहरण इसमें विस्तृत विवेचन है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में लक्षणा का विवेचन इसी ग्रन्थ के आधार पर किया है। इनका समय 883-925 ई० माना गया है।

14. काव्यमीमांसा : राजशेखर

आचार्य राजशेखर कृत काव्यमीमांसा काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों यथा- रस, गुण एवं अलङ्कारों का विवेचन नहीं किया गया है, तथापि कवियों के लिए व्यवहारोपयोगी तथा मार्गदर्शक विषय सामग्री का इसमें विस्तृत विवेचन है। इसमें 18 अध्याय हैं। आचार्य ने इस कृति के तृतीय अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति के व्याख्यान में काव्याङ्गों को काव्यपुरुष के रूप में विवेचित किया है।[1] इनका समय 900-980 ई० सुनिश्चित किया गया है।

15. हृदयदर्पण : भट्टनायक

काव्यशास्त्र के आचार्यों में भट्टनायक का नाम भी प्रसिद्ध है। भरतमुनि के रस सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के चार

1. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं वाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। (काव्यमीमांसा-तृतीय अध्याय) द्रष्टव्य-अलङ्कारशास्त्र का इतिहास- डॉ० कृष्णकुमार-पृ०-116 तथा संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-काणे-पृ०-261

व्याख्याताओं यथा (1) भट्टलोल्लट (2) शङ्कुक (3) भट्टनायक तथा (4) अभिनवगुप्त में भट्टनायक भी प्रमुख हैं। अभिनवगुप्त तथा मम्मटादि लब्धप्रतिष्ठ काव्य-समालोचकों ने इनके मतों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इन उद्धरणों के आधार पर यह विदित होता है कि इन्होंने हृदयदर्पण या सहृदयदर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु वह आज तक उपलब्ध नहीं है। इनका समय 935-985 ई० निश्चित किया गया है।

16. काव्यकौतुक : भट्टतौत

भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु थे। इन्होंने अभिनव को नाट्यवेद की शिक्षा दी जिसका उल्लेख इन्होंने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका अभिनवभारती की प्रस्तावना के चौथे पद्य में किया है।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी और अभिनवगुप्त ने उस पर विवरण नामक टीका लिखी थी।[2] परन्तु प्रकृत ग्रन्थ और अभिनव की टीका दोनों ही अनुपलब्ध हैं। अतः इनके काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्यक् ज्ञान का अभाव है। काव्यकौतुक के अनेक उद्धरण उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इनका समय 950-980 ई० माना गया है।

17. वक्रोक्तिकाव्यजीवितम् : कुन्तक

आचार्य कुन्तक भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रसिद्धि प्राप्त आचार्य हैं। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध षट्सम्प्रदायों में कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी अतिप्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। इस ग्रन्थ में अधिकांश उदाहरण पूर्ववर्ती ग्रन्थों से अधिगृहीत हैं। प्रकृत ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय विषयों के साथ वक्रोक्ति का

---

1. सद्विप्रतोतवदानोदितनाट्यवेदतत्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धि हेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति।।
अभिनवभारती- प्रस्तावना भाग- चतुर्थ श्लोक, द्रष्टव्य-अलङ्कारशास्त्र का इतिहास-डॉ० कृष्ण कुमार- पृ० 109 तथा संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-काणे-पृ० 273
2. ध्वन्यालोक लोचन-पृ०-221, द्रष्टव्य-अलङ्कारशास्त्र का इतिहास-डॉ० कृष्णकुमार-पृ०-109 तथा संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-काणे-पृ०-273

लक्षण तथा भेदोपभेद सहित सोदाहरण विवेचन किया गया है। इनका समय 950-1000 ई० सुनिश्चित किया गया है।

18. शृङ्गारतिलक : रुद्रभट्ट

प्रकृत आचार्य भी काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रसिद्धि प्राप्त हैं। यद्यपि काव्यालङ्कार के रचयिता रुद्रट और शृङ्गारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट में काव्यशास्त्रीय समालोचकों ने मतभेद व्यक्त किया था; परन्तु दोनों की कृतियों में विवेचित काव्यतत्त्वों में कहीं-कहीं भिन्नता प्राप्त होने से इस सन्देह का निराकरण हो चुका है। रुद्रट और रुद्रभट्ट दोनों की रचनाओं में बहुत कुछ साम्य देखने को मिलता है। शृङ्गारतिलक तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें मुख्यरूप से शृङ्गार रस का विवेचन किया गया है। प्रथम परिच्छेद में 9 रस, भाव तथा नायक-नायिका, द्वितीय में विप्रलम्भ-शृङ्गार तथा तृतीय परिच्छेद में अन्य रसों तथा रसोपयोगी कैशिकी आदि वृत्तियों का विवेचन है। इनका समय 950-1100 ई० माना गया है।

19. सहृदयालोकलोचन और अभिनवभारती : अभिनवगुप्त

भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या करने वाले चार आचार्यों यथा- (1) भट्टलोल्लट (2) श्रीशङ्कुक (3) भट्टनायक और (4) अभिनवगुप्त में आचार्य अभिनव सर्वमान्य आचार्य हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनकी दो कृतियाँ काव्यालोकलोचन (ध्वन्यालोकलोचन) और अभिनवभारती बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से ध्वन्यालोकलोचन आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर लिखी गई प्रौढ़ टीका तथा अभिनवभारती भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध टीका है। अभिनवभारती वस्तुतः एक टीका ही नहीं अपितु नाट्यशास्त्र पर लिखित मौलिक ग्रन्थ है। इनका समय 990-1015 ई० माना गया है।

20. दशरूपक : धनञ्जय

काव्यशास्त्रीय परम्परा में नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन के क्रम में भरतमुनि के अनन्तर धनञ्जय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र

के बाद इस विषय पर धनञ्जय विरचित दशरूपक ही सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन का विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें अनेक विषयों का समावेश हुआ है। इस कृति में प्रवेश पाना विशिष्टि विद्वानों के लिए भी क्लिष्टतर था। अतः धनञ्जय ने उसका संक्षेप करके नाट्यशास्त्र के प्रति रुचिवान् लोगों को उपकृत किया। जैसा कि दशरूपक के प्रथम प्रकाश में कहा भी गया है-

> उद्धृत्योद्धृत्यसारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
> श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
> शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्मकः कर्तुमीष्टे
> नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।।[1]

धनञ्जय की केवल एक ही कृति दशरूपक उपलब्ध है, जिसमें चार प्रकाश तथा 302 कारिकाएँ है। इन कारिकाओं पर धनिक ने गद्य में (अवलोक) टीका लिखी तथा उदाहरणों का संग्रह किया। इस ग्रन्थ पर लिखित अन्य चार प्राचीन टीकाओं का भी उल्लेख आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ भारतीय-साहित्यशास्त्र में किया है। ये हैं- (1) नृसिंहभट्ट की टीका (2) देवपाणि की टीका (3) कुरविराम की टीका और (4) बहुमिश्र की टीका[2]। इनका समय 1000 ई० माना गया है।

1001-1500 ई०

21. औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध छः सम्प्रदायों में, आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। क्षेमेन्द्र काव्य की विविध विधाओं में साहित्य रचना करने वाले प्रथम आचार्य हैं। विविध विषयों का ज्ञाता होने के साथ-साथ आचार्य क्षेमेन्द्र प्रतिभाशाली कवि भी थे। औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठा-भरण आचार्य की काव्यशास्त्र पर प्रसिद्ध रचनाएँ है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में

1. दशरूपक- प्रथम प्रकाश - कारिका- 4
2. भारतीय साहित्यशास्त्र- बलदेव उपाध्याय- पृ०सं०-83

औचित्यविचारचर्चा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें 19 कारिकाएँ हैं तथा अन्तिम 52 श्लोकों में कवि ने अपना वंश परिचय दिया है। कारिकाओं पर स्वयं वृत्ति लिखकर क्षेमेन्द्र ने उदाहरण अन्य ग्रन्थों से दिये हैं। प्रकृत ग्रन्थ में औचित्य के 27 क्षेत्रों का विवेचन किया है।

कविशिक्षा पर लिखा गया कविकण्ठाभरण इनका दूसरा ग्रन्थ है। इसकी 55 कारिकाओं को पाँच सन्धियों (अध्यायों) में विभाजित किया गया है। इस ग्रन्थ में कविता करने की पाँच सरणियाँ, शिष्यों के तीन वर्ग, कवियों के पाँच वर्ग तथा 10 प्रकार के चमत्कारों का विवेचन किया गया है। इनका समय 1010–1050 ई० सुनिश्चित किया गया है।

22. व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट

आचार्य महिमभट्ट विरचित प्रकृत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया है। इन्होंने ध्वनि को व्यङ्ग्य अर्थ के रूप में काव्य की आत्मा नहीं माना तथा उसका अन्तर्भाव अनुमान में बतलाया–

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य परां वाचम्।।[1]

इस ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में, द्वितीय में अनौचित्य को काव्य का सबसे बड़ा दोष बतलाया गया है एवं तृतीय विमर्श में ध्वनि का खण्डन 40 उदाहरणों द्वारा किया है तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा बतलायी गई है। इनका समय 1020–1050 ई० माना गया है।

23. शृङ्गारप्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य भोज की प्रकृत कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भोज केवल कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता ही नहीं, अपितु स्वयं भी महान् कवि, प्रकाण्ड विद्वान्, प्रखर समालोचक तथा विविध विषयों के ज्ञाता

---

1. व्यक्तिविवेक- प्रथम विमर्श- कारिका- 1

थे। इन्होंने अनेक विषयों पर लगभग 84 ग्रन्थों की रचना की। शृङ्गारप्रकाश काव्यशास्त्र का विस्तृत ग्रन्थ है, जो 36 प्रकाशों (अध्यायों) में विभक्त है। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों विषयों का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय कृति सरस्वतीकण्ठाभरण में विविध काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। इसमें विशेषतः प्राचीन आचार्यों के मतों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। इसके 5 परिच्छेदों में 653 कारिकाएँ तथा 1441 उदाहरण हैं। इनका समय 1005–1050 ई० निर्धारित किया गया है।

24. काव्यप्रकाश : मम्मट

संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय कृतियों की त्रुटियों तथा कमियों का निराकरण कर उन्होंने सर्वाङ्गपूर्ण सारगर्भित प्रकृत ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मात्र के अध्ययन से काव्यशास्त्र जिज्ञासुओं को सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ज्ञान सम्भव है। यह काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ है। 10 उल्लासों में विभक्त इस ग्रन्थ में 142 कारिकाएँ हैं, जिन पर आचार्य ने स्वयं वृत्ति भी लिखी है। विषयों के सम्यक् ज्ञान के लिए मम्मट ने 603 उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों से संग्रहीत कर प्रस्तुत किये हैं; इनके नाम से शब्दव्यापारविचार नामक एक और ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। जिसमें अभिधा और लक्षणा का सविस्तार विवेचन है। इनका समय 1050–1100 ई० माना गया है।

25. नाटकलक्षणरत्नकोश : सागरनन्दी

सागरनन्दी ने भी नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विकास में योगदान दिया है। इन्होंने नाट्यशास्त्र विषयक 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थ की रचना की। इनका केवल यही ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस विशालकाय ग्रन्थ में रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाओं के प्रकार, अर्थप्रकृतियाँ, अर्थोपक्षेपक, अङ्क, सन्धियाँ, पताकास्थानक, वृत्तियों के लक्षण, अलङ्कार, रस, भाव, नायक तथा नायिका भेद, गुण एवं रूपक तथा उपरूपकों के भेदादि नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इनका समय 1060–1150 ई० निर्धारित किया गया है।

26. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में हेमचन्द्र भी ख्यातिलभ्य आचार्य हैं। इनका कथन है कि शब्दानुशासन में उन्होंने वाणी का भली-प्रकार से विवेचन कर दिया था, अब उसके काव्यत्व के अनुशासन के लिए काव्यानुशासन की रचना कर रहे हैं-

शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते।।[1]

कारिका, वृत्ति और उदाहरण संवलित प्रकृत ग्रन्थ में 8 अध्याय हैं। इस ग्रन्थ के कारिका भाग को काव्यानुशासन तथा वृत्ति और उदाहरण को अलङ्कारचूड़ामणि नाम से अभिहित किया गया है। इसमें काव्य के प्रायः सभी अङ्गों का विवेचन तथा पूर्वग्रन्थों से संग्रहीत लगभग 1500 श्लोकों को उदाहरणस्वरूप दिया गया है। इनका समय 1088-1173 ई० सुनिश्चित किया गया है।

27. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा विरचित नाट्यदर्पण दोनों लेखकों का समन्वित प्रयास है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक के अनन्तर इसका प्रमुख स्थान है। इसमें नाट्यशास्त्रीय विषयों का विशद् विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है। लेखक ने स्वयं इस पर विवरण नामक वृत्ति लिखी है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं, जिन्हें विवेक नाम दिया गया है। इनका समय 1093-1143 ई० निश्चित किया गया है।

28. अलङ्कारसर्वस्व : रुय्यक

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिताओं में आचार्य रुय्यक का भी महत्त्वपूर्ण

---

1. (क)काव्यानुशासन- प्रथम अध्याय- कारिका-2
   (ख) अलङ्कारशास्त्र का इतिहास- डॉ० कृष्णकुमार- पृ०-169 तथा सं० का० शा० का आलो० इति० - प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ०-247

स्थान है। प्रकृत ग्रन्थ इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें इन्होंने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार सम्बन्धी अन्वेषणों और मन्तव्यों का समन्वय प्रस्तुत किया है। इनके समय तक 118 अलङ्कारों की उद्भावना हो चुकी थी। इनमें से रुय्यक ने 75 को स्वीकृत किया तथा 7 अलङ्कारों की स्वयं उद्भावना की। इस प्रकार इन्होंने 82 अलङ्कारों का विवेचन किया है, जिनमें 6 शब्दालङ्कार, 75 अर्थालङ्कार तथा 1 मिश्रालङ्कार शामिल है। इनका समय 1150–1200 ई० माना गया है।

29. अलङ्कारविमर्शिनी : जयरथ

जयरथ भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। इन्होंने भी रुय्यक कृत अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी टीका लिखी। विमर्शिनी टीका सहित अलङ्कारसर्वस्व का हिन्दी भाष्य सहित संशोधित एवं सम्पादित ग्रन्थ सन् 1973 ई० में चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित है। इनका समय भी 1150–1250 ई० निश्चित किया गया है।[1]

30. अलङ्काररत्नाकर : शोभाकरमित्र

शोभाकरमित्र कृत प्रकृत ग्रन्थ में अलङ्कारों का वर्णन है। इन्होंने इस ग्रन्थ में रुय्यक कृत अलङ्कारसर्वस्व में वर्णित अलङ्कारों का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्रीय परम्परा के इस आचार्य का उल्लेख डॉ० कृष्णकुमार कृत अलङ्कारशास्त्र का इतिहास तथा पी० वी० काणे कृत संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास में नहीं किया गया है। इनका उल्लेख अर्वाचीन आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास नामक अपने ग्रन्थ के तृतीय भाग महाकाल धाम में किया है। इनका समय 1175–1225 ई० सुनिश्चित किया गया है।[2]

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०– प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी– पृ०–238
2. वही, पृ०–237

31. भावप्रकाशन : शारदातनय

संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परम्परा में जिन-जिन विद्वानों ने ग्रन्थ रचना की उनमें शारदातनय का भी नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रकृत ग्रन्थ में नाट्यशास्त्रीय विषयों का विशुद्ध विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार ने इसकी रचना दशरूपक के अनुकरण पर की है, किन्तु उनका कथन है कि वे अभिनवगुप्त के अनुगामी हैं–

भट्टाभिनवगुप्तार्यपाद प्रोक्तेन वर्त्मना।
अयं प्रबन्धः कथितः शारदायाः प्रसादतः।।[1]

दस अधिकार में विभक्त इस कृति में नाट्य सम्बन्धी उपकरणों, भाव, रस, रूपक लक्षण तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध आदि विषयों का विवेचन है। इनका समय 1175-1250 ई० माना गया है।

32. साहित्यमीमांसा : रचनाकार नाम रहित

साहित्यमीमांसा नामक दो काव्यशास्त्रीय कृतियाँ उपलब्ध हैं; जिनमें प्रथम कृति रुय्यक की कृति के रूप में प्रसिद्ध है, क्योंकि उस ग्रन्थ में विवेचित सामग्री रुय्यक की विचारधारा से अधिक साम्य रखती है तथा रुय्यक ने अपनी कृति अलङ्कारसर्वस्व में इस नाम से रचित ग्रन्थ की सूचना भी दी है। परन्तु प्रकृत ग्रन्थ किस रचनाकार का है, उसका नामोल्लेख तो नहीं है, परन्तु कृति में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की उत्कृष्ट स्तर पर व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ पर आचार्य भोज कृत शृङ्गारप्रकाश तथा शारदातनय के भावप्रकाशन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है; क्योंकि समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का व्याख्यान इन्हीं ग्रन्थों में विवेचित सामग्री के आधार पर किया गया है। इस ग्रन्थ का उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है। प्रकृत ग्रन्थ के प्रत्येक अनुच्छेद को प्रकरण कहा गया है। 8 प्रकरणों से युक्त इस ग्रन्थ में कुल 84, 85

---

1. भावप्रकाशन-दशम अधिकार-कारिका 194 तथा अलङ्कारशास्त्र का इतिहास-डॉ० कृष्णकुमार, पृ०-195

कारिकाएँ हैं। इसका उल्लेख सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ क्रमाङ्क–119 में किया गया है। इसका समय 1175–1250 ई० निर्धारित किया गया है।[1]

33. चन्द्रालोक : जयदेव

जयदेव विरचित चन्द्रालोक काव्यशास्त्र-जगत् में अपनी सरल एवं बोधगम्य शैली के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ 10 मयूखों (अध्यायों) में विभक्त है। अनुष्टुप् छन्द में विरचित इस कृति में 350 श्लोक हैं, जिनमें समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का सरल भाषा में विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का पञ्चम मयूख विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें एक ही श्लोक के अन्दर लक्षण और उदाहरण दोनों बतलाये गये हैं। इनका समय 1200–1300 ई० सुनिश्चित किया गया है।

34. वाग्भटालङ्कार : वाग्भट प्रथम

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में वाग्भट के नाम से दो विद्वानों का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को वाग्भट प्रथम कहा जाता है। इन्होंने अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ वाग्भटलङ्कार की रचना की तथा वाग्भट द्वितीय ने काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की। वाग्भट प्रथम के ग्रन्थ वाग्भटलङ्कार को काव्यालङ्कार भी कहा गया है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें 260 पद्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का सन्क्षेपतः वर्णन किया गया है। इनका समय 1224–1248 ई० सुनिश्चित किया गया है।

35. अलङ्कारचिन्तामणि : अजित सेन

अजितसेन भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ में भी काव्याशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन है। यह कृति पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2] अजितसेन का समय 1250–1260 ई० निर्धारित किया गया है।

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०– प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी – पृ०–349–363
2. सं० का० शा० का आलो० इति०– प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी– पृ० – 238

36. मन्दारमरन्दचम्पू : श्रीकृष्णभट्ट

प्रकृत ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन है। इस ग्रन्थ में 11 अनुच्छेद हैं, जिन्हें बिन्दु कहा गया है। इसका अन्तिम अनुच्छेद शेष अनुच्छेद के नाम से है, जिसमें 11 प्रकरण हैं। श्रीकृष्णभट्ट का भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] इनका समय 1200–1350 ई० के मध्य निर्धारित किया गया है।

37. प्रतापरुद्रयशोभूषण : श्रीविद्यानाथ

श्रीविद्यानाथ भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र विषयक प्रकृत ग्रन्थ की रचना की। इसमें इन्होंने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्रदेव की स्तुति की है–

प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कार प्रबन्धोऽयं सन्तकरणोत्सवोऽस्तु वः।।[2]

यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित रहा है। इसमें 9 प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने रत्नार्पण नामक टीका लिखी है। इनका समय 1280–1325 ई० सुनिश्चित किया गया है।

38. एकावली : विद्याधर

आचार्य विद्याधर भी काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में हैं। प्रकृत ग्रन्थ में इन्होंने समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन 8 उन्मेषों (अध्यायों) के अन्तर्गत किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण लेखक के स्वरचित हैं। एकावली पर आचार्य मल्लिनाथ ने तरला नामक टीका लिखी है। इनका समय 1285–1325 ई० माना गया है।

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०–प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ०–239
2. प्रतापरुद्रयशोभूषण– प्रथम प्रकरण– कारिका 1

39. काव्यानुशासन : वाग्भट द्वितीय

काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य वाग्भट द्वितीय ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों-दण्डी, वामन और वाग्भट का उल्लेख करते हुए लिखा है कि- इन्होंने काव्य में 10 गुण प्रतिपादित किये हैं, परन्तु काव्य में केवल तीन ही गुण होते हैं-

दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीताः दशकाव्यगुणाः परन्तु।
माधुर्यौजः प्रसादलक्षान् त्रीनेव गुणान् मन्यामहे।।[1]

यह ग्रन्थ हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन से भिन्न है। पाँच अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ का सूत्रभाग लेखक द्वारा स्वरचित तथा उदाहरण अन्य ग्रन्थों से भी संग्रहीत हैं। अलङ्कारतिलक नामक वृत्ति लिखकर स्वयं लेखक ने उदाहरण सहित इसकी व्याख्या की है। इनका समय 1300-1350 ई० निश्चित किया गया है।

40. काव्यकल्पलता : अमरचन्द्र

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में अमरचन्द्र का भी नाम उल्लेखनीय है। कविशिक्षा पर रचित इनका ग्रन्थ काव्यकल्पलता विस्तृत कलेवर युक्त है। इसका अपर नाम **कवितारहस्य** भी है। प्रकृत ग्रन्थ चार प्रतानों (खण्डों) में विभक्त है, जिसके प्रत्येक प्रतान में अनेक स्तवक (अध्याय) भी हैं। इसके प्रथम प्रतान में छन्दःसिद्धि, द्वितीय में शब्दसिद्धि, तृतीय में श्लेषसिद्धि तथा अन्तिम चतुर्थ प्रतान में अर्थसिद्धि से सम्बन्धित विषयों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर स्वयं आचार्य ने **काव्यकल्पलतावृत्ति** या **कविशिक्षावृत्ति** और **काव्यकल्पलतापरिमल** नामक टीकाएँ लिखी हैं, जिसका उल्लेख स्वयं आचार्य ने किया है-

---

1. (क) काव्यानुशासन- पृ० - 39
   (ख) अलङ्कारशास्त्र का इतिहास- डॉ० कृष्णकुमार- पृ० 167 से उद्धृत।

किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितात्मकृतेऽत्र सूत्रम्।।[1]

सन् 1909 ई० में शुभविजयगणि ने भी मकरन्द नामक टीका इस ग्रन्थ पर लिखी। इनका समय 1300-1350 ई० माना गया है।

41. कविकल्पलता : देवेश्वर

अमरचन्द्र कृत काव्यकल्पलता के ही आधार पर आचार्य देवेश्वर ने भी कविशिक्षा विषय पर कविकल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की। काव्यकल्पलता के अधिकांश लक्षणों और नियमों को अक्षरशः इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इनका अपर नाम देवेन्द्र भी प्रसिद्ध था। इन दोनों आचार्यों का उल्लेख डॉ० कृष्णकुमार ने अपने ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र का इतिहास में किया है। इनका समय 1350-1400 ई० माना गया है।

42. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य ने प्रकृत ग्रन्थ में काव्यविधा के दोनों पक्षों दृश्य (नाट्यशास्त्र) और श्रव्य (काव्यशास्त्र) का विस्तृत विवेचन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ कारिका, वृत्ति और उदाहरण के क्रम से तीन भागों में विभक्त है। कारिका और वृत्ति स्वयं आचार्य कृत हैं तथा उदाहरण अधिकांश प्रायः पूर्ववर्ती ग्रन्थों से सङ्कलित हैं। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। इनका समय 1300-1384 ई० माना गया है।

43. रसार्णवसुधाकर : सिंगभूपाल

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में सिंगभूपाल का नाम नाट्य तथा सङ्गीत दोनों विषयों के आचार्य के रूप में प्रसिद्ध है। रसार्णवसुधाकर में मुख्यतः नाट्यगत विषयों का विवेचन है, परन्तु इसमें रस का विवेचन होने से इसकी गणना काव्यशास्त्र में की जाती है। यह ग्रन्थ तीन विलासों में विभक्त

---

1. (क) काव्यकल्पलतावृत्ति- पृ० - 1
   (ख) अलङ्कारशास्त्र का इतिहास- डॉ० कृष्ण कुमार- पृ०-171 से उद्धृत।

है। इसका प्रथम विलास रङ्गकोल्लास, द्वितीय रसिकोल्लास तथा तृतीय विलास भावोल्लास है। इनका समय 1300–1400 ई० के मध्य माना गया है।

1501–1650 ई०

44. साहित्यरत्नाकर : धर्मसूरि

प्रकृत ग्रन्थ के कर्त्ता धर्मसूरि का अपर नाम गोविन्दानन्द सरस्वती भी प्रचलित है। काव्यशास्त्र के इस ग्रन्थ में 7 अध्याय हैं, जिन्हें तरङ्गों के नाम से अभिहित किया गया है। धर्मसूरि का उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] इनका समय 1501–1600 ई० निर्धारित किया गया है।

45. अलङ्कारकौस्तुभ : कर्णपूर

कवि कर्णपूर भी काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ की ख्याति बङ्गाल में अधिक थी। यह उत्तम कोटि का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दश किरणों में विभक्त है, जिसके प्रथम किरण में काव्यलक्षण, द्वितीय में शब्द और अर्थ, तृतीय में ध्वनि, चतुर्थ में गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य, पञ्चम में रस–भाव, षष्ठ में गुण, सप्तम में शब्दालङ्कार, अष्टम में अर्थालङ्कार, नवम में रीतियों तथा अन्तिम दशम किरण में दोषों का विशद् विवेचन किया गया है। इनका समय 1525–1600 ई० माना गया है।

46. कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में अप्पयदीक्षित ख्यातिलभ्य आचार्य हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र विषयक तीन ग्रन्थों की रचना की–(1) वृत्तिवार्तिक (2) चित्रमीमांसा और (3) कुवलयानन्द। इनमें वृत्तिवार्तिक दो परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें शब्दशक्तियों का विवेचन किया गया है। चित्रमीमांसा में अलङ्कारों का विवेचन है। कुवलयानन्द में चन्द्रालोक के अलङ्कारों का विवेचन है तथा आचार्य दीक्षित ने कुछ नवीन श्लोक भी रचे हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है–

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०– प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी– पृ० – 384–386

येषां चन्द्रालोके दृश्यते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एवं तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यते।।[1]

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में आचार्य दीक्षित ने चन्द्रालोक के 100 अलङ्कारों तथा रसवद् आदि स्वयं के 23 अलङ्कारों सहित 123 अलङ्कारों का विवेचन किया है। इनका समय 1554-1600 ई० निर्धारित किया गया है।

47. काव्यचन्द्रिका : कविचन्द्र

आचार्य कर्णपूर के पुत्र कविचन्द्र द्वारा विरचित काव्यचन्द्रिका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। 16 प्रकाशों में विभक्त प्रकृत ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का विवेचन किया गया है। इनका उल्लेख डॉ० कृष्णकुमार ने अपने ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र का इतिहास में किया है।[2] इनका समय 1575-1625 ई० सुनिश्चित किया गया है।

48. अलङ्कारशेखर : केशवमिश्र

केशवमिश्र प्रणीत प्रकृत ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ 8 रत्नों तथा 22 मरीचियों में विभक्त है। इनका समय 1563 ई० माना गया है।

49. साहित्यसुधासिन्धु : विश्वनाथदेव

प्रकृत ग्रन्थ आचार्य विश्वनाथदेव विरचित काव्यशास्त्रीय रचना है। इसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में 8 अनुच्छेद हैं, जिन्हें तरङ्गों के नाम से अभिहित किया गया है। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[3] इनका समय 1592 ई० निर्धारित किया गया है।

---

1. अलङ्कारशास्त्र का इतिहास - डॉ० कृष्णकुमार - पृ० - 211 से उद्धृत।
2. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी-पृ०-207
3. वही, पृ०-403

50. नाटकचन्द्रिका : रूपगोस्वामी

रूपगोस्वामी काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनकी ख्याति इस कारण भी है कि इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ की रचना की तथा भक्तिरस का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। नाटकचन्द्रिका नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो आठ विभागों में विभक्त है। इसमें समस्त नाट्यशास्त्रीय विषयों तथा रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ के प्रारम्भ में गोस्वामी जी ने लिखा है कि इसकी रचना उन्होंने सिंगभूपाल की कृति रसार्णवसुधाकर के अनुकरण पर की है। भरत मत के विरुद्ध होने के कारण इन्होंने साहित्यदर्पण को अङ्गीकृत नहीं किया। उनका कथन है-

वीक्ष्य भरतमुनिशास्त्रं रसपूर्वसुधाकरञ्च रमणीयम्।
लक्षमतिसंक्षेपाद् विलिख्यते नाटकस्येदम्।।
नातीवसङ्गतस्वाद् भरतमुनेर्मतविरोधाच्च।
साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रक्रिया प्रायः।।[1]

इनका समय 1600 ई० निर्धारित किया गया है।

51. अलङ्कारतिलक : भानुदत्त मिश्र

भानुदत्त मिश्र काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। अलङ्कारतिलक, रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी इनकी काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं। रसमञ्जरी में नायक- नायिका, सात्विकभाव तथा विप्रलभ-शृङ्गार की अवस्थाओं का विवेचन है। रसतरङ्गिणी के आठ तरङ्गों में रस का विस्तृत विवेचन है तथा अलङ्कारतिलक नामक ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इनका समय भी 1600 ई० सुनिश्चित किया गया है।

52. लोचनरोचनी टीका : जीवगोस्वामी

जीवगोस्वामी ने रूपगोस्वामी कृत उज्ज्वलनीलमणि कृति पर प्रकृत

---

1. नाटकचन्द्रिका- प्रथम विभाग-कारिका-1-2 तथा अलङ्कारशास्त्र का इतिहास-डॉ० कृष्णकुमार- पृ० - 204 पर उद्धृत।

टीका लिखी। इन्होंने भक्ति को मधुरभक्ति के नाम से अभिहित किया तथा इसका स्थायीभाव मधुरारीति को बतलाया। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] इनका समय भी 1600 ई० माना गया है।

53. रसगङ्गाधर : पण्डितराजजगन्नाथ

काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रसिद्ध तीन आचार्यों में प्रथम आनन्दवर्धन, द्वितीय मम्मट और तृतीय पण्डितराजजगन्नाथ हैं। रसगङ्गाधर नव्यन्याय शैली में विरचित इनका प्रौढ़ और पाडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त भी इन्होंने विविध पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। यह काव्यशास्त्र की उत्कृष्ट कृति है। यद्यपि इस ग्रन्थ के विषय में काव्यशास्त्रीय आचार्यों की अवधारणा है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण है, परन्तु इसके दो आननों में महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के समस्त उदाहरण पण्डितराज के स्वरचित हैं। इनका समय 1620-1660 ई० सुनिश्चित किया गया है।

(ख) अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा 1650-2008

54. श्रीभगवद्भक्तिरसायन : मधुसूदनसरस्वती

भक्तिरस का विवेचन करने वाले काव्यशास्त्रीय आचार्यों में मधुसूदनसरस्वती भी प्रसिद्ध आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ को भक्तिरसायन के भी नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ में तीन उल्लास हैं, जिनमें रस के स्वरूप, निष्पत्ति तथा रसाश्रय आदि के विवेचन के साथ भक्तिरस पर गहन मीमांसा प्रस्तुत की गई है। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2] इनका समय 1650-1750 ई० के मध्य निर्धारित किया गया है।

55. अलङ्कारदीपिका : आशाधरभट्ट

आशाधरभट्ट भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। इनकी दो

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ० - 446-47
2. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-47-50

काव्यशास्त्रीय कृतियाँ प्राप्त होती हैं। प्रथम कृति त्रिवेणिका है, जिसमें तीन परिच्छेद हैं। इसके प्रथम से तृतीय तक के परिच्छेदों में क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शब्दशक्तियों का विवेचन किया गया है। द्वितीय कृति अलङ्कारदीपिका (कारिकादीपिका), अप्पयदीक्षित की कृति कुवलयानन्द पर टीका ग्रन्थ के रूप में लिखित है। तीन भागों में लिखित इस ग्रन्थ के प्रत्येक भाग को प्रकरण कहा गया है, जिनमें 12 अलङ्कारों का सरल रूप में विवेचन किया गया है। इनका समय 1675–1725 ई० निर्धारित किया गया है।

56. साहित्यसार : अच्युतराय

प्रकृत आचार्य का पूरा नाम अच्युतराय मोडक है। इनकी यह कृति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो अनुच्छेदों में विभक्त है। इसके प्रथम अनुच्छेद में सात तथा द्वितीय में पाँच रत्न हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के 12 रत्नों में काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की कुल 1303 कारिकाओं पर विषय के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य ने सरसामोदवृत्ति भी लिखी है। अच्युतराय का उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] इनका समय 1696 ई० निर्धारित किया गया है।

57. गुरुमर्मप्रकाशिका टीका : नागेशभट्ट

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में नागेशभट्ट का नाम भी प्रसिद्ध आचार्यों में है। इन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ कृत रसगङ्गाधर पर गुरुमर्मप्रकाशिका टीका लिखी, जिसे गुरुमर्मविमर्शिनी भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त गोविन्द ठाकुर की टीका काव्यप्रदीप पर बृहत तथा लघुउद्योत नाम से दो टीकाएँ लिखी। इसके अतिरिक्त आचार्य भट्ट ने उदाहरणदीपिका नामक कृति में काव्यप्रकाश के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है तथा अलङ्कारसुधा और विषयपदव्याख्यानषट्पदानन्द में कुवलयानन्द की व्याख्या की है। इनका समय 1700–1745 ई० माना गया है।

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०– प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी– पृ०–407–417

58. अलङ्कारमुक्तावली : विश्वेश्वर पण्डित

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता विश्वेश्वर पण्डित काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् तथा सहृदय कवि थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें पाँच काव्यशास्त्रपरक हैं- (1) अलङ्कारकौस्तुभ (2) अलङ्कारमुक्तावली (3) अलङ्कारप्रदीप (4) रसचन्द्रिका और (5) कवीन्द्रकण्ठाभरण। अलङ्कारकौस्तुभ में अलङ्कारों का विवेचन है। अलङ्कारमुक्तावली की रचना करते हुए उन्होंने कहा है कि नाना भावों, पक्षों को लेकर शिशु सुखबोध के निमित्त मैंने इसकी रचना की है–

नानापक्षविभावनुकुतकमलङ्कारकौस्तुभं कृत्वा।
सुखबोधाय शिशूनां क्रियते मुक्तावली तेषाम्।।[1]

अलङ्कारमुक्तावली की 59 कारिकाओं तथा अलङ्कारप्रदीप के 119 सूत्रों में अलङ्कारों का ही विवेचन है। रसचन्द्रिका में नायक-नायिका के स्वरूप तथा भेद का विवेचन है। कवीन्द्रकण्ठाभरण में भी अलङ्कारों का ही विवेचन है। इस ग्रन्थ में उनका कथन है कि मैंने प्राचीन आचार्यों के तथ्यों का ही प्रस्तुतीकरण किया है। अतः विद्वज्जन उनका उपहास न करें–

यदभिहितं वहुमहितं पूर्वाचार्यै विचार्यैव।
अनुकुर्वन किञ्चिद् वहुविद्भिर्नाहमुपहास्यः।।[2]

इनका समय 1700-1750 ई० माना गया है।

59. नञ्जराजयशोभूषण : नरसिंह कवि

आचार्य नरसिंह कवि विरचित प्रकृत ग्रन्थ काव्य और शास्त्र दोनों ही सञ्ज्ञाओं से युक्त है। अतः नरसिंह कवि काव्यशास्त्री और कवि दोनों हैं। इनकी अनेक रचनाओं का उल्लेख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। यह ग्रन्थ इनकी काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसके सात विलासों में समस्त काव्यशास्त्रीय

---

1. अलङ्कारमुक्तावली- कारिका - 2
2. अलङ्कारशास्त्र का इतिहास- डॉ० कृष्णकुमार- पृ० - 225 पर उद्धृत

तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें उदाहरण कवि के स्वरचित हैं। इनका समय 1739–1759 ई० निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों की परम्परा को केवल ज्ञान के निमित्त यहाँ संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। इनके ग्रन्थों तथा उसमें विवेचित विषयों को विस्तृत रूप से तत्तत् ग्रन्थों में ही देखा जा सकता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक ग्रन्थ हैं, जिनको यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, क्योंकि उनका उल्लेख अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में नहीं किया गया है। इस प्रबन्ध के पूर्व इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रस्तुत विषय पर डॉ० आनन्द श्रीवास्तव ने शोधकार्य किया है, जो पुस्तकाकार रूप में ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से सन् 1990 ई० में प्रकाशित है, जिसमें उन्होंने अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इसलिये उनको प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं दर्शाया गया है। वे तद्प्रबन्ध में ही द्रष्टव्य हैं। एतदतिरिक्त कुछ काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं, जिनका उल्लेख डॉ० आनन्द श्रीवास्तव के प्रबन्ध तथा अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में नहीं हो सका है। उनको प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है। मैं भी साधिकार यह नहीं कह सकता कि मैंने पूरे भारत वर्ष के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अनुसन्धान कर लिया है। संस्कृत के प्रसिद्ध समस्त काव्यशास्त्रीय आचार्यों से पूछताछ के अनन्तर जितनी कृतियों का पता चल सका, उन्हीं कृतियों का प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचन किया गया है। इसके अनन्तर अब 20 वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा को प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस प्रकार भरतमुनि से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तक काव्यशास्त्र की परम्परा अविरल रूप से चलती रही है; उसी प्रकार उनके अनन्तर भी अनेक काव्यविद्याविशारद् आचार्यों ने काव्यशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की है, जिसमें उन्होंने अपनी–अपनी मौलिक उद्भावनाओं को प्रतिपादित किया है। क्रमशः इनका भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इनका विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के द्वितीय अनुक्रम में किया जायेगा।

60. साहित्योद्देश तथा साहित्यसिद्धान्त : पं० सीताराम शास्त्री

पं० सीताराम शास्त्री 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के (प्रस्तुत प्रबन्ध के अनुसार प्रथम) आचार्य हैं। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों का प्रकाशन सन् 1923 ई० में श्री हरियाणा शेखावटी ब्रह्मचर्याश्रम, महाविद्यालय, महमगेट, भिवानी, हरियाणा से हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में पं० शास्त्री ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन अपनी मौलिक टीका-टिप्पणियों को प्रस्तुत करते हुए किया है। पं० शास्त्री ने इन ग्रन्थों में न्याय, वैशेषिक एवं साङ्ख्यदर्शन के क्रमश 16, 7 एवं 25 (तत्त्वों) पदार्थों की भाँति साहित्यशास्त्र में भी 13 पदार्थों का कथन किया है। श्री शिवप्रकाश शर्मा, अध्यक्ष श्री हरियाणा शेखावटी ब्रह्मचर्याश्रम महाविद्यालय, भिवानी के द्वारा, पं० सीताराम शास्त्री के देहावसान की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1865 से 1938 ई० तक निर्धारित किया गया है।

61. व्यञ्जनावाद : यदुनाथ मिश्र

पं० यदुनाथ मिश्र विरचित प्रस्तुत कृति सन् 1936 ई० में प्रकाशित है। यह काव्यशास्त्रीय कृति है। पं० मिश्र इस प्रबन्ध में वर्णित परम्परा के अनुसार द्वितीय आचार्य हैं। इसमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक शब्दशक्तियों पर विद्वान् आचार्य ने अपनी विचाराधारा को व्यक्त किया है। यह ग्रन्थ गद्यशैली में लिखा गया है। विशेषतः इस ग्रन्थ में व्यञ्जनाशक्ति के महत्त्व को उद्घाटित किया गया है। प्रो० शशिनाथ झा, (वर्तमान) व्याकरण-विभागाध्यक्ष, दरभङ्गा विश्वविद्यालय, दरभङ्गा बिहार के द्वारा, पं० मिश्र के देहावसान की तिथि की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1885 से 1928 ई० तक निर्धारित किया गया है।

62. साहित्यमञ्जरी : श्रीपाद शास्त्री हसूरकर

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर 20 वीं शताब्दी की संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के (प्रकृत प्रबन्ध के क्रमानुसार तृतीय) आचार्य हैं। साहित्यमञ्जरी शास्त्री जी विरचित काव्यशास्त्रीय कृति है। इस कृति के प्रारम्भ में आचार्य का कथन है-

नत्वा रसात्मकं देवं विचार्य सुधियां गिरः।
बालानां सुखबोधाय कुर्वे साहित्यमञ्जरीम्।।[1]

इस ग्रन्थ में पाँच प्रकरण हैं, जिनमें प्रमुख रूप से पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का ही विवेचन है। यत्र-तत्र शास्त्री जी की स्वकृत टिप्पणी भी दुरूह स्थलों के स्पष्टीकरणार्थ उल्लिखित है। प्रो० केदारनारायण जोशी (सम्प्रति आचार्य एवं अध्यक्ष : संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, मध्य प्रदेश) ने 'पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व' पर शोधकार्य किया है। यह शोध प्रबन्ध प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित है, जिसमें पं० हसूरकर का समय सन् 1888-1947 ई० तक निर्धारित किया गया है। अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में इनका परिचय नहीं दिया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में शास्त्री जी का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी कृतियों से अवगत कराया गया है।

63. भक्तिरसार्णव : स्वामीकरपात्री जी

स्वामी करपात्री जी वस्तुतः एक महान् सन्त और प्रसिद्ध लोक-नेता के रूप में विख्यात हैं। यद्यपि इन्होंने किसी स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना नहीं की है, तथापि इनकी कृति भक्तिरसार्णव में विवेचित भक्तिरस के प्रसङ्ग में काव्यशास्त्र के प्रमुख विषय रस के विविध सन्दर्भों को इसमें प्रस्तुत किया गया है। इसलिये इन्हें भी काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों में परिगणित किया गया है। स्वामी जी प्रकृत प्रबन्ध के क्रमानुसार चतुर्थ आचार्य हैं। इस ग्रन्थ में 11 अनुच्छेद हैं, जिनमें भक्तितत्त्व (भक्तिरस) का विवेचन किया गया है। संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय से डॉ० रघुनाथ शर्मा के शोध निर्देशन में स्वामी जी के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व पर शोधकार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें इनके जन्म तथा देहावसान की तिथि अङ्कित है। अतः इस आधार पर इनका समय सन् 1907 ई० से 1982 ई० तक निर्धारित किया गया है। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2]

---

1. साहित्यमञ्जरी- सामान्य प्रकरण - कारिका- 1, पृ० 1
2. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ० - 450-451

64. रसचन्द्रिका : पं० लेखनाथ झा

पं० लेखनाथ झा 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के (इस प्रबन्ध के क्रमानुसार पञ्चम) विद्वान् हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इन्होंने सन् 1920-22 ई० के मध्य में की थी। यह ग्रन्थ सन् 1940 ई० में दरभङ्गा बिहार से तथा सन् 2002 ई० में नवीन संस्करण के रूप में श्री सदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, पुरी से प्रकाशित है। इसके सम्पादक डॉ० उदयनाथ झा हैं। प्रकृत ग्रन्थ में रस तथा नायक-नायिकाओं का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक से इनके देहावसान की तिथि की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1886 ई० से 1965 ई० तक निर्धारित किया गया है।

65. लोकमान्यालङ्कार : श्री गजानन शास्त्री करमलकर

श्री गजानन शास्त्री करमलकर भी 20वीं शताब्दी की संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ श्री शास्त्री विरचित अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें 100 अलङ्कारों का लक्षण एवं उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। इस कृति में प्रदत्त सम्पूर्ण लक्षण तथा उदाहरण आचार्य के मौलिक हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हो पाई। इनकी यह कृति सन् 1941 ई० में प्रकाशित है, जिसके आधार पर इनका समय 20वीं शताब्दी में ही माना जा सकता है। इनका परिचय भी अब तक के लिखित काव्यशास्त्रीय इतिहास ग्रन्थों में नहीं दिया गया है।

66. साहित्यविमर्श : श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा

संस्कृत काव्यशास्त्र परम्परा में जिन-जिन आचार्यों ने मौलिक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, उनमें श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा की कृति साहित्यविमर्श भी महत्त्वपूर्ण रचना है। इस कृति में तीन परिच्छेद हैं, जो गद्य शैली में लिखे गये हैं। इसके समस्त परिच्छेदों में विद्वान् आचार्य ने प्रमुख काव्यशास्त्रीय विषयों का समीक्षात्मक विवेचन किया है। इनके सम्बन्ध में भी विभिन्न लोगों से पूछताछ के बावजूद कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई। यह कृति सन् 1951 ई० में

प्रकाशित है। अतः इसके आधार पर इनका भी समय 20वीं शताब्दी में ही रहा होगा। अब तक के लिखित प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय इतिहास ग्रन्थों में इनका भी उल्लेख नहीं किया गया है।

67. साहित्यसार : श्री सर्वेश्वर कवि

20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में आचार्य सर्वेश्वर विरचित प्रकृत कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। अनुष्टुप् छन्द में रचित कारिकाओं में नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय (उभय) तत्त्वों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ छः प्रकाशों में विभक्त है। इसके प्रथम प्रकाश में 107 श्लोक, द्वितीय में 156, तृतीय में 75, चतुर्थ में 86, पञ्चम में 117 तथा अन्तिम षष्ठ प्रकाश में 64 श्लोक हैं। इस प्रकार इस कृति में कुल 605 श्लोक हैं। सर्वेश्वर कवि के सम्बन्ध में भी पूछताछ के बावजूद कोई सूचना नहीं मिल पाई। यह कृति सन् 1952 ई० में तिरुपति विद्यापीठ से प्रकाशित है। अतः इनकी कृति के आधार पर इनका समय भी 20वीं शताब्दी ही होगा।

68. साहित्यबिन्दु : छज्जूराम शास्त्री

छज्जूराम शास्त्री 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। प्रकृत ग्रन्थ में भी नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय (उभय) विषयों का विवेचन है। यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है। (1) कारिका (2) वृत्ति (3) उदाहरण और (4) उदाहरण विवरण। इनमें कारिका, वृत्ति और विवरण लेखक के स्वरचित हैं, किन्तु उदाहरण कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों से भी संग्रहीत हैं। प्रस्तुत कृति पाँच बिन्दुओं में विभक्त है, जिसके प्रथम बिन्दु में 36 कारिका, द्वितीय में 33, तृतीय में 10, चतुर्थ में 10 तथा अन्तिम पञ्चम बिन्दु में 41 कारिकाएँ हैं। इस प्रकार ग्रन्थ में कुल 130 कारिकाएँ हैं। अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में इनका भी उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रबन्ध के पूर्व इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ० आनन्द श्रीवास्तव द्वारा लिखे गये प्रबन्ध अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में इनका उल्लेख किया गया है। लेखक के पैतृक निवास स्थान से सम्पर्क के उपरान्त भी इनके सम्बन्ध में

कोई उचित जानकारी नहीं प्राप्त हुई। येन-केन प्रकारेण इनकी एक पौत्री (जिसका परिचय लेखक परिचय के अन्तर्गत दिया गया है) ने इनके देहावसान की तिथि बतलायी, जिसके आधार पर इनका समय सन् 1905 ई० से सन् 1979 ई० तक निर्धारित किया गया है।

69. कारिकाग्रन्थ : विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि काव्यप्रकाश तथा ध्वन्यालोक के ख्याति लभ्य व्याख्याकार हैं। इन्होंने कारिका में निबद्ध साहित्यशास्त्रीय किसी ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया था। इस तथ्य का उद्घाटन प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने अद्यतन लिखित ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास[1] में किया है। प्रो० द्विवेदी जी के ग्रन्थ की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1960–1980 ई० निर्धारित किया गया है।

70. अभिनवकाव्यप्रकाश : पं० गिरिधरलाल व्यास शास्त्री

प्रकृत आचार्य भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। यह ग्रन्थ दो खण्डों में अलग-अलग समय में प्रकाशित हुआ है । प्रथम खण्ड सन् 1966 ई० तथा द्वितीय खण्ड सन् 1985 ई० में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम खण्ड में 8 तथा द्वितीय खण्ड में पाँच उन्मेष हैं। दोनों खण्डों में कुल 3776 श्लोक हैं, जिनमें काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय (उभयात्मक) विषयों का विवेचन किया गया है। संस्कृत विभाग, मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, राजस्थान से डॉ० हेमलता बोलिया (वर्तमान विभागाध्यक्षा) के शोध निर्देशन में पं० शास्त्री के व्यक्तित्त्व एवं कतृत्त्व पर शोध-कार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें उनके जन्म तथा देहावसान की तिथि बतलायी गई है। उसके आधार पर इनका समय सन् 1893 ई० से सन् 1985 ई० तक निर्धारित किया गया है। अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का भी उल्लेख नहीं किया गया है।

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-440

71. काव्यालङ्कारकारिका : प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, इस सदी की परम्परा के मूर्द्धन्य विद्वान् हैं। इन्होंने अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना, सम्पादन तथा व्याख्या भी की है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त साहित्यशारीरकम् और अलंब्रह्म साहित्यशास्त्र पर रचित इनके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। काव्यालङ्कारकारिका में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नवीन दृष्टि से विचार किया गया है। काव्यालङ्कारकारिका में 15 अधिकरण तथा 261 मूल कारिकाएँ हैं, जिन पर आचार्य ने स्वयं संस्कृत और आङ्गलभाषा में वृत्ति लिखी है। ये इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं। अपना भी उल्लेख प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1]

72. ध्वनिकल्लोलिनी : (ध्वनिसाहस्त्री)- आचार्य आनन्द झा

आनन्द झा भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। यह ग्रन्थ सन् 1978 ई० में कामेश्वर सिंह दरभङ्गा, संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने 1090 पद्यों की रचना की है, जिनमें 480 पद्य ध्वनि खण्डन के सन्दर्भ में हैं तथा 610 ध्वनि की सिद्धि के सन्दर्भ में हैं। इस प्रकार ग्रन्थ के सम्पूर्ण चार भागों में विद्वान् आचार्य झा ने आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट के मतों को उपस्थापित करते हुए ध्वनि का विरोध और पक्ष प्रवर्तन किया है। प्रो० शशिनाथ झा की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1914 से 1988 ई० तक निर्धारित किया गया है।

73. काव्यसत्यालोक : डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा भी इस शताब्दी के प्रमुख आचार्यों में हैं। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। काव्यशास्त्र पर इनके चार मौलिक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं- (1) काव्यसत्यालोक (2) वस्त्वलङ्कारदर्शनम् (3) अभिनवरसमीमांसा तथा (4) रसालोचन। काव्यसत्यालोक में पाँच उद्योत

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-423-425

तथा 70 कारिकाएँ हैं, जिनमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। वस्त्वलङ्कारदर्शनम् में अलङ्कारों का समीक्षात्मक विवेचन तथा अभिनवरसमीमांसा एवं रसालोचन में रस तत्त्व पर विचार-विमर्श किया गया है। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास[1] में किया है। आचार्य के व्यक्तितत्त्व तथा कृतित्त्व पर लिखे गये ग्रन्थों तथा इनके पुत्र डॉ० अशोक कुमार शर्मा (जो जयपुर विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र में प्रवाचक हैं) की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1923 ई० से सन् 2000 ई० तक निर्धारित किया गया है।

74. रसचन्द्रिका/व्यञ्जनावृत्तिविचार : पं० रामावतार मिश्र

इस सदी की काव्यशास्त्रीय परम्परा का सम्वर्धन करते हुए पं० रामावतार मिश्र जी ने प्रकृत दोनों ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनों ही काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं। प्रथम कृति के 270 श्लोकों में रस और नायक-नायिका का लक्षणोदाहरण पूर्वक विवेचन तथा द्वितीय कृति के 253 श्लोकों में व्यञ्जनावृत्ति का लक्षणोदाहरणपूर्वक विस्तृत विवेचन किया गया है। इनके ग्रन्थों पर इनके जन्म एवं देहावसान दोनों की तिथि अङ्कित है। अतः उसके आधार पर इनका समय सन् 1899 ई० से सन् 1984 ई० तक निर्धारित किया गया है। इन कृतियों का उल्लेख डॉ० आनन्द श्रीवास्तव के ग्रन्थ LATER SANSKRIT RHETORICIANS में किया गया है; काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में नहीं।

75. साहित्यसन्दर्भ : प्रो० शिवजी उपाध्याय

20 वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रो० शिवजी उपाध्याय भी महत्त्वपूर्ण एवं प्रख्यात आचार्य हैं। साहित्यसन्दर्भः आचार्य द्वारा विरचित साहित्यशास्त्र की वैदुष्यपूर्ण कृति है। इसमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का (वेदान्त मीमांसा) दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में कुल 158 कारिकाएँ तथा छः अनुच्छेद हैं। इन कारिकाओं पर लेखक ने स्वयं वृत्ति

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-426-27

लिखकर विषय का स्पष्टीकरण किया है। ये भी इस सदी के वर्तमान आचार्य हैं। इनका उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1]

76. सौन्दर्यकारिका : प्रो० जगन्नाथ पाठक

संस्कृत काव्यशास्त्र की 20वीं सदी की परम्परा में प्रो० जगन्नाथ पाठक का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सौन्दर्यकारिका आचार्य की काव्यशास्त्रीय कृति है, जो विच्छित्तिवातायनी नामक इनकी कृति में एक अंश के रूप में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में 102 कारिकाएँ हैं, जिन पर आचार्य की स्वोपज्ञ वृत्ति भी उल्लिखित है। इन कारिकाओं में विद्वान् आचार्य ने सौन्दर्य के स्वरूप का उद्घाटन करते हुए उसके महत्त्व एवं विविध रूपों का विस्तार से विवेचन किया है। ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1]

77. मैथिलीकाव्यविवेक : कविशेखर पं० बदरीनाथ झा

कविशेखर बदरीनाथ झा भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के उद्भट काव्यशास्त्रविद् हैं। बिहार प्रान्त के मधुबनी जनपद के काव्यपण्डितों में इनका मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने रसगङ्गाधर पर चन्द्रिका, ध्वन्यालोक पर दीधित तथा रसमञ्जरी पर सुरभि नामक व्याख्याएँ लिखी हैं, जो आज भी काव्यशास्त्रियों के मध्य समादृत हैं। मैथिली-काव्यविवेक नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना इन्होंने अपनी वृद्धावस्था में सन् 1961 ई० में की थी। यह ग्रन्थ सन् 1994 ई० में कविशेखर बदरीनाथ झा ग्रन्थावली प्रकाशन समिति, शङ्कर दर्शन संस्कृत विद्यालय, मधुबनी, बिहार से प्रकाशित है। इनके ग्रन्थ की भूमिका भाग में दिये गये इनसे सम्बन्धित विवरण तथा प्रो० शशिनाथ झा की

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-429-433
2. वही, पृ०-433-34

सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1893 ई० से 1973 ई० तक निर्धारित किया गया है।

78. सौन्दर्यदर्शनविमर्श : म० म० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भी इस सदी की परम्परा के प्रसिद्ध आचार्यों में हैं। सौन्दर्यदर्शनविमर्श काव्यशास्त्रीय कृति है। इसकी 129 कारिकाओं में विद्वान् आचार्य ने सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप, रूपतत्त्व तथा रसतत्त्व पर स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ विषय का स्पष्टीकरण करते हुए विवेचन किया है। ये भी इस शताब्दी के वर्तमान आचार्य हैं। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास मे किया है।[1]

79. काव्यतत्त्वविवेक : डॉ० रमाशङ्कर तिवारी

प्रकृत ग्रन्थ के प्रणेता डॉ० रमाशङ्कर तिवारी भी इस सदी के काव्यशास्त्रीय आचार्य हैं। यह ग्रन्थ 24 अध्यायों में विभक्त है। इसमें विद्वान् आचार्य ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों के मत के साथ इन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के चिन्तन को भी प्रस्तुत किया है। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2] इनकी पुत्री डॉ० मञ्जूरानी त्रिपाठी (जो जनपद गोंडा उत्तर प्रदेश के श्री लाल बहादुर शास्त्री पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज में भूगोल विषय की प्राध्यापिका हैं) की सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1915 से सन् 2003 ई० तक निर्धारित किया गया है।

80. काव्यात्मनिर्णय/ काव्यात्मा : डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित

संस्कृत काव्यशास्त्र की 20वीं सदी की परम्परा में डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यशास्त्रीय विषयों को लेकर इन्होंने छः मौलिक

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-434-35
2. वही, पृ०-436-37

ग्रन्थों की रचना की है, जो निम्नलिखित हैं- (1) काव्यात्मा (2) काव्यतत्त्वविमर्श (3) काव्यात्मनिर्णय (4) काव्यशास्त्रीयनिबन्धावली (5) रसविमर्श तथा (6) यूनिवर्शलपोयटिक्स। इन कृतियों में विद्वान् आचार्य ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित काव्यशास्त्रीय विषयों का सूक्ष्मदृष्टि से विचार करते हुए खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन किया है। इनका भी उल्लेख (इनके केवल एक ग्रन्थ के साथ) प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] इनकी धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा दीक्षित द्वारा इनके देहावसान की सूचना मिलने के आधार पर इनका समय सन् 1933 ई० से सन् 2009 ई० तक निर्धारित किया गया है।

81. अभिनवकाव्यशास्त्रम् : डॉ० शङ्करदेव अवतरे

डॉ० अवतरे भी 20वीं सदी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। इस ग्रन्थ में 10 आयाम (अध्याय) हैं, जिनमें आचार्य विरचित 869 कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं की हिन्दी व्याख्या भी उन्होंने की है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त भी इन्होंने काव्यशास्त्र पर साहित्यशास्त्रीय समाधान, रसप्रक्रिया, साधारणीकरणप्रक्रिया, काव्याङ्गप्रक्रिया तथा अलङ्कारप्रक्रिया आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं। इस ग्रन्थ का भी उल्लेख अब तक के लिखित काव्यशास्त्र के इतिहास ग्रन्थों में नहीं किया गया है।

82. काव्यसिद्धान्तकारिका : प्रो० अमरनाथ पाण्डेय

पण्डितराज की उपाधि से विभूषित प्रो० पाण्डेय 20वीं सदी के उद्भट काव्यज्ञ हैं। इनके द्वारा विरचित 93 कारिकाएँ काव्यशिक्षा का महत्त्वपूर्ण उपदेश प्रदान करती हैं। ये कारिकाएँ सन् 2001ई० में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ से प्रकाशित हैं। इनमें काव्यरचना के आवश्यक उपादानों के विवेचन के साथ-साथ भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों के मतों का भी उपस्थापन हुआ है। ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं।

1. सं० का० शा० का आलो० इति०-प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ०-435-36

83. रसवसुमूर्तिः : प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी

प्रकृत ग्रन्थ प्रो० द्विवेदी की काव्यशास्त्रीय कृति है। अतः इनका भी परिगणन इस सदी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में किया गया है। यह ग्रन्थ कारिका तथा गद्य में निबद्ध है। इसमें ध्वनिसम्प्रदाय के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वर्ग के आठ भेदों के निरूपण के साथ-साथ शब्द शक्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में प्रदत्त समस्त उदाहरण आचार्य के स्वरचित हैं। ये भी इस सदी के वर्तमान आचार्य हैं । इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1]

84. चमत्कारविचारचर्चा : प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार

प्रो० वेदालङ्कार भी 20वीं सदी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। चमत्कारविचारचर्चा महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय कृति है। यह ग्रन्थ तीन विचारों (अध्यायों) में विभक्त है, जिसमें 165 कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं में विद्वान् आचार्य ने प्रमुख काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन करते हुए चमत्कार को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है तथा चमत्कार को काव्यशास्त्र के सप्तम सम्प्रदाय के रूप में माना है। अब तक काव्यशास्त्र के छः सम्प्रदाय प्रचलित थे। इस सातवें सम्प्रदाय का श्रीगणेश प्रो० वेदालङ्कार ने किया है। ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2]

85. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम् : प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी

प्रो० त्रिपाठी भी इस सदी की परम्परा के प्रमुख आचार्यों में हैं। अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम् काव्यशास्त्रीय कृति है, जो सूत्र शैली में निबद्ध है। तीन अधिकरणों में विभक्त इस ग्रन्थ में 96 सूत्र हैं। इसके प्रथम तथा द्वितीय अधिकरण भी छः अध्यायों में विभक्त हैं। तृतीय अधिकरण में कोई अध्याय

---

1. सं० का० शा० का० आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी- पृ०-437-38
2. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी-पृ०-439-40

नहीं है, उसमें दृश्य-श्रव्य काव्य का अर्वाचीन दृष्टि से विवेचन है। प्रथम और द्वितीय अधिकरण के समस्त 12 अध्यायों में सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय विषयों को नूतन मौलिक उद्भावनाओं के साथ लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचित किया गया है। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[1] ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं।

86. अभिराजयशोभूषणम् : प्रो० राजेन्द्र मिश्र

प्रो० राजेन्द्र मिश्र भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रमुख आचार्यों में हैं। प्रकृत ग्रन्थ इनकी महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय कृति है। पाँच उन्मेषों (अंशों) में विभक्त इस ग्रन्थ में 567 कारिकाएँ हैं, जिन पर आचार्य ने संस्कृत वृत्ति लिखकर, उसका हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया है। प्रथम उन्मेष परिचयोन्मेष, द्वितीय शरीरतत्त्वोन्मेष, तृतीय आत्मतत्वोन्मेष, चतुर्थ निर्मितितत्त्वोन्मेष तथा अन्तिम प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष है, जिनमें समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों तथा नाट्यशास्त्रीय सन्दर्भों का वर्तमान युग के अनुरूप तर्कसहित विवेचन किया गया है। ये भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं। इनका भी उल्लेख प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास में किया है।[2]

87. लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण : पं० नित्यानन्दशास्त्री

प्रकृत ग्रन्थ का अपर नाम देवीस्तवः भी है। इसके रचयिता पं० नित्यानन्द शास्त्री हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में 39 अलङ्कारों तथा 40 छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका विद्वान् आचार्य ने लक्षणोदाहरणपूर्वक प्रस्तुतीकरण भी किया है। इस सदी की यह पाण्डित्यपूर्ण रचना चित्रकाव्यरूप है, जिसमें पं० शास्त्री जी ने चमत्कारपूर्ण शब्दयोजना के माध्यम से प्रत्येक पद्य में एक अलङ्कार तथा एक छन्द का सुन्दर विन्यास किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक, लेखक के दौहित्र श्री

---

1. सं० का० शा० का आलो० इति०- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ०-442
2. वही, पृ०-440-42

ओमप्रकाश आचार्य हैं। उनकी सूचना के आधार पर पं० नित्यानन्द शास्त्री का समय सन् 1889 ई० से सन् 1961 ई० तक निर्धारित किया गया है।

88. नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा : प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी

प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। यह कृति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशनाधीन है, परन्तु इसका कुछ अंश दूर्वा पत्रिका में सन् 2005 ई० में प्रकाशित हुआ है। इस लघुकाव्य में प्रो० द्विवेदी ने अर्वाचीन संस्कृत आचार्यों द्वारा विरचित नूतन काव्यविधाओं के लक्षण को प्रस्तुत किया है तथा जिन-जिन संस्कृत के अद्यतन कवियों ने वैदेशिक काव्यविधाओं को लेकर संस्कृत में काव्यरचना की है, उनके भी लक्षण को इसमें प्रस्तुत किया गया है। प्रो० द्विवेदी भी इस सदी की परम्परा के वर्तमान आचार्य हैं।

89. अलङ्कारविद्योतनम् : म० म० पं० कृष्णमाधव झा

पं० कृष्णमाधव झा भी 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्य हैं। इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना तो सन् 1970 ई० में कर दी थी, परन्तु इसका प्रकाशन सन् 2008 ई० में पुरी, उड़ीसा से हुआ है। यह अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें 124 अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादक डॉ० उदयनाथ झा हैं, जो लेखक के पौत्र हैं। पुस्तक के सम्पादक द्वारा दी गई सूचना तथा पुस्तक में लिखे गये इनके विवरण के आधार पर पं० कृष्णमाधव झा का समय सन् 1894 ई० से सन् 1985 ई० तक निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार 20वीं शताब्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्रमिक विकास को यहाँ पर संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस सदी के इन समस्त लेखकों तथा इनकी कृतियों का विस्तृत परिचय इसी अध्याय के द्वितीय भाग में दिया जायेगा तथा इन समस्त ग्रन्थों में विवेचित विषय सामग्री को प्रस्तुत-ग्रन्थ के अग्रिम अध्यायों में यथा स्थान विवेचित किया जायेगा। इस ग्रन्थ में 29 रचनाकारों की 45 मौलिक कृतियों, 12 टीका ग्रन्थों तथा 6 समीक्षा ग्रन्थों को

सम्मिलित किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक द्वारा यथा- सामर्थ्य पूरे भारत से ग्रन्थ संग्रह का प्रयास किया गया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण भारत की 20वीं शताब्दी की समस्त कृतियाँ सम्मिलित की जा चुकी हैं। बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जो इसमें सम्मिलित नहीं किये जा सके हैं, क्योंकि उनका पता नहीं चल पाया। अतः यह वृहत् अनुसन्धान का विषय है; जितने ग्रन्थ लेखक को उपलब्ध हो सके हैं, उन्हीं का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

(ii) अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय : ग्रन्थ, ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ वैशिष्ट्य

संस्कृत साहित्य की विविध विधाओं में वर्तमानकालीन आचार्यों ने विपुल साहित्य का सर्जन किया है। काव्य की रचना कवि के आन्तरिक भावों एवं संवेगों के प्रस्फुटित होने तथा बौद्धिक विकास के परिणाम स्वरूप होती है। काव्यसर्जन के लिए हृदयगत भावों का प्रस्फुटन, विषय गत सामग्रियों की उपस्थिति, भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ-परिष्कृत भाषा, विषय प्रतिपादन के निमित्त कवि की प्रवृत्ति इत्यादि समस्त तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। इन समस्त तत्त्वों में से किसी एक के भी अभाव में काव्यरचना सम्भव नहीं होती। काव्यकर्त्ता पूर्वकृत ग्रन्थों के अध्ययन से शास्त्राभ्यास कर अपनी प्रतिभा के द्वारा काव्यरचना करता है।

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार विद्वान् आचार्यों ने काव्य की अन्यान्य विधाओं यथा- नाटक, खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि में ग्रन्थ रचनाएँ की हैं, उसी प्रकार काव्यशास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुरूप 20वीं शताब्दी (वर्तमान तक) के भी विभिन्न विद्वान् काव्यशास्त्र विचक्षणों ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है। किन्हीं विद्वानों ने काव्यशास्त्र के किसी एक विषय तथा कतिपय ने लगभग सम्पूर्ण विषयों पर अपनी मौलिक अवधारणाओं को अभिव्यक्त किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 29 मौलिक कृतियों, 12 टीका ग्रन्थों तथा 6 काव्यशास्त्रीय समीक्षा ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया है। मौलिक रचनाकारों की अन्यान्य

मौलिक कृतियों का भी परिचय तथा उनमें विवेचित सामग्री का प्रस्तुतीकरण किया गया है। टीका ग्रन्थों तथा समीक्षा ग्रन्थों के रचनाकारों तथा कृतियों में विवेचित विषय सामग्री का परिचय मात्र दिया गया है, परन्तु मौलिक कृतियों के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समीक्षात्मक (तुलनात्मक) विवेचन किया गया है। क्रमशः इस शताब्दी के ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. साहित्योद्देश तथा साहित्यसिद्धान्त

प्रस्तुत दोनों ग्रन्थ सन् 1923 ई० में श्रीहरियाणा शेखावटी ब्रह्मचर्याश्रम महाविद्यालय, भिवानी, हरियाणा से प्रकाशित हैं। इन ग्रन्थों के कर्त्ता पं० सीताराम शास्त्री हैं।

(क) विद्यामार्तण्ड श्रीमत्पण्डित सीताराम शास्त्री का जन्म फाल्गुन सुदी एकादशी- विक्रमी संवत् 1921 तदनुसार सन् 1865 ई० में जागवाश रियासत (शेखावटी) अलवर, राजस्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० मोती राम गौड़ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। पं० सीताराम शास्त्री दत्तक पुत्र थे। पं० सीताराम शास्त्री अपनी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा शेखावटी से प्राप्त कर संस्कृत शिक्षा के लिए काशी चले गये। वहीं से संस्कृत अध्ययन के उपरान्त विद्वत्ता के कारण काशी के पण्डितों द्वारा इन्हें विद्यामार्तण्ड की उपाधि प्रदान की गई। विद्या अध्ययन के अनन्तर वापस आकर 5 फरवरी सन् 1911-12 ई० में इन्होंने श्री हरियाणा शेखावटी ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की, जो वर्तमान समय में महमगेट, भिवानी हरियाणा में पल्लवित-पुष्पित हो रहा है। परन्तु जिस समय उन्होंने इसकी स्थापना की नींव रखी थी, उस समय वहाँ केवल एक वट वृक्ष था, जिसके नीचे बैठकर ये छात्रों को पढ़ाया करते थे। विद्यावाचस्पति दयाकृष्ण पन्त (प्राचार्य) ने उस वट-वृक्ष (जो आज भी जीर्ण-सीर्ण अवस्था में वर्तमान है) तथा सीताराम शास्त्री के बारे में वट-वृक्ष के पास लगे शिलापट्ट पर निम्नलिखित पद्य उत्कीर्ण करवाया है–

रम्योऽयं वटनामकस्तरुवरश्श्यामाश्रिया शोभितः
सीतारामयशस्कथां प्रतिदिनं संश्रावयन् राजते।

जानात्येव स्वमानरक्षणकृते ज्ञानाब्धिना तेन च
संस्थाकापि वियोगिता हि नगरे नव्या च संयोजिता।।
अस्यैवात्र वटस्य शिष्यवरदे छायातले शीतले
सीताराम महोदयेन वटवश्छात्राः पुरा पाठिताः।
भूयस्ते तरणे च शास्त्रजलधौपारङ्गताः स्युस्तदा
तेभ्योह्याश्रमनामिका सुरगिरः संस्थानवा स्थापिता।।

पं० सीताराम शास्त्री संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अरबिक, परशियन भाषा के भी उद्भट ज्ञाता थे। इन्होंने छः ग्रन्थों की रचना की जो इस प्रकार हैं– (1) साहित्योद्देश (2) साहित्यसिद्धान्त (3) श्रीगीताभगवद्भक्तिमीमांसा (4) निरुक्तभाष्य (5) साङ्ख्यदर्शन और (6) श्रीगृहयाग्नि प्रयोगमाला। इन प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त पं० सीताराम शास्त्री द्वारा लिखित 1500 के लगभग हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ उनके आश्रम में मौजूद हैं, जिन्हें स्वयं मैंने भी देखा है। आश्रम की पुस्तकालयाध्यक्षा श्रीमती किरण शर्मा का कहना है कि समस्त विषयों यथा- वेद, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष तथा कृषि आदि पर लिखित ये समस्त पाण्डुलिपियाँ शास्त्री जी द्वारा लिखी गई हैं। इन पाण्डुलिपियों पर इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली द्वारा सर्वेक्षण भी चल रहा है।

आश्रम में शास्त्री जी द्वारा विरचित 1 मीटर चौड़े तथा 70 मीटर लम्बे कपड़े पर लिखित यन्त्र भी है, जिसमें शास्त्री जी ने सचित्र अनेक तन्त्र-मन्त्र विद्याओं का उल्लेख किया है। संस्था के लोगों का कहना है कि काष्ठयानरूप इस यन्त्र को स्वयं शास्त्री जी ने अंग्रेजों के भय से विखण्डित कर दिया था, ताकि इसका दुरुपयोग वैदैशिक लोग न कर पाएँ और इसमें उल्लिखित विद्या को वे न जान पाएँ। संस्कृत के उद्भट विद्वान् पं० सीताराम शास्त्री का, मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी विक्रमी संवत् 1994 तदनुसार सन् 1938 ई० में देहावसान हो गया।

उपर्युक्त समस्त सूचनाएँ आश्रम के अध्यक्ष श्री शिवप्रकाश शर्मा ने प्रदान की जो संस्कृत भाषा तथा साहित्य के प्रतिश्रद्धा रखने वाले हैं। श्री शर्मा स्वयं प्रबुद्ध व्यक्ति हैं। वे गणित आनर्स, बी० टी०, मुन्शीफाजल (Honours in persian), अदीवफाजल (Honours in urdu), एम्० ए० अंग्रेजी,

राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र आदि में उपाधिलब्ध, हाई स्कूल शिक्षा से अवकाश प्राप्त अध्यापक हैं। ये सन् 1980 ई० से आश्रम से सम्बद्ध हैं तथा सन् 1992 ई० में अवकाश प्राप्त करने के अनन्तर सदैव आश्रम की सेवा में सन्नद्ध हैं। इन्होंने ही पं० सीताराम शास्त्री के देहावसान की तिथि बतलायी। अतः इनकी सूचना के आधार पर शास्त्री जी का समय सन् 1865 ई० से सन् 1938 ई० तक निर्धारित किया गया है। सूचना तथा सहयोग एवं पुस्तक प्रदान करने के लिए आश्रम के अध्यक्ष श्री शिवप्रकाश शर्मा, पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीमती किरण शर्मा, श्री पङ्कज शर्मा और श्री रणधीर शर्मा साधुवाद के पात्र हैं। अतः इनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

(ख) साहित्योद्देश– यह काव्यशास्त्रीय कृति है, जो पाँच भागों में विभक्त है। इसके प्रथम भाग का नाम पदार्थोद्देश है। इसमें 13 पदार्थ शास्त्री जी ने बतलाये हैं– (1) काव्य (2) शब्द (3) अर्थ (4) वृत्ति (5) गुण (6) दोष (7) अलङ्कार (8) रस (9) भाव (10) स्थायिभाव (11) विभाव (12) अनुभाव और (13) व्यभिचारीभाव। द्वितीय भाग का नाम काव्यभेद है। इसमें काव्य भेदों का विवेचन है। तृतीय भाग का नाम नाट्यपदार्थावभास है; जिसमें नाट्यतत्त्वों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ भाग का नाम नाटक-रचना प्रणाली है। इसमें भी नाट्य सम्बन्धी विषयों का ही विवेचन है। पञ्चम भाग का नाम परिशिष्ट सञ्चय है। इसमें सात परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में ध्वनि के विशिष्ट नाम, लक्षणा तथा व्यञ्जना के विशिष्ट नाम का विवेचन है। द्वितीय परिशिष्ट में ध्वनि पदार्थ विज्ञान, तृतीय में गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य विज्ञान, चतुर्थ में लक्षणा विज्ञान, पञ्चम में व्यभिचारियों की सङ्ख्या का निरूपण है। षष्ठ परिशिष्ट चित्र परिशिष्ट है। इसमें लक्षणा, व्यञ्जना, नायक भेद, नायिका भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य, रस विभावादि तथा नाट्य पदार्थों का सचित्र वर्णन किया गया है। सप्तम परिशिष्ट उदाहरण का है, जिसमें समस्त उदाहरणों को दर्शाया गया है।

साहित्यसिद्धान्त

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्राक्कथन में पं० सीताराम शास्त्री का कथन है कि प्रकृत

ग्रन्थ की रचना उन्होंने साहित्योद्देशनामक संस्कृत ग्रन्थ में विवेचित पदार्थों के विस्तृत व्याख्यान के निमित्त की है। साहित्योद्देश नामक प्रथम ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के जिन 13 पदार्थों का तथा काव्य के अन्य विभिन्न तत्त्वों का विवेचन पं० सीताराम शास्त्री ने सूत्रात्मक शैली में किया था, उसी का विवेचन इस ग्रन्थ में हिन्दी भाषान्तर के साथ विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं। इसके प्रथम प्रकरण का नाम उपोद्घात प्रकरण है। इसमें साहित्यशास्त्र, काव्य, काव्य के प्रयोजन, काव्य का कारण, विषय, काव्यलक्षण, विश्वनाथ के मत में काव्यलक्षण, विश्वनाथ का द्रविड़ प्रणायाम, काव्य के भेद, शब्द, अर्थ, वृत्ति, गुण, दोष, अलङ्कार, रस, भाव, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, व्याभिचारीभाव आदि का विवेचन है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण का नाम स्वरूप निरूपण प्रकरण है। इसमें वाचक शब्द और उसकी वृत्ति का निरूपण, चेष्टा आदि में वाचकत्व का अभाव, नानार्थक शब्द की अप्रकृत अर्थ में अवाचकता, वाचक शब्द के भेद, वाच्यार्थ, व्यक्तिवादियों के मत का अभिप्राय और उसके खण्डन के साथ जात्यादि वादियों के मत की स्थापना, जात्यादिवाद में व्यक्ति के बोध का क्रम, उपाधिभेद चित्र, पदार्थ का प्राणप्रद सिद्धवस्तु धर्मरूप उपाधि, पदार्थ का विशेषाधान हेतु सिद्धवस्तु धर्मरूप उपाधि, साध्यवस्तु धर्म उपाधि, वक्तृ यदृच्छा सन्निवेशित रूप उपाधि, प्रथम मत पर आंशिक आक्षेप, द्वितीय मत का अभिप्राय, लाक्षणिक शब्द और उसकी लक्षणावृत्ति, लक्षणा का हेतु, उक्त कारण समुदाय के दो विभाग, रूढ़ि लक्षणा, प्रयोजन लक्षणा, गौणी, शुद्धा, सारोपा, साध्यवसाना, अजहत्स्वार्था या उपादान लक्षणा, गूढ़ा (गूढव्यङ्ग्य), अगूढ़ा (अगूढ़ व्यङ्ग्य), गौणवृत्ति में शब्द के लक्ष्यार्थ या प्रवृत्ति में मतभेद, गौणसारोप और साध्यवसान तथा शुद्ध सारोप और साध्यवसान का प्रयोजन विवेक, शुद्धा के सम्बन्धान्तरों से अन्य-अन्य उदाहरण, व्यञ्जक शब्द और उसकी वृत्ति आदि, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना वृत्ति, अभिधामूला और लक्षणामूला, आर्थीव्यञ्जना (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य सम्भवा), व्यञ्जनाओं की गम्भीरता का तारतम्य, आर्थीव्यञ्जना में सहायक, उक्त व्याख्याओं का निर्गलितार्थ (तीनों शब्द, तीनों अर्थ और तीनों वृत्तियाँ), चौथा शब्द उसकी वृत्ति और उसका अर्थ, अन्विताभिधानवादियों

का मत, दोष निरूपण, गुण और अलङ्कार, गुण, अलङ्कार, शब्दालङ्कार का शब्द के द्वारा रस की उपकारकता, उपमारूप अर्थालङ्कार को अर्थ के द्वारा रस की उपकारकता, रस के बिना भी अलङ्कार का सम्भव, रस के होने पर भी शब्दालङ्कार उसका उपकारक नहीं, रस के होने पर भी अर्थालङ्कार उसका उपयोगी नहीं, गुण के बिना अलङ्कार मात्र को काव्यव्यवहार की प्रवर्तकता, गुण के भेद, गुणों की शब्द और अर्थ में वृत्ति, गुणों के व्यञ्जक वर्ण आदि, उक्त नियम का भङ्ग, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और रस, विभावादिकों का निर्वचन, सामाजिकों का रसास्वादन, समूहालम्बनज्ञानरूप रस, विभावादि समूह अथवा शुद्ध ब्रह्म रस नहीं, रसानुभव, आवरण और बीज, रस का फलित स्वरूप, रस के लक्षण में भरतसूत्र और उसकी चार व्याख्याएँ, उनमें प्रथम भट्टलोल्लट का मत, श्री शङ्कुक का मत और पूर्वमत में अरुचि, उनका अभीष्ट रस का लक्षण, भट्टनायक का मत, श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्त का मत, अभिनवगुप्त के मत में प्रकृत पदार्थों का महत्त्व, स्थायीभाव या रस, विभावादिकों के समानस्थायीभाव भी साधारण, स्वाकार से रस की अभिन्नता, स्वाकार से अभिन्न रस की अगोचरता, रत्यादि स्थायीभाव के साथ सुखानुभवरूप रस की प्रतीति, रस की कार्यता और प्रत्येयता, सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान का अविषय रस, विभावादि एक-एक अलग होकर रस के व्यञ्जक क्यों नहीं?, विभावादिकों की तुल्यता का परिदर्शक चित्र, कहीं पर विभावादिकों में किसी एक से रस की अभिव्यक्ति, रसों पर स्थायी और व्यभिचारियों का विभाग, कुछ स्थायीभावों की व्यभिचारिता, सारसंग्रह (रसभेद), सम्भोग-शृङ्गार, विप्रलम्भ-शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स, अद्भुत, शान्त, ध्वनिकाव्य के शुद्ध भेदों के आवश्यक पदार्थों का विवरण, रस भाव (इनके नामकरण पर एक दृष्टि), प्रदीप में भाव का स्पष्टीकरण और उद्योत आदि में स्पष्टीकरण, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि का स्वरूप निरूपण, लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल, स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्ध- प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, उभयशक्तिमूल, अलङ्कार व्यङ्ग्य, पदगत, पदैकदेश, वर्णगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, रचनागत, सङ्कर, संसृष्टि, गुणीभूतव्यङ्ग्य के परिज्ञान में उपर्युक्त पदार्थों का निरूपण, अगूढ़ व्यङ्ग्य, अपराङ्ग व्यङ्ग्य, ध्वनि और गुणीभूत

व्यङ्ग्य का व्यवहार, वाच्य अर्थ में शब्दशक्तिमूल लक्ष्यक्रम की अङ्गता, वाच्य अर्थ में ही अर्थशक्तिमूल वस्तुरूप व्यङ्ग्य की अङ्गता, वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य, अस्फुट व्यङ्ग्य, सन्दिग्ध प्राधान्य व्यङ्ग्य, तुल्य प्राधान्य, काक्वाक्षिप्त, असुन्दर, व्यङ्ग्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेदों के प्रभेद, विजातीय काव्यमिश्रणभेद, (उक्त व्यवस्था के अनुसार) ध्वनि का ध्वनि के साथ मिश्रण, सूत्र और उसकी वृत्ति का अभिप्राय, वृत्ति पर टीकाकार इत्यादि विषयों का विवेचन है।

प्रकृत ग्रन्थ के तृतीय और अन्तिम प्रकरण का नाम "व्यञ्जना की स्थापना प्रकरण" है। इसमें व्यङ्ग्य या ध्वनि के संक्षिप्त भेद, रसादिवाच्य तथा लक्ष्य नहीं, निष्कर्ष, विभावादि पदों से अलक्ष्य, विशेष रूप से वादी के पराजय के लिए समुत्थान, वादी का सर्वथा व्यञ्जना का अस्वीकार और सिद्धान्ती का विशेष पदार्थ विवेक द्वारा उत्तर, पद वृत्तियों की विशेष सीमा का विवेचन और उससे व्यञ्जना की पृथक्ता, अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी के स्वीकृत वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य की पृथक्ता, अन्विताभिधानवादियों के मत में सङ्केत या शक्ति के ग्रहण की रीति, मतान्तर और उसका निराकरण, दूसरी आपत्ति और उसका समाधान, भट्टमत के अनुयायियों के मत का खण्डन, वादी की प्रथम युक्ति का खण्डन, श्रुति आदि पदार्थों का अर्थ, श्रुति आदि प्रमाणों के विरोधस्थल, श्रुति और लिङ्ग के विरोध में लिङ्ग का दुर्बलत्व, लिङ्ग और वाक्य के विरोध में लिङ्ग की बलवत्ता, वाक्य और प्रकरण के विरोध में वाक्य की बलवत्ता, प्रकरण और स्थान में प्रकरण की बलवत्ता, स्थान और समाख्या के विरोध में स्थान की बलवत्ता, 'कुरु-रुचिम्' इस दृष्यन्त से अन्वित अर्थ की व्यङ्ग्यता और इसी से उसकी पृथक्ता, नित्य दोष और अनित्य दोषों के विभाग से व्यङ्ग्य की पृथक्ता, पर्याय्य शब्दों की युक्ति से व्यञ्जना की सिद्धि, द्वारभेद से व्यङ्ग्य का भेद, स्वरूप भेद से व्यङ्ग्य भेद, वाच्य और व्यङ्ग्य के भिन्न-भिन्न द्वार, वाच्य की एकता और व्यङ्ग्य की बहुभेदता का एक विराट् उदाहरण, कारण के भेद से व्यङ्ग्य के भेद का चित्र, स्वरूप के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, काल के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, आश्रय के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, निमित्त के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, कार्य के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, सङ्ख्या के भेद से व्यङ्ग्य का भेद,

विषय के भेद से व्यङ्ग्य का भेद, वाचक और व्यञ्जक शब्द के भेद से वाच्य अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ का भेद, तात्पर्य की विषयता और अविषयता से वाच्य से व्यङ्ग्य का भेद, लक्ष्य अर्थ से व्यङ्ग्य का भेद, नियत-सम्बन्ध-व्यङ्ग्य, अनियत-सम्बन्ध व्यङ्ग्य, सम्बद्ध सम्बन्ध, प्रकारान्तर से लक्ष्य से व्यङ्ग्य का भेद, वेदान्तियों का मत और उसका खण्डन, महिमभट्ट का मत और उसका खण्डन, त्रिरूप लिङ्ग का निरूपण और उसकी व्यञ्जक के साथ समता इत्यादि विषयों का विवेचन है।

इस प्रकार पं० शास्त्री ने अपने दोनों ग्रन्थों में काव्याङ्गो पर विचार-विमर्श किया है। यद्यपि शास्त्री जी ने अपने स्वोपज्ञ लक्षण एवं उदाहरण न प्रस्तुत कर, आचार्य मम्मट के ही दिये हैं, तथापि इन्होंने अपनी टिप्पणियों के द्वारा विषय को सुगमता से समझाने के लिए उसका स्पष्टीकरण किया है। साहित्यसिद्धान्त नामक ग्रन्थ में तो विद्वान् आचार्य ने विषयों पर विस्तारशः व्याख्यान किया है। अनेक तथ्यों का खण्डन-मण्डन करते हुए अपने तर्कों को उपस्थापित किया है।

व्यञ्जनावाद

इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1936 ई० में वैशाली प्रेस मुजफ्फर पुर, बिहार से हुआ है। इसके प्रणेता पं० यदुनाथ मिश्र हैं।

(क) तार्किकालङ्कारिकचूड़ामणि नैय्यायिक पण्डित यदुनाथ मिश्र का जन्म सन् 1885 ई० में बिहार प्रान्त की मिथिला भूमि के अन्तर्गत मधुबनी जिले के लालगंज गाँव में हुआ था। इनके पिता पं० जयनाथ मिश्र श्रोत्रिय ब्राह्मण के 'सोदरपुर सरिसब' नामक वंश में उत्पन्न हुए थे, जिनके 11वें पूर्वज म० म० शङ्कर मिश्र थे। यदुनाथ मिश्र की आरम्भिक शिक्षा सरिसब गाँव की पाठशाला में हुई। इनके गुरु महावैय्याकरण पं० जुड़ाओन झा थे। उसके बाद उच्चशिक्षा पास के ही गंगौली गाँव में नैय्यायिकप्रवर म० म० लोकनाथ झा से प्राप्त कर नव्यन्याय के उच्चकोटिक विद्वान् हो गये।

इसके अनन्तर इन्होंने दरभङ्गा के समीप लक्ष्मीपुर विद्यालय में नव्यन्याय का अध्ययन किया। इनके अनेक शिष्य प्रसिद्ध विद्वान् हुए, जिनमें कुछ के

नाम हैं-पं० राधाकृष्ण झा (तरौनी वासी) तथा पं० इन्द्रकान्त झा आदि। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें प्रमुख हैं- "पदवाक्यरत्नाकर की अर्थदीपिका व्याख्या" (म० म० गोकुलनाथ उपाध्याय कृत ग्रन्थ की टीका) की, जिसके सम्पादक पं० नन्दीनाथ मिश्र हैं। यह ग्रन्थ सन् 1960 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है। न्यायसूत्र प्रदीप-यह ग्रन्थ अप्रकाशित है, व्यञ्जनावाद-यह ग्रन्थ सन् 1929 ई० में बिहार संस्कृत समिति, पटना से पुरस्कृत भी है। इस प्रकार संस्कृत सुरभारती की सेवा करते हुए सन् 1928 ई० में इनका देहावसान हो गया। इस विद्वान् के विषय में भी प्रो० शशि नाथ झा ने ही सूचना प्रदान की। अतः इनका समय सन् 1885 ई० से सन् 1928 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) व्यञ्जनावाद काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। 40 पृष्ठों में लिखित यह ग्रन्थ पूर्णतः गद्यमय है। इसमें विद्वान् आचार्य ने व्यञ्जनाशक्ति का विवेचन, उसकी आवश्यकता तथा महत्ता के अनुसार किया है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने नैय्यायिक शैली में अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि शब्दशक्तियों का स्वरूप निर्धारित करते हुए व्यञ्जना शक्ति को महत्त्व प्रदान किया है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार का कथन है-

कविसरणिमनुप्रविश्य यत्नाद्,
ध्वनिविषये निरणायि यन्मया तत्
निखिलमपि समर्पितं भवान्याः,
पदयुगले तनुयान्मनीषिमोदम्।।[1]

साहित्यमञ्जरी

यह कृति सन् 1938 ई० में महाराजा होलकर, संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर से प्रकाशित है। इसके रचयिता पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर हैं।

(क) पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर का जन्म 13 जून सन् 1888 ई० में महाराष्ट्र प्रान्त के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीवामन

---

1. व्यञ्जनावाद-अन्तिम पृष्ठ

एकनाथ शिन्दे तथा माता का नाम श्रीमती सरस्वती वामन शिन्दे था। इनकी पत्नी का नाम श्रीमती राधाबाई था। इनके पूर्वज प्रारम्भ में अपना उपनाम शिन्दे लिखते थे। कालान्तर में 'हसूरकरचम्पू' नामक ग्राम में रहने के कारण इनका उपनाम हसूरकर प्रसिद्ध हो गया। श्री हसूरकर ने सन् 1905 ई० में व्याकरण मध्यमा, सन् 1912 ई० में वङ्गीय-संस्कृत शिक्षा परिषद्, कलकत्ता की न्यायतीर्थ परीक्षा, सन् 1913 ई० में वेदान्ततीर्थ, सन् 1914 ई० में मीमांसातीर्थ तथा सन् 1915 ई० में ढाका विश्वविद्यालय की साङ्ख्यसागर परीक्षा प्रथम-श्रेणी में उत्तीर्ण की। शास्त्री जी महान् दार्शनिक, मेधावी विद्वान् तथा उत्तम वक्ता थे। इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की। सन् 1974 ई० में प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी (तत्कालीन आचार्य एवं अध्यक्ष, साहित्य विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस) के संयोजकत्व में आयोजित "अखिल भारतीय संस्कृत कवि समारोह" के तृतीय अधिवेशन में पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर जी के अभिनन्दन का सङ्कल्प किया गया था। इस हेतु पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने अभिनन्दन पत्र लिखा था। 20 अप्रैल सन् 1974 में ही संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् पं० रत्न श्रीपाद शास्त्री हसूरकर का धारा नगरी में देहावसान हो गया। पं० हसूरकर शास्त्री जी का समय विवाद रहित है। वर्तमान में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, मध्य प्रदेश के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष प्रो० केदार नारायण जोशी ने पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व पर शोधकार्य किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इनका समय सन् 1888 ई० से सन् 1974 ई० तक निर्धारित किया है।[1] यहं ग्रन्थ प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित है।

(ख) साहित्यमञ्जरी शास्त्री जी द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसके प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है-

नत्वा रसात्मकं देवं विचार्य सुधियां गिरः।
बालानां सुखबोधाय कुर्वे साहित्यमञ्जरीम्।।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल पाँच प्रकरण हैं, जिसमें पूर्वाचार्यों के लक्षण एवं उदाहरण सङ्कलित हैं। यत्र-तत्र शास्त्रीजी द्वारा लिखित संक्षिप्त टिप्पणी भी

1. श्रीपाद शास्त्री हसूरकरः व्यक्ति एवं अभिव्यक्ति- पृ० सङ्ख्या- 53
2. साहित्यमञ्जरी- पृ० सङ्ख्या-1

उल्लिखित है, जिससे दुरूह स्थल सरल हो गये हैं। इस ग्रन्थ के समग्र प्रकरणों में विवेचित विषय सामग्री इस प्रकार है–

(1) सामान्य-प्रकरण– इस प्रकरण में काव्यफल, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्यभेद, रस स्वरूप तथा रस भेद का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव, नायक-नायिका, प्रतिनायक एवं उद्दीपन विभाव का लक्षण और गुणालङ्काररीति आदि काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व वर्णित हैं।

(2) दोष-प्रकरण– इसमें दोष स्वरूप, पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थ-दोष तथा रसदोष, इन पञ्चविध दोषों और उसके प्रभेदों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है।

(3) गुण-रीति-प्रकरण– इसमें विविध गुणों तथा चतुर्विध रीतियों के लक्षण तथा उदाहरण उल्लिखित हैं।

(4) अलङ्कार-प्रकरण– यह प्रकरण इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा प्रकरण है। इसमें अलङ्कार का सामान्य लक्षण, नव (9) शब्दालङ्कारों तथा सौ (100) अर्थालङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। यत्र-तत्र संक्षिप्त टीका के माध्यम से उदाहरणों का स्पष्टीकरण भी किया गया है।

(5) वृत्त-प्रकरण– यह प्रकरण साहित्यमञ्जरी का अन्तिम प्रकरण है। इसमें 16 प्रसिद्ध छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण उल्लिखित हैं। इस प्रकरण की समाप्ति के साथ ही प्राचीन ग्रन्थों के सारांश को संग्रहीत कर लिखी गयी यह कृति पूर्ण हो जाती है। प्रस्तुत कृति में काव्यशास्त्रीय प्रमुख तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें आचार्य ने काव्यशास्त्र की पूर्व परम्परा का ही अनुसरण करते हुए काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर अपने विचार को प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं लेखक ने दुरूह विषयों के स्पष्टीकरण हेतु अपनी संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत की है। विशेषतः आचार्य ने मम्मट एवं विश्वनाथ के लक्षणों को ही उपस्थापित कर अपने स्वरचित उदाहरण दिये हैं।

भक्तिरसार्णव

यह ग्रन्थ सन् 1940 ई० में भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित है। इसके प्रणेता स्वामी करपात्री जी हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन न्याय वेदान्त-साहित्याचार्य एम्० ए० उपाधिधारी श्रीगोविन्द नहरि वैजापुरकर ने किया है, जो सूर्योदय पत्रिका के सम्पादक हैं।

(क) स्वामी करपात्री जी का जन्म सन् 1907 ई० में ग्राम भटनी, जिला प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके बचपन का नाम हरनारायण था तथा इनके पिता का नाम पं० रामनिधि ओझा था। स्वामी करपात्री जी महान् सन्त और लोक नेता के रूप में विख्यात थे। इनका पूरा नाम स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती था। भिक्षा हेतु पात्र परित्याग के कारण इनका नाम करपात्री पड़ा। सात वर्ष की अल्पायु में सन् 1916 ई० में इनका विवाह प्रतापगढ़ जनपद के खण्डवा ग्राम निवासी पं० रामसुचित जी की पुत्री कुमारी महादेवी जी से सम्पन्न हुआ। इनकी वैराग्य निष्ठा के कारण इनकी पत्नी ने स्वेच्छा से स्वामी जी के मार्ग में बाधक न बनते हुये इनका मार्ग छोड़ दिया। स्वामी जी संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे तथा इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना भी की जिनके कारण इन्हें अनेक उपाधियों तथा पुरस्कारों से सम्मानित भी किया गया। सन् 1974 ई० में प्रकृत ग्रन्थ (भक्तिरसार्णव) पर उत्तर प्रदेश शासन शिक्षा विभाग द्वारा राज्यसाहित्यिक पुरस्कार प्रदान किया गया। सन् 1985 ई० में इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके ग्रन्थ वेदार्थपारिजात को तत्कालीन राज्यपाल द्वारा पुरस्कृत किया गया। सन् 1979 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलपति पं० बद्रीनाथ शुक्ल द्वारा उन्हें वाचस्पति की मानद् उपाधि प्रदान की गई, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा उन्हें संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् के रूप में 11 हजार रूपये के पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा स्वामी जी को डाक्टरेट (Ph.D) की उपाधि भी प्रदान की गई थी। माघ शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार 7 फरवरी सन् 1982 ई० में स्वामी जी का देहावसान हो गया। इनके समय के विषय में भी कोई विवाद नहीं है। डॉ० रघुनाथ शर्मा, दूरस्थ शिक्षा संस्थान, संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के शोध निर्देशन में स्वामी जी के व्यक्तित्त्व एवं

कृतित्त्व पर शोधकार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें इनके जन्म तथा देहावसान की तिथि अङ्कित है। अतः इस आधार पर स्वामी जी का समय सन् 1907 से सन् 1982 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) भक्तिरसार्णव स्वामी जी द्वारा विरचित भक्तिपरक ग्रन्थ है, किन्तु भक्तिरस के काव्यशास्त्र का विषय होने से इसे काव्यशास्त्रीय परम्परा में परिगणित किया गया है। इस ग्रन्थ में कुल 11 अनुच्छेद हैं। इसके प्रथम अनुच्छेद में भजनीय तत्त्व का विवेचन किया गया है। द्वितीय में भजनीय तत्त्व केवल शास्त्र से ही (समधिगम्यत्व) प्राप्तव्य है, तृतीय में भजनीय तत्त्व के सम्बन्ध में मतान्तर और सिद्धान्त, चतुर्थ में कृष्ण का प्राधान्य और अपालासूक्त का तात्पर्य, पञ्चम अनुच्छेद में राधाकृष्ण का वेदादि शास्त्र से प्रतिपाद्यत्व, षष्ठ अनुच्छेद में वृषाकपि सूक्त के द्वारा विष्णु महात्म्यातिशय का इन्द्र की अपेक्षा परवर्तितत्व नहीं, सप्तम में पुरुषसूक्त और देवीसूक्त का परम तात्पर्य, अष्टम में रस-स्वरूप पर विचार-विमर्श तथा भक्तिरस का विवेचन है। नवम में भगवद्धाम- रूपादि का परम ब्रह्मात्मकत्व, दशम में निराकार ब्रह्मप्रतिपत्ति में भी भक्तिरूपत्वता तथा अन्तिम एकादश परिच्छेद में भक्ति-मुक्तिशताधिका इत्यादि विषयों पर स्वामी जी ने तर्क सङ्गत विवेचन किया है।

प्रकृत ग्रन्थ में प्रथमतः भजनीयतत्त्व के रूप में ईश्वरसिद्धि का विवेचन किया गया है। इस सन्दर्भ में स्वामी जी ने उदयनाचार्य के काल से प्रचलित परम्परागत समस्त तर्कों और वादों को प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार अन्यान्य विषयों पर अपनी पैनी दृष्टि का प्रहार करते हुए स्वामी जी ने रस की अलौकिकता के सिद्धान्त को अग्निपुराण के अनुसार प्रस्तुत किया है। रूप गोस्वामी आदि की भाँति स्वामी जी ने भी भक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है तथा उसको भाव मानने वाले ध्वनिवादी आचार्यों का खण्डन किया है।

रसचन्द्रिका

प्रस्तुत ग्रन्थ सन् 1940 ई० (1347 फसलीसाल) में द्वारबङ्ग (दरभङ्गा) स्थित विद्यापति यन्त्रालय से पं० द्वारिकानाथ झा (काव्यतीर्थ) के द्वारा प्रकाशित

किया गया तथा सन् 2002 ई० में इसका नवीन संस्करण पुरी, उड़ीसा से प्रकाशित है। इस संस्करण का सम्पादन डॉ० उदयनाथ झा 'अशोक' ने किया है। डॉ० उदयनाथ झा व्याकरण, साहित्य, आचार्य, एम्० ए० (संस्कृत) तथा विद्यावारिधि एवं साहित्यरत्न की उपाधि से विभूषित, सम्प्रति श्री सदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ पुरी, उड़ीसा में संस्कृत विभाग में प्रवाचक हैं। इन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के रचना का समय सन् 1920-22 के मध्य बतलाया है। यह सूचना इन्हें प्रस्तुत कृति के लेखक के पौत्र डॉ० शान्तिनाथ झा (शर्मा) ने दी थी तथा सम्पादनार्थ अनुपलब्ध रसचन्द्रिका की प्रति उपलब्ध करायी थी। रसचन्द्रिका ग्रन्थ के लेखक पं० लेखनाथ झा हैं।

(क) पं० लेखनाथ झा का जन्म सन् 1886 ई० में बिहार प्रान्त में मधुबनी मण्डल के अन्तर्गत 'सरिसब' ग्राम में हुआ था। ये खौआलवंशीय सिमरवार शाखा में उत्पन्न काश्यपगोत्रवंशीय मैथिल श्रोत्रिय श्रीगोपी नाथ झा (उपाध्याय) के पुत्र तथा श्री लज्जानाथतीर्थनाथ के अनुज थे। इनकी माता का नाम निर्मला देवी था। रसचन्द्रिका ग्रन्थ की पुष्पिका में स्वयं कवि ने कहा है-

> यत्राऽस्यां तीरभुक्तौ विदित सरिसब ग्रामरत्ने महान्तो
> जाताः श्रीशङ्कराद्याः प्रमुखकृतिवरा मण्डनाद्याश्च धीराः।
> श्रीगोपीनाथ शर्म्मा प्रथितपृथुयशाः श्रोत्रियस्तत्रजात-
> श्चक्रेतस्यात्मजन्मा कविरतिसरसां चन्द्रिकां लेखनाथः।।[1]

कवि झा जब तीन वर्ष के थे तभी इनके पिता जी का देहावसान हो गया तथा इनकी शिक्षा-दीक्षा इनके मामाश्री 'हर्षीबाबू' ने पूर्ण करायी। अपनी प्रतिभा तथा कार्यकुशलता के आधार पर पं० झा सन् 1929-1962 ई० तक महाराजाधिराज श्रीमन्मिथिलेश कामेश्वरसिंह के द्वारा दरभङ्गा के और अनन्तर राजनगर के सुन्दरहर्म्य-प्रबन्धक (Palacemanager) नियुक्त किये गये थे। राधास्वामी सम्प्रदाय के परमवैष्णव इस कवि ने न केवल संस्कृत मैथिली भाषाओं में अपितु हिन्दी, उर्दू, तथा व्रजभाषा में भी प्रचुर साहित्य की रचना की। वर्षाहर्षकाव्य, श्रीकृष्णगीतावली, रसचन्द्रिका, देवीस्तोत्रम्, मानसपूजाकाव्य

---

1. रसचन्द्रिका-प्रारम्भिक भाग

आदि इनके मौलिक ग्रन्थ हैं। म० म० कविकोविद् वेणीदत्त शर्मा (झा) प्रणीत रसकौस्तुभाभिधः आदि ग्रन्थों का इन्होंने सम्पादन भी किया था। काश्यपकुलप्रशस्ति में कविशेखर पं० बदरीनाथ झा (शर्मा) ने प्रकृत कवि के सम्बन्ध में लिखा है –

वह्निग्रहाक्षिरजनीश (1293) मिते सनाब्देवह्नि
मासे शुचौ यमतिथौ बहुले च पक्षे।
प्रेक्षा-परिष्कृतमतिर्यशसा सनाथः
शस्याकृतिस्तदनुजोऽजनि लेखनाथः।।
मिथिलापृथिवीपालवंशसारसभास्वतः।
श्रीहरीश्वरसिंहस्य यः पुत्रीं परिणीतवान्।।
वर्षाहर्षदेवीमानसपूजास्तवञ्च मृदुलं यः।
रचयाञ्चकार भासुर भव्य प्रतिभो मनोरमं काव्यम्।।
श्रीकृष्णगीतावलिमव्यलीको भाषामयीं रागविशेष रम्याम्।
रमेश्वरं भूपतिमाश्रितोऽसौ प्राचीकशात्साधु विधाय धीरः।।[1]

संस्कृत काव्यविद्या के मर्मज्ञ पण्डित लेखनाथ झा का सन् 1965 ई० में देहावसान हो गया। यह तिथि प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लिखित भी है, परन्तु इस ग्रन्थ के सम्पादक से वार्ता के अनन्तर इनका समय सन् 1886 ई० से सन् 1965 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) रसचन्द्रिका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रकृत ग्रन्थ में रस भेद और शृङ्गार के उद्दीपन विभाव तथा नायक-नायिका आदि का निरूपण किया गया है।

नायिका निरूपण– इसके अन्तर्गत स्वकीया के लक्षण, स्वकीया भेद, मुग्धा, नवोढा, विश्रब्ध नवोढा, मध्या, मध्याधीरा, मध्याधीराऽधीरा, प्रगल्भा, ज्येष्ठाकनिष्ठा, धीराऽधीरा, परकीया लक्षण, परोढा-कन्यका, नायिका भेद, सामान्या लक्षण, दशान्तरान्नायिका भेद, प्रोषितभर्तृका, विप्रलब्धा, खण्डिता, उत्का, वासकसज्जिका, कलहान्तरिता, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका,

---

1. काश्यपकुलप्रशस्ति-श्लोक-199-202 तथा रसचन्द्रिका- प्रारम्भिक भाग

प्रोष्यत्पतिका, उत्तमा, मध्यमा, अधमा, दूती, दूत्याभेदगर्भ आदि का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

नायक निरूपण– इसके अन्तर्गत पति लक्षण, नायक भेद, अनुकूलनायक, दक्षिण नायक, शठ, धृष्ठ, उपपति, वैशिक, उत्तम, मध्यम, अधम, शठभेद लक्षण, प्रोषित पति के लक्षण, अनभिज्ञ, चेटकादि लक्षण, चेटक, पीठमर्द, विट, विदूषक आदि का लक्षण तथा उदाहरण सहित निरूपण किया गया है।

रसचन्द्रिका 20वीं शताब्दी में विरचित काव्यशास्त्रीय कृति है। इसमें रसभेद, श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव तथा नायक-नायिकाओं के भेद-प्रभेद को पं० लेखनाथ झा ने अपने स्वोपज्ञ लक्षण तथा उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ की भाषा सरल तथा प्रसादमयी है, जिससे कवि के पद्यों का अनायास ही बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ के अन्तिम परिशिष्ट भाग में कवि द्वारा विरचित वर्षाहर्षकाव्य को भी प्रस्तुत किया गया है।

लोकमान्यालङ्कार

इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1941 ई० में तोपखाना घर नं०-12, गली नं०-2, इन्दौर मध्य प्रदेश से हुआ है। इसके प्रणयनकर्त्ता श्री गजानन शास्त्री करमलकर हैं।

(क) गजानन शास्त्री करमलकर का पूरा नाम पं० रत्न गजानन रामचन्द्र करमलकर शास्त्री था। ये काव्यतीर्थ, साङ्ख्यतीर्थ तथा साधारणतीर्थ, साङ्ख्ययोग प्रभृति उपाधियों से समलंकृत अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। श्री शास्त्री महाराजा होलकर संस्कृत महाविद्यालय, इन्दौर में प्रधानाध्यापक थे। ये सम्भवतः होलकर साम्राज्य राजापुर, इन्दौर के रहने वाले थे। यह सूचना इनके ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग से उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। इनके ग्रन्थ के आधार पर इनका समय 20वीं शताब्दी ही रहा होगा। विद्वान् आचार्य लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के परमभक्त थे, क्योंकि उनकी प्रशंसा में इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अधोलिखित पद्य लिखा है–

हृद्यं चरित्रं तिलकस्य नित्यं
बोद्धुं तथालंकृतिसत्स्वरूपम्।
एकः प्रयत्नोविहिता मया हि
एका क्रिया ह्यर्थकरी प्रसिद्धा।।[1]

(ख) लोकमान्यालङ्कार शास्त्री जी द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें विद्वान् आचार्य ने 100 अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) उपमा (2) अनन्वय (3) उपमेयोपमा (4) प्रतीप (5) रूपक (6) परिणाम (7) उल्लेख (8) स्मृति (9) भ्रान्ति (10) सन्देह (11) अपह्नुति (12) उत्प्रेक्षा (13) अतिशयोक्ति (14) तुल्योगिता (15) दीपक (16) आवृत्तिदीपक (17) प्रतिवस्तूपमा (18) दृष्यन्त (19) निदर्शना (20) व्यतिरेक (21) सहोक्ति (22) विनोक्ति (23) समासोक्ति (24) परिकर (25) परिकराङ्कुर (26) श्लेष (27) अप्रस्तुतप्रशंसा (28) प्रस्तुताङ्कुर (29) पर्यायोक्त (30) व्याजस्तुति (31) व्याजनिन्दा (32) आक्षेप (33) विरोधाभास (34) विभावना (35) विशेषोक्ति (36) असम्भव (37) असङ्गति (38) विषम (39) सम (40) विचित्र (41) अधिक (42) अल्प (43) अन्योन्य (44) विशेष (45) व्याघात (46) कारणमाला (47) एकावलि (48) मालादीपक (49) सार (50) यथासङ्ख्य (51) पर्याय (52) परिवृत्ति (53) परिसङ्ख्या (54) विकल्प (55) समुच्चय (56) कारकदीपक (57) समाधि (58) प्रत्यनीक (59) अर्थापत्ति (60) काव्यलिङ्ग (61) अर्थान्तरन्यास (62) विकस्वर (63) प्रौढोक्ति (64) संभावना (65) मिथ्याध्यवसति (66) ललित (67) प्रहर्षण (68) विषादन (69) उल्लास (70) अवज्ञा (71) अनुज्ञा (72) लेश (73) मुद्रा (74) रत्नावलि (75) तद्गुण (76) पूर्वरूप (77) अतद्गुण (78) अनुगुण (79) मीलित (80) सामान्य (81) उन्मीलित (82) विशेषक (83) उत्तर (84) सूक्ष्म (85) पिहित (86) व्याजोक्ति (87) गूढ़ोक्ति (88) विवृतोक्ति (89) युक्ति (90) लोकोक्ति (91) छेकोक्ति (92) वक्रोक्ति (93) स्वभावोक्ति (94)

1. लोकमान्यालङ्कार– प्रस्तावना भाग

भाविक (95) उदात्त (96) अत्युक्ति (97) निरुक्ति (98) प्रतिषेध (99) विधि तथा (100) हेतु।

इस ग्रन्थ में प्रदत्त अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण आचार्य के मौलिक हैं। इन लक्षणों की रचना आचार्य ने अनुष्टुप् छन्द में की है तथा उदाहरणों में अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है। इस कृति का प्रमुख वैशिष्ट्य यह है कि इसमें विद्वान् आचार्य ने समस्त अलङ्कारों के उदाहरण शृङ्गारपरक न रचकर राष्ट्रभक्ति और स्वतन्त्रता-आन्दोलन से सम्बन्धित रचे हैं। विशेषतः लोकमान्यबालगङ्गाधर तिलक के चरित्र तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उनकी भूमिका का निर्धारण करने वाले पद्य हैं। इस बात का उद्घोष करते हुए आचार्य ने अपनी कृति के प्रारम्भ में लिखा है-

दृष्टान्ताः प्रायशोग्रन्थे दृष्टाः शृङ्गारसेविनः।
असंस्कृतां वालबुद्धिं विकुर्यरिति चिन्तया।।
शृङ्गाररसवर्ज्या ये राष्ट्रभक्ति प्रबोधकाः।
हितावहा मया प्रोक्ता लोकमान्या विशेषतः।।
भाविस्वराज्यगेहस्य स्तम्भो यूनां गणो दृढः।
अनेन मम कार्येण तुष्योदिति दृढं मतम्।।
गच्छतः स्खलनं नूनं भासेत मम यत् कृतौ।
सन्तस्तत् क्षन्तुमर्हन्ति क्षमाशीला हि साधवः।।[1]

साहित्यविमर्श

यह ग्रन्थ सन् 1951 ई० में तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम् प्रेस, तिरुपति से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा हैं।

(क) व्याकरण साहित्यविद्या प्रवीण आदि उपाधियों से समलंकृत श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा श्री वेङ्कटेश्वर महाविद्यालय, तिरुपति में प्राधानाध्यापक तथा व्याकरण एवं साहित्य के विद्वान् थे। इनके पिता का नाम श्री रामबुध तथा माता का नाम सत्याम्बा था। इसकी सूचना इनके अधोलिखित पद्य से प्राप्त होती है-

---

1. लोकमान्यालङ्कार- प्रस्तावना भाग

श्रीरामबुधसत्याम्बानामकौ पितरौ सदा।
भक्तिप्रह्वेन मनसा भावयामि शुभावहौ।।[1]

इन्होंने सन् 1945-46 में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इनके समय के सम्बन्ध में जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। इनके ग्रन्थ के आधार पर इनका समय 20वीं शताब्दी ही रहा होगा।

(ख) साहित्यविमर्श आचार्य शर्मा की मौलिक कृति है, जो तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इसके प्रथम परिच्छेद का नाम सामान्य-परिच्छेद है, जिसमें विद्वान् आचार्य ने शास्त्रलक्षण, साहित्यपदार्थ प्रतिपादन, शास्त्र कौन है? साहित्य किसका नाम है? शास्त्रतत्त्व समर्थन तथा साहित्य शास्त्रावतार आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया है। विशेषपरिच्छेद नामक द्वितीय परिच्छेद में कविप्रशंसा, काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यनिषेधदूषण आदि विषयों का विवेचन किया गया है। अन्तिम तृतीय परिच्छेद का नाम सङ्कीर्ण परिच्छेद है। इसमें आचार्य ने काव्यात्मवाद तथा इसके अनुयायियों का विशद्ता के साथ विवेचन किया है।

यह ग्रन्थ गद्य शैली में लिखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय के प्रस्तुतीकरण हेतु आचार्य ने कारिकाओं की रचना नहीं की है, अपितु गद्यात्मक शैली में ही सारा विवेचन किया है। काव्यशास्त्रीय पूर्ववर्ती परम्परा का विवेचन करते हुए विद्वान् आचार्य ने काव्यशास्त्रीय प्रमुख तत्त्वों पर अपने मौलिक विचारों को अभिव्यक्त किया है।

साहित्यसार

यह ग्रन्थ सन् 1952 ई० में तिरुमलै तिरुपति देवस्थानम् प्रेस, तिरुपति से ही प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता सर्वेश्वर कवि हैं।

(क) सर्वेश्वर कवि के सम्बन्ध में विशेष सूचना नहीं प्राप्त हो सकी। परन्तु उनकी प्रकृत कृति के कतिपय पद्यों में उनसे सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है, जिससे प्रतीत होता है कि विद्वान् कवि विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे। इस ग्रन्थ के सम्पादक मानवल्लि रामकृष्ण कवि ने 'संस्कृतग्रन्थतत्कर्तृपट्टिका' में

---

1. साहित्यविमर्श- प्रारम्भिक भाग

साहित्यसार नाम से तीन ग्रन्थों का उल्लेख पाया था, जिसमें प्रथम विश्वेश्वर विरचित काव्यरूप है तथा द्वितीय मानसिंह द्वारा विरचित आलङ्कारिक ग्रन्थ है। तीसरा ग्रन्थ कर्तृ निर्देश रहित आलङ्कारिक ग्रन्थ है, जो सर्वेश्वर कवि का ही है, ऐसा इस ग्रन्थ के पद्यों से ज्ञात होता है–

अशेषख्यातसाहित्यसारनिष्णातमानसः।
सर्वेश्वर इति ख्यातः कविर्जयतिभूतले।।[1]

इसके अतिरिक्त षष्ठ प्रकाश के एक अन्य पद्य में भी कहा गया है–

सदृढ़रचितबन्धस्साधु सर्वेश्वरेण,
प्रथितभरतशास्त्रप्राप्तभूषाविशेषः।
मृदुतरपदशय्याशोभितषश्चदुच्चैः,
सरसमनसि भूयादेष साहित्यसारः।।[2]

इस ग्रन्थ के सम्पादक एम्० ए० उपाधि प्राप्त मानवल्लि रामकृष्ण कवि श्री वेङ्कटेश्वर प्राच्यविद्या परिशोधनालय में संस्कृत-प्रधान-विमर्शक के पद पर अधिष्ठित थे। यह सूचना इन्होंने ग्रन्थ के भूमिका भाग में दी है–

अस्य साहित्य सारस्य सङ्ख्या सर्वेशकल्पिता।
भवेदष्टाधिकेवात्र षटशती सुमनोहरा।।
सर्वेशकविः कर्त्ता साहित्यसाररचनायाः।
श्रीवामराशिदेवो यस्य गुरुर्मुनिवराधीशः।।[3]

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकाश के अन्तिम श्लोक में कवि ने अपना नामोल्लेख किया है। इनके भी समय के विषय में निश्चित जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। इस ग्रन्थ की सूचना के आधार पर ये 20 वीं शताब्दी में ही रहे होंगे।

(ख) यह ग्रन्थ नाट्यलक्षणात्मक है तथा छः प्रकाशों (अध्यायों) में विभक्त है। इसके प्रथम प्रकाश में नाटक, प्रकरणादि के भेदों, नाटक लक्षण,

---

1. साहित्यसार- प्रथम-प्रकाश- कारिका-5
2. साहित्यसार- षष्ठ प्रकाश- पद्य संङ्ख्या- 64
3. साहित्यसार- ग्रन्थ का अन्तिम भाग, पृ०-62

नान्दी, प्रस्तावना का लक्षण, सन्धि और सन्ध्यङ्ग आदि के लक्षणों का विवेचन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में भारती आदि वृत्तियाँ, उनके अङ्ग, पच्चीस (25) प्रकार के पद दोषों, सोलह (16) प्रकार के वाक्य दोष, सात (7) प्रकार के वाक्यार्थ दोष, दश (10) प्रकार के काव्यगुण तथा तीस (30) प्रकार के अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। तृतीय प्रकाश में छत्तीस (36) प्रकार के काव्यगुणों तथा पात्र सम्बोधन आदि के नियमों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में नायक-नायिका तथा दूती आदि के भेद और उनके लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। पञ्चम प्रकाश में रस भावादि के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। अन्तिम षष्ठ प्रकाश में नाटक, प्रकरण आदि दशरूपकों का विद्वान् कवि ने लक्षण प्रस्तुत करते हुये इसका विवेचन किया है।

प्रकृत ग्रन्थ के अनुष्टुप् छन्द में विरचित 605 श्लोकों में आचार्य सर्वेश्वर कवि ने भरतमुनि आदि नाट्याचार्यों द्वारा विवेचित नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के सारांश को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय तथा नाट्यशास्त्रीय प्रमुख तत्त्वों का श्लोकबद्ध लक्षण और विवेचन किया गया है।

साहित्यबिन्दु

यह ग्रन्थ मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिसर्स 4225-ए, 1-अन्सारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली से सन् 1961 ई० में प्रकाशित है। इसके प्रणेता आचार्य छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर हैं।

(क) आचार्य छज्जूराम शास्त्री का जन्म सन् 1905 ई० में शेखपुर लावला, करनाल (कुरुक्षेत्र) में हुआ था। इनके पिता का नाम मोक्षराम मनसाराम नन्हुराम जी था, जो मूलतः कृषक थे तथा उनकी माता का नाम मामकी देवी था। इनसे सम्बन्धित विवरण प्रकृत ग्रन्थ की निम्न कारिकाओं में भी प्राप्त होता है-

श्रीगणेशं नमस्कृत्य मामकी नाम मातरम्।
पितरं मोक्षरामह्वं मूलचन्द्रं च सोदरम्।।
जिन्दपुर्यां रविक्रोशे जामणीग्राम सन्निधौ।
महामहोपाध्यायेन विद्यासागरशास्त्रिणा।
गौड़पण्डितवर्येण छज्जूरामेण शर्मणः।।

साहित्यसारमादाय साहित्यागम-विस्तरात्।
साहित्यबिन्दुः क्रियते साहित्यज्ञान वृद्धये।।[1]

आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने लगभग 40 वर्ष तक जींद, लायलपुर, महेन्द्रगढ़ तथा कुरुक्षेत्र नगरों के महाविद्यालयों में प्रधानाध्यापक रहते हुए अध्यापन कार्य किया। सन् 1920 ई० में गोवर्धन मठाधीश जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीभारती कृष्णतीर्थ ने आपको 'विद्यासागर' पदवी से समलंकृत किया। 'संस्कृतेतिहास' नामक ग्रन्थ पर सन् 1960 ई० में विश्वविद्या प्रतिष्ठान, बम्बई द्वारा इन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की गई। अखिल भारतीय संस्कृत प्रचारक मण्डल की ओर से संस्कृत सेवा के लिए इन्हें तत्कालीन मुख्यमंत्री द्वारा (5000 रूपये के पुरस्कार से) पुरस्कृत किया गया था। सन् 1961 ई० में आकाशवाणी दिल्ली में शास्त्री जी वेदों पर भाषण दिया करते थे तथा उसी समय भारतीय विद्याभवन, दिल्ली में सम्मानित प्राध्यापक भी थे। आचार्य शास्त्री ने काव्य-नाट्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की तथा कई ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखीं। सुरतानचरित्रकाव्य, दुर्गाभ्युदयनाटक, साहित्यबिन्दु तथा संस्कृतसाहित्येतिहास (विवुधरत्नावली) आदि इनकी मौलिक कृतियाँ हैं।

आचार्य छज्जूराम शास्त्री के पुत्र का नाम जीवनराम शास्त्री था, जो पिता की ही भाँति संस्कृत विद्या के ज्ञाता थे तथा उन्होंने अपने पिता जी के ग्रन्थों का सम्पादन भी किया। जीवनराम शास्त्री की पत्नी का नाम कलावती है, जो गृहस्थ महिला हैं। जीवनराम शास्त्री जी के पुत्र का नाम दीपक शास्त्री है, जो अपने पिता के ईकलौते पुत्र हैं तथा इनकी पाँच पुत्रियाँ हैं, जिनका नाम क्रमशः- (1) रेखा (2) रजनी (3) रमा (4) पूजा तथा(ऽ) रचना है। दीपक शास्त्री की पत्नी का नाम मीनाक्षी है तथा इस दम्पति के पुत्र का नाम उज्ज्वल है। आचार्य छज्जूराम शास्त्री का पूरा परिवार वर्तमान में 4/65, बगीची माधव दास (लालकिला के पास) दिल्ली में निवास करता है। परन्तु दैवीय विडम्बना है कि आचार्य शास्त्री द्वारा रचित एक भी साहित्य इनके घर में मौजूद नहीं है। इनके समय निर्धारण के सम्बन्ध में यद्यपि कठिनाईयों का

---

1. साहित्यबिन्दु- प्रथमबिन्दु- कारिका-1-4

सामना करना पड़ा, तथापि येन–केन प्रकारेण इनकी प्रथम पौत्री रजनी (भद्रा) के द्वारा इनके देहावसान के वर्ष का पता चल जाने के बाद निर्विवादतः इनका समय सन् 1905 ई० से लेकर सन् 1979 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) साहित्यबिन्दु नामक ग्रन्थ पाँच बिन्दुओं में विभक्त है, जिसके प्रथम बिन्दु में काव्यलक्षण, काव्यफल, काव्यनिर्माण समय, काव्यकारण, काव्यभेद, रूपक लक्षण, रूपक भेद, नाटक लक्षण, पूर्वरङ्ग लक्षण, नान्दी लक्षण, प्रस्तावना लक्षण, विष्कम्भक–प्रवेशक लक्षण, कञ्चुकि–विदूषक लक्षण, नाट्योक्ति लक्षण, काव्य–संहार प्रशस्ति–लक्षण, भाषा–विभाग, श्रव्यकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा चम्पू काव्यादि का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय बिन्दु में शब्दार्थत्रैविध्य, वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक लक्षण, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना लक्षण, रस लक्षण, रस में प्रमाण, विभावानुभावव्यभिचारि लक्षण, रस–भेद, रसाभास तथा भावशान्त्यादि का विवेचन किया गया है। तृतीय बिन्दु में काव्यदोष लक्षण, काव्य दोष भेद, वाक्य दोष, अर्थ दोष, रस दोष तथा अदोषत्वादि का विवेचन किया गया है। चतुर्थ बिन्दु में रीति–भेद, रीति–लक्षण, गुण–विभाग, माधुर्य, ओज और प्रसाद तथा इन्हीं तीनों में अन्य का अन्तर्भाव तथा माधुर्यादि गुण व्यञ्जक विषयों का विवेचन किया गया है। अन्तिम पञ्चम बिन्दु में अलङ्कारों का लक्षणोदाहरण–पूर्वक विवेचन किया गया है।

यह ग्रन्थ इस सदी का महत्त्वपूर्ण आलङ्कारिक ग्रन्थ है। इसमें नाट्यशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय प्रमुख तत्त्वों का विस्तार सहित विवेचन किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है– (1) कारिका (2) वृत्ति (3) उदाहरण और (4) उदाहरण विवरण। इनमें कारिका, वृत्ति और विवरण लेखक के स्वरचित हैं तथा उदाहरण कहीं–कहीं अन्य ग्रन्थों से भी संग्रहीत हैं।

अभिनवकाव्यप्रकाश

यह ग्रन्थ दो भागों में अलग–अलग समय में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम खण्ड का प्रकाशन सन् 1966 ई० में व्यास बन्धु प्रकाशन उदयपुर से हुआ है तथा द्वितीय खण्ड का प्रकाशन सन् 1985 ई० में प० गिरिधरलाल शास्त्री व्यासाश्रम– 22/118, ब्रह्मपोल, उदयपुर, राजस्थान से हुआ है। इसके प्रणेता पं० गिरिधर लाल व्यास शास्त्री हैं।

(क) पं० गिरिधर लाल शास्त्री का जन्म सन् 1893 ई० में उदयपुर, राजस्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोवर्धन लाल तथा माता का नाम श्रीमती रत्नाबाई था। शास्त्री जी के जन्म के सम्बन्ध में प्रतापदुर्ग के पं० श्रीजगन्नाथ शास्त्री ने लिखा है–

वर्षे व्योमशराङ्क- भू परिमिते श्रीवैक्रमे सौख्यदे
मासे कृष्णमघैर्दिवाकरयुते चैकादशीवासरे।
नाना-नव्यनिबन्ध-निर्मितकरः प्रत्नेतिवृताकरः
साहित्योदधि-मन्दरो गिरिधरः शास्त्री जनिं लब्धवान्।।[1]

शास्त्री जी की अध्ययन के प्रति विशेष रुचि थी। शिक्षा–दीक्षा के उपरान्त सन् 1914 ई० में जहाजपुर में 20 रुपये वेतन पर इनकी नियुक्ति अध्यापक के रूप में हुई। 2 वर्ष तक यहाँ अध्यापन करने के अनन्तर इनका स्थानान्तरण सन् 1916 ई० में भीलवाड़ा मिडिल स्कूल में हो गया। 7 वर्ष के अध्यापन के बाद सन् 1923 ई० में इनकी नियुक्ति उदयपुर के भूपाल नोवल्स विद्यालय में हुई। सन् 1928 ई० से सन् 1933 ई० तक शास्त्री जी महाराणा संस्कृत महाविद्यालय में व्याकरण के शिक्षक भी रहे। इन्होंने हिन्दी, संस्कृत तथा राजस्थानी (मेदपाटीय) भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हिन्दी में भागवत्रहस्य, हिन्दी सरल व्याकरण, जातीय इतिहास तथा श्री दुर्गाजी आदि प्रमुख हैं। राजस्थानी भाषा में प्रणवीरप्रताप, मेघदूत का अनुवाद, शकुन्तला, गङ्गालहरी, करुणालहरी, मोहरीमोगरी, मालविकाग्निमित्र, भक्तामरस्तोत्र, अमरवाणी तथा संस्कृत भाषा में निबद्ध पाणिनीयप्रवेशिका, भाषाविज्ञान–स्यरूपरेखा, संस्कृतपाठावलिः, कृष्णचरितम्, आत्मचरित, चित्रकूटदर्शनम्, गीतामृतम् तथा अभिनवकाव्यप्रकाश आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। प्रकृत कवि को महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन ट्रस्ट द्वारा 'हारीत ऋषि पुरस्कार' और राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर द्वारा 'माघ' पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। सन् 1985 ई० में संस्कृत के अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की आत्मा परमात्मा में विलीन हो गई। डॉ० हेमलता बोलिया के शोध निर्देशन में, संस्कृत विभाग मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान से पं०

---

1. अभिनवकाव्यप्रकाश- भूमिका भाग

गिरिधर लाल शास्त्री कृत– "गीतामृतम एक अनुशीलन" प्रस्तुत विषय पर शोधकार्य हुआ है। इस लघुशोध प्रबन्ध में इनके देहावसान की तिथि 22 नवम्बर सन् 1985 ई० बतलायी गयी है; जिसके आधार पर इनका समय सन् 1893 ई० से सन् 1985 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) अभिनवकाव्यप्रकाश कवि की काव्यशास्त्रीय कृति है, जो दो खण्डों में विभक्त है। इसके प्रथम खण्ड में आठ (8) तथा द्वितीय में पाँच (5) उन्मेष हैं। प्रथम खण्ड का प्रथम उन्मेष काव्यपरिचयात्मक उन्मेष है, जिसमें 375 श्लोक हैं, जिनमें काव्यलक्षण, काव्यात्मा, ध्वनिस्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद आदि का विवेचन आचार्य मम्मट के ग्रन्थ काव्यप्रकाश के अनुसार किया गया है। द्वितीय उन्मेष में 387 श्लोक हैं, जिनमें शब्दशक्तियों–अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। तृतीय उन्मेष में 458 श्लोक हैं, जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ उन्मेष में 682 श्लोक हैं, जिनमें रसस्वरूप, रसनिष्पत्ति तथा भेदसहित रसाभास, भावाभास आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है। पञ्चम उन्मेष में 172 श्लोक हैं, जिसमें ध्वनि भेदों की सविस्तार चर्चा की गई है। षष्ठ उन्मेष में 94 श्लोक हैं, जिनमें गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य का उदाहरण सहित विवेचन है। सप्तम उन्मेष में 291 श्लोक हैं, जिनमें व्यञ्जनावृत्ति का विवेचन है। अष्टम उन्मेष में 195 श्लोक हैं, जिनमें नाट्यशास्त्र के आधार पर दृश्यकाव्य के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में प्रमुख रूप से काव्य दोषों का विवेचन किया गया है। इस खण्ड के नवम उन्मेष में 312 श्लोक हैं, जिनमें पदवाक्यगत दोष तथा पदांशगत दोषों का निरूपण किया गया है। दशम उन्मेष में 285 श्लोक हैं, (295 संकलित है, पर दिये नहीं गये हैं) जिनमें पदवाक्य उभयगत दोषों का विवेचन, एकादश उन्मेष के 172 श्लोकों में अर्थदोष का विवेचन, द्वादश उन्मेष के 110 श्लोकों में रस दोष तथा अन्तिम त्रयोदश उन्मेष के 243 श्लोकों में गुणगत दोषों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार त्रयोदश उन्मेष संवलित प्रकृत ग्रन्थ में कुल 3776 श्लोक हैं, जिनमें विद्वान् काव्यमर्मज्ञ ने प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन आचार्य मम्मट को आदर्श मानकर किया है। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण श्लोकों पर आचार्य शास्त्री ने मम्मट के काव्यप्रकाश की तरह विषय के स्पष्टीकरण हेतु उन पर वृत्ति तथा टिप्पणी आदि नहीं लिखी, केवल श्लोकों में ही काव्यशास्त्र की प्रमुख विवेच्य सामग्री को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ में आचार्य ने अलङ्कार के महत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया है। इसलिए काव्यप्रकाश की तरह इसमें अलङ्कार का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। जो अलङ्कार ध्वनि भेद के अंतर्गत आ गये हैं, उनका ध्वनि विषय में ही विवेचन कर दिया है। प्रथम उन्मेष में कवि ने कविमाहात्म्य विषय विवेचन के सन्दर्भ में कल्हड़ के काव्यमाहात्म्य, मम्मट के मङ्गलाचरण, भागवत्पुराण, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, राजशेखर आदि के मतों को प्रस्तुत करते हुए अपने मत को प्रस्तुत किया है। अनन्तर कविकर्म, काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण तथा काव्यकारण आदि विषयों पर अपनी अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है।

काव्यालङ्कारकारिका, साहित्यशारीरकम्, अलंब्रह्म और नाट्यानुशासनम्

काव्यालङ्कारकारिका का प्रकाशन सन् 1977 ई० में चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी से, साहित्यशारीरकम् का प्रकाशन सन् 1998 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से, अलंब्रह्म का प्रकाशन सन् 2005 ई० में तथा नाट्यानुशासन का प्रकाशन सन् 2008 ई० में प्रणेता के स्वयं के प्रकाशन कालिदास संस्थान, वाराणसी से हुआ है। इन चारों ग्रन्थों के प्रणेता प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी हैं।

(क) प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी का जन्म 22 अगस्त सन् 1935 ई० में पुण्यसलिला नर्मदा नदी के तट पर स्थित इतिहास प्रसिद्ध ग्राम नादनेर, साँची में उल्लिखित 'नन्दन नगर' नामक ग्राम (जो भोपाल के निकट जिला सीहोर में है) में हुआ था। इनका मूल निवास स्थान कड़ा (इलाहाबाद के निकट) था, किन्तु कालान्तर में ये मध्य प्रदेश के निवासी हो गये। इनके पिता का नाम पं० नर्मदाप्रसाद द्विवेदी तथा माता का नाम श्रीमती लक्ष्मी देवी था। संस्कृत-साहित्य

में आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी० एवं डी० लिट्० उपाधि प्राप्त प्रो० द्विवेदी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवक्ता, प्रवाचक और आचार्य के पद को समलंकृत करते हुए साहित्य विभाग के अध्यक्ष तथा संस्कृत विद्या-धर्म-विज्ञान संकाय के प्रमुख रहे हैं।[1] संस्कृत जगत् में अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त प्रो० द्विवेदी सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में ही इमेरिट्स प्रोफेसर हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना तथा सम्पादन भी किया है। उत्तरसीताचरितम्, स्वातन्त्र्यसम्भवम् तथा कुमारविजयम् इनके द्वारा विरचित प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। यूथिका और सप्तर्षिकांग्रेसम् बहुचर्चित नाटक तथा साहित्यशास्त्रीय रचनाओं में काव्यालङ्कारकारिका, नाट्यानुशासनम्, साहित्यशारीरकम् तथा अलंब्रह्म आदि महत्त्वपूर्ण मौलिक रचनाएँ हैं। प्रो० द्विवेदी वर्तमान आचार्य हैं।

(ख) इस सदी की परम्परा में विरचित काव्यालङ्कारकारिका प्रो० द्विवेदी की काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें 15 अधिकरण हैं। इसके प्रथम अधिकरण में काव्य का सार्वपारिषद्य मङ्गलगर्भ लक्षण दिया गया है। द्वितीय में काव्यकारण, तृतीय में काव्य प्रयोजन, चतुर्थ में काव्यात्म विवेचन, पञ्चम में काव्यज्ञान की एकरूपता, षष्ठ में सहृदय की दृष्टि से काव्यविचार, सप्तम में काव्यत्व की महाव्याप्ति, अष्टम अधिकरण में काव्य और उसके धर्म का युगपत उत्पत्तिवाद, नवम में काव्यधर्म, दशम में रस में काव्यधर्मत्व का अभाव, एकादश अधिकरण में काव्यलक्षण, द्वादश में स्वयं कवि का काव्यदर्शन, त्रयोदश में आलोचक दर्शन, चतुर्दश अधिकरण में अलंब्रह्मत्व तथा अन्तिम पञ्चदश अधिकरण में अलङ्कार के ब्रह्मीभाव का विवेचन किया गया है।

काव्यालङ्कारकारिका आधुनिक काव्यशास्त्रीय कृतियों में युगप्रवर्तक ग्रन्थ है, जिसमें प्रो० द्विवेदी जी ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नवीन दृष्टि से विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। काव्यतत्त्वों के सम्यक् ज्ञान के लिए काव्यालङ्कारकारिका इस सदी का वह काव्यशास्त्र विज्ञान है, जिसमें आचार्य ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के माध्यम से काव्यविज्ञान के समस्त तथ्यों का सतर्क विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में 184 मूल कारिकाएँ हैं, जिन पर स्वयं

1. रेवाप्रसाद द्विवेदीः व्यक्तित्व एवं कृतित्व- डॉ० बेलामलिक

लेखक ने संस्कृत एवं आङ्गल भाषा में टिप्पणी भी लिखी है। आचार्य भरतमुनि से लेकर अब तक की काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध छः सम्प्रदायों यथा- रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य में से रस सम्प्रदाय ही प्रमुख रूप से प्रसिद्ध और सर्वमान्य रहा है। काव्यशास्त्रीय आचार्यों की इस सुदीर्घ मान्यता को पुनः विखण्डित कर प्रो० द्विवेदी ने काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण, काव्यकरण तथा काव्यात्मा आदि विषयों पर नवीन दृष्टि से विचार करते हुए 'काव्यं ज्ञानं अलङ्कारस्तस्यात्मा' कहकर अलङ्कार को काव्य की आत्मा के रूप में सतर्क प्रतिष्ठित किया है।

साहित्यशारीरकम्

प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के चार धामों की परिकल्पना करते हुए प्रो० द्विवेदी का कथन है-

वन्देहं भारत वर्षं चतुर्धामप्रतिष्ठितम्।
वन्दे साहित्यशास्त्रं च चतुर्धामप्रतिष्ठितम्।।[1]

यह ग्रन्थ चार अधिकरणों में विभक्त है। इसके प्रथम अधिकरण पूर्णताम्नाय के अन्तर्गत संस्तव (संस्तुति), सङ्कल्प और पूर्णताम्नाय का निरूपण है। द्वितीय अधिकरण शारदाम्नाय में काव्यशरीर का विवेचन किया गया है। तृतीय अधिकरण धाराम्नाय और काञ्चीधामाम्नाय है, जिसमें प्रथम आम्नाय में गुणाह्निक, अलङ्कारविशेषाह्निक, लक्षणाह्निक, रीतिवृत्याह्निक, शब्दशक्त्याह्निक, पाक, शय्या, धाराम्नाय, ध्वनिव्रज्या, रसव्रज्या, आदि का विवेचन है तथा द्वितीय आम्नाय में साहित्यव्रज्या, साहित्यतत्त्वकथा, सम्बन्धसामान्यपरत्व, पारिभाषिकत्व, कुन्तक, भोज तथा साहित्यमीमांसाकृत काव्यनाट्यसमष्टि, काव्यभेद, नाट्यभेद, काव्यशास्त्रभेद आदि विषयों का विवेचन है। अन्तिम चतुर्थ अधिकरण काशीधामाम्नाय है। जिसमें प्रस्थान भेद, काव्यालङ्कारकारिका, नाट्यानुशासन, भरतदर्शन, नाट्यशारीरक, कलासमाधि, रसभोग, ईक्षा आदि स्वरचित ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण कारिकाओं पर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है।

---

1. साहित्यशारीरकम्- पृ०-32

प्रस्तुत कृति में प्रो० द्विवेदी ने भारतीय काव्यशास्त्र को चार धामों में विभक्त कर उसका विस्तृत विवेचन किया है। इनमें प्रथम काञ्चीधाम है, जिसमें आचार्य भरत और दण्डी आदि हुए। इसे पूर्णता आम्नाय कहा गया है और दोषाभावरूप है। द्वितीय आम्नाय शारदाम्नाय (कश्मीरदेशाम्नाय) है, जिसमें भामह, उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मटादि हुए। यह आम्नाय अलङ्कारोन्मुख कहा गया है। तृतीय आम्नाय धाराम्नाय है, जिसमें आचार्य धनञ्जय-धनिक और भोजदेव आदि हुए। यह आम्नाय रस (महावाक्य) को काव्यात्मा मानने वाला है। चतुर्थ आम्नाय काशीधामाम्नाय है, जिसमें स्वयं आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जी प्रतिष्ठित हैं। उनका मन्तव्य है कि अलम्भावरूप अलङ्कार (महाकाव्य) ही काव्यात्मा है, जिसकी प्रतिष्ठा उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में की है।

अलंब्रह्म

इस कृति में दो खण्ड हैं- काव्य और नाट्य खण्ड। इसके प्रथम खण्ड में अलंब्रह्म, काव्यतत्त्व, काव्य में धर्मधर्मिभावविवेक, काव्यनिष्पत्तिप्रक्रिया, शब्दत्व नाम क्या है? साहित्यतत्त्वविमर्श, साहित्यदर्शन में तात्पर्य रूप, संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनिसञ्ज्ञा, रस का शाब्दत्व, रस निष्पत्ति प्रक्रिया में उत्पत्तिवाद, भुक्तिवाद में स्थायीभावाश्रय, कवि रसास्वादयिता है या नहीं? ध्वनि सम्प्रदाय के कुछ प्रश्न, व्यञ्जना विषय में राजशेखर, भोजदेव का ध्वनि विचार, नैषध के कुछ पद्यों पर विचार, लक्षणा का षड्विधत्व और हेत्वलङ्कार, अलङ्कारसर्वस्व में संशोधन, जगन्नाथ के काव्यलक्षण में दंश, रसगङ्गाधर में सन्दर्भ शुद्धि, पण्डितराजकृत उत्प्रेक्षा भेद, भारतीय व्याख्या पद्धति आदि विषयों पर प्रो० द्विवेदी ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।

द्वितीय खण्ड में भारतीय नाट्यशास्त्रादि सम्पादन विधि और पाठसमीक्षा, कालिदास के रूपकों में वस्तुविभाग, अवस्था के निमित्त प्रकृति, सन्धिभेद, नाट्यप्रयोग में कुतपविन्यास तथा संस्कृत काव्यशास्त्र ब्रह्मविद्या है, आदि विषयों पर आचार्य ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं को प्रस्तुत किया है। इस

प्रकार इस कृति में विद्वान् आचार्य ने उपर्युक्त विवेचित विषयों का समीक्षात्मक विवेचन किया है।

नाट्यानुशासनम्

प्रस्तुत ग्रन्थ भी प्रो० द्विवेदी की मौलिक रचना है। इस ग्रन्थ में पाँच उन्मेष हैं। इस ग्रन्थ का प्रथमोन्मेष नाट्यानुशासन नामक सञ्ज्ञा से अभिहित किया गया है। इसकी 113 कारिकाओं में नाट्य के रङ्गमञ्च सम्बन्धी नियमों आदि का नवीन दृष्टि से विवेचन किया गया है। इसका द्वितीय उन्मेष भरतदर्शन है। इसमें भी 113 कारिकाएँ है, जिसमें महाकालेश्वर नामक धाम (उज्जैन) में हुए कालिदास महोत्सव में समुपस्थित कवियों द्वारा भगवान शिव से नाट्यकला (कथा) आदि विद्याओं के लिए प्रार्थना की गई है। तृतीय उन्मेष में 63 कारिकाएँ हैं। इसका नाम नाट्यशारीरकम् है। इसमें नाट्यशरीर (कथावस्तु) का सम्पूर्ण अङ्गों सहित विवेचन किया गया है। चतुर्थ उन्मेष में 44 कारिकाएँ हैं। इसका नाम कलासमाधि है। इसमें नट-नर्तक द्वारा नृत्यादि कलाओं द्वारा होने वाले चैत्तिक अनुभव (दशा) का वर्णन किया गया है। अन्तिम पञ्चम उन्मेष में 80 कारिकाएँ हैं। इसमें रसभोगप्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रो० द्विवेदी ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यसम्बन्धी समस्त विषयों का विवेचन किया है।

ध्वनिकल्लोलिनी

यह ग्रन्थ सन् 1978 ई० में कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार से प्रकाशित है। इसके प्रणेता आचार्य आनन्द झा हैं।

(क) पं० आनन्द झा का जन्म सन् 1914 ई० में हुआ था। ये दरभङ्गा जिले के सिंहवाड गाँव के निवासी थे। इनके पिता का नाम पं० बबुनन्दन झा तथा माता का नाम भगवती देवी था। इनके पिता मैथिल ब्राह्मण थे, जो 'पडुए महेन्द्र पुर' वंश के थे। पं० आनन्द झा अपने घर पर चाचा पं० चन्द्रशेखर झा से अध्ययन कर काशी में म० म० फणिभूषण तर्कवागीश तथा म० म० वामाचरण भट्टाचार्य से नव्यन्याय का अध्ययन किया। अपने जीवनवृत्त का

परिचय देते हुए आचार्य आनन्द झा ने अपने प्रकृत ग्रन्थ में लिखा है–

माता भगवती यस्य पिता च बबुनन्दनः।
चन्द्रशेखरशर्मा तु यस्यासीत् प्रथमो गुरुः।।
द्वितीयस्तर्कवागीशः सम्राटसम्मानभाजनम्।
फणिभूषणशर्मोद्यद्यशः कुमुदबान्धवः।।
स्फुरन्महामहोपाध्यायोपाधिः शिवतां गतः।
वामाचरणशर्माऽऽसीत्तृतीयः शास्त्रवारिधिः।।
सीताऽऽसीत्प्रथमा पत्नी यज्जाताऽभूदरुन्धती।
पद्माभवनपद्मेव द्वितीया यत्सधर्मिणी।।
यतो यातास्त्रयः पुत्रा मृत्युञ्जयधनञ्जयौ।
प्रबुद्धौ, बाल एवाऽऽस्ते तृतीयोऽयं ऋपुञ्जयः।।
ध्वनिकल्लोलिनी तेनाऽऽनन्देनैषा विनिर्मिता।
नानाग्रन्थविनिर्मात्रा भाषासु विविधास्वपि।।
एतत्कल्लोलिनीतोयं तस्याः पाद्याय जायताम्।
यत्कारुण्यकणस्पर्शान्मूको भवति गीष्पतिः।।[1]

पं० आनन्द झा ने वाराणसी, लखनऊ एवं दरभङ्गा में अध्यापन कार्य भी किया। ये लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राच्यसंस्कृत विभाग में प्राध्यापक थे। उसी दरम्यान इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की जैसा कि ग्रन्थ में उनका कथन है–

लक्ष्मणपूर्विश्वविद्यालयस्य प्राच्ये विभागेऽत्र
अध्यापयता विधिवत्, विविधान् ग्रन्थांश्चविरचयता।।
आनन्देनैतेन प्रभूततोषाऽस्तु मत्प्रसूमिथिला।
यद्गर्भादुपजाता वन्द्या श्रीमैथिली चतद्भाषा।।[2]

इनके प्रमुख शिष्यों में डॉ० जयमन्त मिश्र, डॉ० हेमचन्द्र जोशी तथा स्वामी स्वरूपानन्द जी आदि हैं। ये सब भी उच्च कोटिक विद्वान् हुए। पं०

---

1. ध्वनिकल्लोलिनी– अन्तिम पृष्ठ 83– ग्रन्थकर्तृपरिचयः
2. ध्वनिकल्लोलिनी– ध्वनिखण्डन भाग– कारिका–479–80

आनन्द झा द्वारा विरचित संस्कृत, हिन्दी तथा मैथिली भाषा में अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें प्रमुख हैं– चन्द्रवतीचरितम्, आनन्दमधुमन्दाकिनी, हत्परिवर्तननाटकम्, वेदान्त-परिभाषा की भगवती व्याख्या, तर्कसंग्रह व्याख्या, ध्वनिकल्लोलिनी, पदार्थशास्त्र, चार्वाकदर्शन, न्यायमञ्जरी हिन्दीभाष्य आदि। इन्होंने अनेक पुरस्कार, सम्मान एवं उपाधियाँ भी प्राप्त की हैं, जिनमें- साहित्यालङ्कार, वेदान्तवागीश, न्यायाचार्य कवितार्किकचक्रवर्ती तथा राष्ट्रपति सम्मान आदि हैं। इस प्रकार संस्कृत की सेवा करते हुए विद्वान् आचार्य की आत्मा सन् 1988 ई० में परमात्मा में विलीन हो गई। इस बात की सूचना प्रो० शशिनाथ झा द्वारा प्राप्त हुई। प्रो० शशिनाथ झा वर्तमान समय में दरभङ्गा विश्वविद्यालय में व्याकरण विभाग के अध्यक्ष हैं। ये भी उच्चकोटिक काव्यशास्त्र के ज्ञाता हैं। इन्होंने मधुधारा (संस्कृत कविता), शुद्धिकौमुदी (धर्मशास्त्र), पञ्जीप्रबन्धनाटकम् तथा कृषिफलम् नामक नाटक की रचना की है। इन्हें सन् 2007 ई० में साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा भाषासम्मान पुरस्कार दिया गया था । अतः प्रो० शशिनाथ द्वारा पं० आनन्द झा के देहावसान की तिथि की सूचना के आधार पर पं० आनन्द झा का समय सन् 1914 ई० से सन् 1988 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) ध्वनिकल्लोलिनी काव्यशास्त्रीय कृति है। इसमें चार भाग हैं। इसके प्रथम भाग में ध्वनिसिद्धि के सन्दर्भ में 610 श्लोकों में ध्वनि की व्याख्या की गई है। द्वितीय भाग में ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत की व्याख्या की गई है। तृतीय भाग में महिमभट्ट कृत व्यक्तिविवेक- प्रथमविमर्श की व्याख्या की गई है। चतुर्थ भाग ध्वनिखण्डनम् में पं० आनन्द झा कृत 480 श्लोक हैं, जिनमें ध्वनि का खण्डन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में ध्वनि के पक्ष में 610 पद्य तथा व्यक्तिविवेक के आधार पर ध्वनि के विपक्ष (विरोध) में 480 पद्य हैं। अतः इस ग्रन्थ में पं० झा रचित कुल 1090 पद्य हैं, इसीलिए इस ग्रन्थ का अपर नाम ध्वनिसाहस्री भी है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक पद्यों की हिन्दी व्याख्या भी आचार्य द्वारा की गई है। ध्वनि के खण्डन-मण्डन के सन्दर्भ में लिखा गया यह काव्यशास्त्र का पाडित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

काव्यसत्यालोक और वस्त्वलङ्कारदर्शनम्

इन दोनों ग्रन्थों के प्रकाशक स्वयं इसके प्रणेता ही हैं। काव्यसत्यालोक सन् 1980 ई० में तथा वस्त्वलङ्कारदर्शनम् सन् 1969 ई० में पारसी मन्दिर के पास नसीराबाद रोड, अजमेर से प्रकाशित है। इन दोनों ग्रन्थों के लेखक डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा हैं।

(क) डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा का जन्म 11 फरवरी सन् 1923 ई० में श्री गङ्गानगर से कुछ दूर अवोहर के पास दुतारांवाली नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० लाधूराम और माता का नाम अमरी देवी तथा पत्नी का नाम श्रीमती शान्ति देवी था। इनके गुरु संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री विद्याधर शास्त्री थे। डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने "संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विकास" विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की। तदन्तर डॉ० शर्मा डूंगर कॉलेज, बीकानेर में संस्कृत व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए। डॉ० शर्मा ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से काव्यसत्यालोक, वस्त्वलङ्कारदर्शनम्, अभिनवरसमीमांसा, रसालोचन तथा A critial study of indian poetics आदि इनकी महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं। 24 अगस्त सन् 2000 ई० में संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् डॉ० शर्मा का देहावसान हो गया। यह सूचना इनके पुत्र डॉ० अशोक शर्मा ने प्रदान की, जो जयपुर विश्वविद्यालय में रसायनविज्ञान विभाग में प्रवाचक हैं। अतः डॉ० शर्मा का समय सन् 1923 ई० से 2000 ई० तक निर्धारित है। यह सूचना इनके अभिनन्दन ग्रन्थ में भी दी गई है।[1]

(ख) काव्यसत्यालोक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो पाँच उद्योतों में विभक्त है। इसके प्रथम उद्योत में सत्य का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्योत में धर्मसूक्ष्मताधान, तृतीय में व्यापार योग, चतुर्थ में भावयोग तथा अन्तिम पञ्चम उद्योत में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन तथा काव्यकारणादि का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कारिका और वृत्ति दो भाग हैं। ग्रन्थ की 70 कारिकाओं पर वृत्ति लिखकर विद्वान् आचार्य ने विषयों का स्पष्टीकरण किया है। इस

---

1. गुरुवन्दना (ब्रह्मानन्दाभिनन्दनम्)- सम्पादक- डॉ० गंगाधर भट्ट एवं डॉ० अशोक शर्मा

ग्रन्थ में आचार्य ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों यथा- काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा काव्यभेदादि पर नूतन दृष्टि से विचार कर अपने मतों को तर्क सहित प्रस्तुत किया है।

वस्त्वलङ्कारदर्शनम् में अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। प्रथमतः आचार्य ने अलङ्कार शब्द की वामनाभिमत करण और भाव अर्थ की व्युत्पत्तियाँ की हैं। इसमें आचार्य शर्मा ने अलङ्कार्य के रूप में रस को प्रतिष्ठित किया और अलङ्कार को प्रातिभ वस्तु माना है। वाच्यार्थ की यथार्थता, स्वभावोक्ति, तर्कमूलक अलङ्कार, विरोधमूलक अलङ्कार, लोकनियममूलक अलङ्कार, शब्दालङ्कार, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, परिकर, विरोधालङ्कार, विभावना, विशेषोक्ति, अन्योन्य, असङ्गति, धर्मविपरीतता, व्याघात, विशेष, अधिक, विषम, यथासङ्ख्य, सार, सम्बन्धमाला, एकावली, सम तथा परिवृत्ति प्रभृति अलङ्कारों पर अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया है।

रसचन्द्रिका और व्यञ्जनावृत्तिविचार

प्रस्तुत दोनों ग्रन्थ सन् 1985 ई० में रुक्मिणी प्रकाशन इन्द्रपुरी, राँची, झारखण्ड से प्रकाशित हैं। इनके प्रणेता पं० रामावतार मिश्र हैं। इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन डॉ० शिवशङ्कर पण्डित (तत्कालीन रीडर, अंग्रेजी विभाग, सेन्ट जेवियर्स कॉलेज) के द्वारा किया गया है।

(क) श्रीमत्पण्डित रामावतार मिश्र का जन्म 13 जनवरी सन् 1899 ई० में ग्राम वेनीपुर पोस्ट-टेकारी, जनपद गया, बिहार प्रान्त में हुआ था। पं० मिश्र काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त विद्वान् ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो इस प्रकार हैं- श्रीदेवीचरितं महाकाव्य, कथाकाव्यसंग्रह, वधूस्त्रवा महात्म्यम् आदि; जो प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त रुक्मिणीमङ्गल महाकाव्य, भारतवर्षेतिहासः (श्लोकबद्ध रचना), श्रीगुरुवंशवर्णनम्, बन्धकाव्यम् तथा स्फुटश्लोकाः आदि; जो अप्रकाशित हैं। श्रीदेवीचरितम् महाकाव्य पर पं० मिश्र जी को उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा सन् 1983 ई० में कालिदास पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। संस्कृत के उद्भट विद्वान् पं० मिश्र की आत्मा 24 जून सन् 1984 ई० में परमात्मा में विलीन हो गयी। यह सूचना

इनकी उपर्युक्त दोनों पुस्तकों तथा डॉ० आनन्द श्रीवास्तव की पुस्तक Later Sanskrit Rhetoricians से प्राप्त हुई[1] अतः इनका समय सन् 1899 ई० से सन् 1984 ई० तक सुनिश्चित किया गया है ।

(ख) रसचन्द्रिका में 270 श्लोक हैं, जिनमें पं० मिश्र ने रस का स्वरूप, रस भेद, शृङ्गार रस की सर्वश्रेष्ठता, नायिका के भेद-प्रभेद, नायक के भेद, नायक के सहायक, उद्दीपन विभाव, नव प्रकार के अनुभाव तथा हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य रस का विवेचन किया है।

व्यञ्जनावृत्तिविचार नामक द्वितीय कृति में 253 श्लोक हैं, जिनमें व्यञ्जनाशक्ति पर अनेक प्रमाणों तथा उदाहरणों द्वारा विद्वान् ने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। प्रस्तुत दोनों ग्रन्थ इस सदी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन ग्रन्थों में आचार्य ने रस और व्यञ्जनावृत्ति पर अपनी मौलिक मान्यताओं को उपस्थापित किया है।

साहित्यसन्दर्भः

यह ग्रन्थ सन् 1990 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता प्रो० शिवजी उपाध्याय हैं।

(क) साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० शिवजी उपाध्याय का जन्म सन् 1943 ई० में ग्राम पण्डितपुर, जनपद मिर्जापुर, उत्तरप्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० सङ्कठाप्रसाद उपाध्याय तथा माता का नाम श्रीमती राजेश्वरी देवी था। प्रो० उपाध्याय सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के साहित्य संस्कृति सङ्काय के अन्तर्गत साहित्य के विभागाध्यक्ष रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० उपाध्याय सन् 2000 से 2003 ई० तक इसी विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति (Pro-Vice Chancelor) भी रहे। प्रो० उपाध्याय महान् कवि तथा दार्शनिक भी हैं। संस्कृत में अनेक शोध-पत्र और पुस्तकें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशनों से प्रकाशित हैं। प्रो० उपाध्याय विरचित

---

1. रसचन्द्रिका और व्यञ्जनावृत्तिविचार का प्रारम्भिक भाग तथा Later Sanskrit Rhetoricians, Page 101-02

शक्तिशतकम् तथा कुम्भशतकम् उत्कृष्ट काव्य हैं। इन दोनों काव्यों के कतिपय अंश का पठन-पाठन दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विषय में बी० ए० आनर्स के पाठ्यक्रम में किया जाता है। विद्वान् आचार्य सन् 1943 से वर्तमान समय तक संस्कृत साहित्य की सेवा में तत्पर हैं।

(ख) साहित्यसन्दर्भ काव्यशास्त्रीय कृति है, जो छः अनुच्छेदों में विभक्त हैं। इसके प्रथम अनुच्छेद का नाम रसतत्त्वविमर्श है; जिसमें विद्वान् आचार्य ने रस के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया है। काव्यस्वरूपविमर्श नामक द्वितीय अनुच्छेद में काव्य के स्वरूप का निरूपण किया गया है। काव्येधर्मधर्मिभाव-विमर्शः नामक तृतीय अनुच्छेद में काव्य को धर्मी और गुणादि को धर्म बतलाया गया है। साहित्यस्वरूपविमर्श नामक चतुर्थ अनुच्छेद में साहित्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। सौन्दर्यविमर्श नामक पञ्चम अनुच्छेद में सौन्दर्य के स्वरूप पर विचार-विमर्श किया गया है तथा योगदृशा रसबोधविमर्श नामक अन्तिम षष्ठ अनुच्छेद में योगशास्त्र की दृष्टि से रस पर अपने विचारों को विद्वान् आचार्य ने अभिव्यक्त किया है।[1]

एतदतिरिक्त इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में आचार्य ने मोक्ष तत्साधनविमर्श पर 21 (इक्कीस) कारिकाओं की रचना की है तथा इस पर वृत्ति भी लिखकर मोक्ष और उसके साधन का निरूपण किया है। इसी परिशिष्ट में ही आचार्य ने मीमांसायामितिकर्त्तव्यतया धर्मतत्त्वविमर्श पर 35 कारिकाएँ तथा उस पर वृत्ति लिखकर मीमांसा शास्त्र के धर्मतत्त्व पर विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार इस परिशिष्ट की 56 कारिकाओं में आचार्य ने परम्परागत काव्यविचार की पुनर्प्रस्तुति के साथ नवीनरूप पर भी विचार किया है।

साहित्यसन्दर्भ इस सदी के ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेदान्त तथा मीमांसा विषय से उपश्लिष्ट इस ग्रन्थ की 158 कारिकाओं में प्रो० उपाध्याय ने प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है। विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए विद्वान् आचार्य ने स्वोपज्ञ कारिकाओं पर वृत्ति भी लिखी है।

---

1. साहित्यसन्दर्भः प्रारम्भिक भाग

सौन्दर्यकारिका

यह ग्रन्थ सन् 1991 ई० में मुहल्ला कोटटेली, सासाराम, जिला-रोहतास (बिहार) से प्रकाशित विच्छित्ति-वायानी नामक कृति का एक भाग है। इसके रचयिता प्रो० जगन्नाथ पाठक हैं।

(क) प्रो० जगन्नाथ पाठक का जन्म सन् 1943 ई० में सासाराम, जिला-रोहतास, बिहार प्रान्त में हुआ था। आचार्य, एम्०ए० तथा पी-एच्०डी० की उपाधि से समलंकृत प्रो० पाठक गङ्गानाथ झा शोध-संस्थान, इलाहाबाद (वर्तमान में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान) के अवकाश प्राप्त आचार्य एवं प्राचार्य हैं। प्रो० पाठक ने उमरखय्याम की परम्परा को भारतीय परम्परा से संस्कारित किया तथा खय्याम की रुबाइयों से प्रेरित होकर संस्कृत में सहस्रसङ्ख्यक मुक्तकों की रचना की। कापिशायनी- (1980-साहित्य अकादमी दिल्ली से पुरस्कृत), मृद्वीका- (1983- के० के० विडला फाउण्डेशन वाचस्पति पुरस्कार से पुरस्कृत), पिपासा- (1987) आदि इनके प्रकाशित प्रमुख काव्यसंग्रह हैं। पत्रलेखा के पत्र, ध्वन्यालोक, ध्वन्यालोकलोचन और हर्षचरितम् आदि कृतियों का अनुवाद तथा संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास के सप्तम खण्ड का सम्पादन भी प्रो० पाठक ने किया है। प्रो० पाठक सन् 1943 ई० से वर्तमान समय तक संस्कृत सुरभारती की सेवा में सन्नद्ध हैं।

(ख) सौन्दर्यकारिका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सौन्दर्य को परिभाषित करते हुए उसके विविध पक्षों तथा विविध मतों का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में आर्या छन्द में निबद्ध 102 कारिकाएँ हैं, जिनमें सौन्दर्य के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है। इन कारिकाओं पर वृत्ति लिखकर विद्वान् ने विषयवस्तु को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनका मत है कि ब्रह्म और सौन्दर्य दोनों एक ही हैं। इसका स्पष्टीकरण प्रो० पाठक की अधोलिखित कारिकाओं में होता है-

मनुष्याणांसहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

गीता के प्रस्तुत श्लोक के आधार पर प्रो० पाठक की अवधारणा है-

तप इति मत्वा यत्नः कार्यः सौन्दर्यसाधकैः सम्यक्।
नो चेल्लघ्वी त्रुटिरपि प्रयत्नशीलं निपातयति।।
सौन्दर्यादुत्पद्यत एतत् सर्वं प्रतिष्ठिते च ततः।
अनुसंविशति च तस्मिन्निति सौन्दर्यास्थिता दृष्टिः।।[1]

कवि ने ग्रन्थ की सम्पूर्ण कारिकाओं में सौन्दर्य के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही सौन्दर्य का विस्फुरण है। सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति सौन्दर्य से होती है, सौन्दर्य में ही उनकी अवस्थिति रहती है तथा उनका पर्यवसान भी उसी में होता है। पुनः अधोलिखित कारिकाओं में प्रो० पाठक की मान्यताओं का स्फुट अवलोकन विमर्शनीय है–

शब्दैरर्थैश्च समं न क्रीडा किमपि काव्यमित्याहुः।
सौन्दर्यं किञ्चिदिव क्षणं स्पृशत्यादृता कविता।।
सौन्दर्यस्यकला नु प्रत्यक्षीकर्तुमुच्यते करणम्।
यत्रश्रीर्यत्र रसो यत्र प्राणास्ततो नु कला।।
कमलैर्नाम सपत्रैश्छन्नः पूर्णो घटः कलाक्षेत्रे।
जीवनजलपरिकलितं तनुसौन्दर्यं प्रकाशयति।।
प्राणैर्विना न जीवनमेवं न तपो विनाऽस्ति सौन्दर्यम्।
निर्मित एवं शिल्पिभिरीशो बुद्धस्तपोनिष्ठः।।
पुरारौ च मुरारौ च न भेदः परमार्थतः।
तथापि परमां प्रीतिं करवै मुरवैरिणि।।
निर्माणं यदधीनं महतः काव्यस्य लोकमान्यस्य।
सौन्दर्यं हि तदेकं सुधियामेतत्तु वक्तव्यम्।।[2]

इस प्रकार इस कृति में विद्वान् आचार्य ने सौन्दर्य को ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित किया है तथा इसे कला और साहित्य का सर्वस्व बतलाया है। कवि का मन्तव्य है कि सौन्दर्य ही सम्पूर्ण सृष्टि में प्रतिभाषित हो रहा है। इसलिए उन्होंने सौन्दर्य को सर्वस्व मानते हुए अपनी समस्त कारिकाओं में सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

---

1. सौन्दर्यकारिका–कारिका–74–75
2. सौन्दर्यकारिका–कारिका–46–49 तथा 65

प्रस्तुत ग्रन्थ सौन्दर्य पिपासा युक्त जिज्ञासुओं को उसकी आध्यात्मिकता के साथ ज्ञान कराने वाला इस सदी का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

मैथिलीकाव्यविवेक

यह ग्रन्थ सन् 1994 ई० में कविशेखर बदरीनाथ झा ग्रन्थावली प्रकाशन समिति, शङ्कर दर्शन संस्कृत विद्यालय, सरिबपाही, जनपद मधुबनी (बिहार) से प्रकाशित है। इसके लेखक कविशेखर पं० बदरीनाथ झा हैं। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने सन् 1961 ई० में की थी। इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रो० शशीनाथ झा द्वारा किया गया है।

(क) कविशेखर पण्डित बदरीनाथ झा का जन्म सन् 1893 ई० में दरभङ्गा जनपद के सरिसबपाही गाँव में हुआ था। ये खौआल-सिमरवार मूलक काश्यप श्रोत्रिय थे। इनके पिता का नाम पं० विद्यानाथ झा तथा माता का नाम श्रीमती माया देवी था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सरिसब गाँव में ही हुई। इनके गुरु पं० मार्वफण्डेय मिश्र, पं० विदेश्वर झा, पं० रविनाथ झा तथा म० म० पं० चित्रधर मिश्र (टभका) आदि थे। कविशेखर झा ने सन् 1914 ई० में व्याकरण और काव्यतीर्थ परीक्षा (आचार्य समकक्ष) उत्तीर्ण की। सन् 1916 ई० में दरभङ्गा राजकीय द्यौतपरीक्षा व्याकरण विषय में सर्वप्रथम स्थान अर्जित किया। सन् 1917 ई० से 1948 ई० तक धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर में साहित्याध्यापक रहे। इनके प्रमुख शिष्यों में पं० सुरेन्द्र झा 'सुमन', पं० रामचन्द्र मिश्र, कविचूडामणि मधुप, डॉ० रामकरण शर्मा आदि हैं। अवकाश प्राप्ति के बाद सन् 1965 ई० से 1967 ई० तक मिथिला-विद्यापीठ दरभङ्गा में सम्मानित विद्वान् के रूप में कार्य करते हुए अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया।

पं० बदरीनाथ झा ने अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना, व्याख्या तथा सम्पादन भी किया। इनमें राधापरिणय महाकाव्य, अन्योक्तिसाहस्री, काव्यकल्लोलिनी, तथा गुणेश्वरचरितचम्पू आदि संस्कृत रचनाएँ हैं। एकावलीपरिणय महाकाव्य, संस्कृत मैथिली कोश तथा मैथिली-काव्य-विवेक आदि प्रसिद्ध मैथिल भाषा की रचनाएँ हैं। इनके द्वारा कृत रसगङ्गाधर, ध्वन्यालोक

तथा रसमञ्जरी की व्याख्याएँ वर्तमान में भी संस्कृत विद्वानों के बीच समादृत हैं। सन् 1921 ई० में भारत धर्म महामण्डल काशी द्वारा उन्हें कविशेखर की उपाधि प्रदान की गई तथा सन् 1978 ई० में दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय विद्वद्गोष्ठी में विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की गई। सन् 1972 ई० में इनका अभिनन्दनग्रन्थ 'कविशेखर पुष्पाञ्जलि' के नाम से लिखा गया। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की सेवा में निरत विद्वान् कविशेखर बदरीनाथ झा की आत्मा सन् 1973 ई० में परमात्मतत्त्व में विलीन हो गई। यह समस्त सूचनाएँ प्रो० शशिनाथ झा द्वारा प्राप्त की गई, जो वर्तमान में दरभङ्गा विश्वविद्यालय, बिहार में व्याकरण विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त यह सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भिक (भूमिका) भाग में भी उल्लिखित है। इस आधार पर कविशेखर बदरीनाथ झा का समय सन् 1893 ई० से 1973 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) मैथिली-काव्यविवेक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सात विराम हैं। इसके प्रथम विराम में साहित्य पदार्थ निर्वचन (व्युत्पत्ति), अनुबन्ध निबन्धन (ग्रन्थ प्रयोजनादि प्रतिपादन), काव्यलक्षण तथा काव्यकारण का विवेचन किया गया है। द्वितीय विराम में काव्य के भेद, शब्दविचार और शब्दशक्ति-अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यञ्जना का निरूपण किया गया है। तृतीय विराम में व्यञ्जनावृत्ति का प्रयोजन तथा उसके विरोधियों का खण्डन है। चतुर्थ विराम में काव्य के भेदोपभेद, श्रव्यकाव्य के भेद, दृश्य काव्य के भेद तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का विवेचन है। पञ्चम विराम में रसनिरूपण है। षष्ठ विराम में गुण, दोष तथा रीति का विवेचन किया गया है। अन्तिम सप्तम विराम में अलङ्कार का विवेचन है। इसमें 4 शब्दालङ्कारों तथा 61 अर्थालङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मैथिली भाषा में रचित है। इसमें विद्वान् आचार्य ने अपनी टीका-टिप्पणियों सहित नवीन मौलिक तथ्यों को भी उपस्थापित किया है। अपने अल्प शब्दों में अधिक बातों को कहने के उद्देश्य से कवि ने ग्रन्थ में व्याख्या पद्धति का परित्याग किया है। काव्यलक्षण के सन्दर्भ में कविशेखर झा ने मम्मट के मत का समर्थन तथा पण्डितराजजगन्नाथ के मत का खण्डन किया

है। काव्यप्रयोजन के सन्दर्भ में मम्मट के छः प्रयोजनों के अतिरिक्त धर्म को भी इसमें जोड़ा है। काव्य में कारण केवल प्रतिभा को माना है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को वृद्धि और सौन्दर्य का साधक माना है।

सौन्दर्यदर्शनविमर्श

यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् 1995 ई० में प्रकाशित है। इसके प्रणेता प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय हैं। प्रो० जगन्नाथ पाठक कृत अनुवाद सहित इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 2003 ई० में राका प्रकाशन, सिविल लाईन्स, इलाहाबाद से भी हुआ है।

(क) म० म० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का जन्म सन् 1923 ई० में प्रयाग (इलाहाबाद) उ० प्र० में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त प्रो० पाण्डेय ने इलाहाबाद तथा गोरखपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। आचार्य पाण्डेय गोरखपुर, राजस्थान और प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति विभाग के अध्यक्ष तथा राजस्थान एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। वेद, इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृति, पुरातत्त्व आदि पर अनेक पुस्तकों की रचना करने वाले प्रो०पाण्डेय की भक्तिदर्शनविमर्श, सौन्दर्यदर्शनविमर्श तथा एकंसद्विप्राबहुधावदन्ति आदि प्रमुख संस्कृत कृतियाँ हैं। राष्ट्रपति पुरस्कार, सरस्वती सम्मान, कविवर सम्मान एवं विश्वभारती पुरस्कार जैसे अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित प्रो० पाण्डेय को विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा विद्यावारिधि (डी० लिट्०), साहित्यवाचस्पति, साहित्य-सम्मान, वाक्पति एवं महामहोपाध्याय आदि उपाधियों से भी सम्मानित किया गया है। सन् 1923 ई० से वर्तमान समय तक प्रो० पाण्डेय संस्कृत सुरभारती की सेवा में समर्पित हैं।

(ख) सौन्दर्यदर्शनविमर्श काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो तीन भागों में विभक्त है- (i) सौन्दर्यशास्त्र स्वरूपालोचन (ii) रूपतत्त्वविमर्श, तथा (iii) रसतत्त्वविमश। प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल 129 कारिकाएँ हैं, जिनमें विद्वान् आचार्य ने सौन्दर्य तथा सौन्दर्यशास्त्र की दार्शनिक व्याख्या के साथ रूपतत्त्व और रसतत्त्व की भी दार्शनिक व्याख्या की है। इसके प्रथम भाग में 87 कारिकाएँ

हैं, जिनमें सौन्दर्यशास्त्र स्वरूपालोचन है। द्वितीय भाग में 27 कारिकाएँ हैं, जिनमें रूपतत्त्वविमर्श तथा अन्तिम तृतीय भाग की 15 कारिकाओं में रसतत्त्व का विवेचन किया गया है। सौन्दर्यमीमांसा स्वरूप की झलक प्रस्तुत कारिकाओं में परिलक्षित होती है-

सौन्दर्यशास्त्रं नापूर्वं नैकरूपं सदैव वा।
वाह्यार्थविषयं नैव लक्षणैकाश्रयं च न।।
पुरुषार्थविशेषस्य यान्वीक्षा साम्प्रदायिकी।
ज्ञेया सौन्दर्यमीमांसा सापेक्षा सेतिहासतः।।[1]

रूपतत्त्व का अनुपम निदर्शन विद्वान् की अधोलिखित कारिकाओं में द्रष्टव्य है-

विलक्षणैवोक्ता कैश्चित् सौन्दर्यस्य पुमर्थता।
वेदेषु कमनीयत्वमात्मन्येव रतिभर्वेत्।।
आनन्दो भासमानस्तु सत्त्वोपाधिषु साकृतिः।
आत्मविश्रान्त्यभेदेन सौन्दर्यं व्यपदिश्यते।।
सुन्दरोदात्त्योर्भेदो व्याप्त्यतिक्रान्तिमूलकः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।
अद्वैतं दर्शनं श्रौतं कालभेदाविभेदितम्।
आभासो देव देवस्य विश्वसौन्दर्यमिष्यते।।
रूपे रूपेहि सङ्केतो लक्ष्यते परमेशितुः।
व्यञ्जकत्वं तु तस्यैव रूपश्रीरभिधीयताम्।।[2]

रसतत्त्व पर इसी प्रकार आचार्य ने अपनी दार्शनिक मनोवृत्ति को प्रस्तुत किया है। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं-

शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।
वेदेष्वपि स नानार्थो देवोपासनसङ्गतः।।
रसयुक्तिः समाख्याता सोमसामविधानयोः।
दिव्या प्रीतिः स आनन्दो भावो व्यङ्ग्यश्च संविदः।।

---

1. सौन्दर्यदर्शनविमर्श - प्रथम भाग-कारिका-34-35
2. सौन्दर्यदर्शनविमर्श-द्वितीय भाग-कारिका-12-16

वाक्प्राणमिथुनी भावः स्वच्छन्दः सामरस्यतः।
शिल्पमात्मकृतिस्तस्मात् सृज्यते स्वेन ज्योतिषा।।[1]

इस प्रकार आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में सौन्दर्य को चमत्कार पर पर्याय बतलाया है तथा सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन के रूप में ग्रहण किया है विज्ञान रूप में नहीं। रूपतत्त्व और रसतत्त्व की भी गम्भीर दार्शनिक-मीमांसा इस ग्रन्थ में की गई है।

काव्यतत्त्वविवेक

यह ग्रन्थ सन् 1997 ई० में भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता डॉ० रमाशङ्कर तिवारी हैं ।

(क) डॉ० रमाशङ्कर तिवारी का जन्म 1 जुलाई सन् 1915 ई० में ग्राम डूहा बिहरा, जिला- बलिया, उत्तर प्रदेश में हुआ था। यद्यपि इन्होंने हिन्दी तथा अंग्रेजी विषय में एम्० ए० की उपाधि प्राप्त कर हिन्दी साहित्य में ही पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की तथापि इन विषयों के साथ-साथ ये संस्कृत का भी अध्ययन उच्च स्तर पर करते रहे। 30 वर्ष तक इन्होंने फैजाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का अध्यापन किया। डॉ० पाण्डेय साकेत पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज अयोध्या, उत्तरप्रदेश के प्रधानाचार्य भी रहे। हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। महाकवि कालिदास, प्रयोगवादी काव्यधारा, रसचिन्तन परम्परा और परिप्रेक्ष्य, शृंगार और साहित्य, काव्यप्रकाशिका, वैदेह्य अतीतावलोकनम्, राधिकाया अतीतावलोकनम्, काव्य और काव्यास्वादन की समस्या, काव्य और सौन्दर्य के विविध आयाम तथा A Critical approach to classical indian poetics आदि तिवारी जी की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। भारतीय तथा विदेशी संस्थाओं द्वारा इन्हें सम्मानित एवं पुरस्कृत भी किया गया। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा विद्याभूषण की उपाधि तथा हिन्दी सेवी संस्थान, इलाहाबाद द्वारा साहित्यमहारथी की उपाधि से विभूषित किया गया था। संस्कृत साहित्य की सेवा में निरत डॉ० तिवारी का 9 दिसम्बर सन् 2003 ई० में देहावसान हो गया। यह सूचना उनकी पुत्री डॉ० मञ्जूरानी त्रिपाठी, (जो

---

1. सौन्दर्यदर्शनविमर्श-तृतीय भाग-कारिका-1-3

जनपद-गोंडा, उ० प्र० के श्री लालबहादुर शास्त्री पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज में भूगोल विषय की प्राध्यापिका हैं) ने प्रदान की। इस आधार पर डॉ० तिवारी का समय सन् 1915 ई० से सन् 2003 ई० तक सुनिश्चित किया गया है।

(ख) काव्यतत्त्वविवेक 24 अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में कवि निरूपण, द्वितीय में काव्यनिरूपण, तृतीय में काव्य में धर्मधर्मिभाव, चतुर्थ में काव्यप्रयोजन, पञ्चम में काव्य में अर्थावतरण, षष्ठ में काव्यसत्य निरूपण, सप्तम में बिम्बसृष्टि, अष्टम में काव्य में ध्वनिवाद, नवम में काव्य में वक्रोक्तिवाद, दशम अध्याय में काव्यहेतु निरूपण, एकादश में काव्य में रसावतरण, द्वादश में कविगत रस प्रवाद, त्रयोदश में काव्य में साधारणीकरण, चतुर्दश में अहंकार शृङ्गार, पञ्चदश में शृङ्गार मूल रस, षोडश अध्याय में रस परिवार में स्मृतिलीला रस, सप्तदश में चैत्तिकदशा सन्दर्भ में रसानुभव, अष्यदश में काव्य में सब्लाइमनामधेय उदात्त, एकोनविंशति में काव्य में भोग्य सौन्दर्य, विंशति में काव्य की निष्पत्ति कैसे होती है ?, एकविंशति में लोल्लट और शङ्कुक का रस निरूपण, द्वाविंशति में भट्टनायक का रस निरूपण, त्रयोविंशति में अभिनवगुप्त का रस निरूपण और अन्तिम चर्तुविंशति अध्याय में विद्वान् आचार्य द्वारा स्वयं सम्मत रस का निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० तिवारी जी की काव्यशास्त्रीय कृति है। 20वीं शताब्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यह भी महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। प्रथम भाग में कारिकाएँ संग्रहीत हैं तथा द्वितीय भाग में कारिकाओं पर विस्तृत वृत्ति के द्वारा विषय का सम्यक् रूपेण स्पष्टीकरण किया गया है। ग्रन्थ में कुल 331 कारिकाएँ है, जिनमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विद्वान् आचार्य ने अपनी विचार-मीमांसा को मौलिक उद्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है।

काव्यात्मा, काव्यात्मनिर्णय, काव्यतत्त्वविमर्श, यूनिवर्शल पोयटिक्स, रसविमर्श और काव्यशास्त्रीय निबन्धावली

प्रथम ग्रन्थ सन् 1985 ई० में एक्सप्रेस प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर से प्रकाशित है। द्वितीय ग्रन्थ सन् 1992 ई० में समता प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, तृतीय सन् 1995 ई० में देशा प्रिन्टर्स देवनगर, कानपुर, चतुर्थ सन् 1995 ई० में ही समता

प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, पञ्चम सन् 1999 ई० में शारदा प्रेस, शारदा नगर, कानपुर तथा षष्ठ ग्रन्थ सन् 2000 ई० में समता प्रिंटिंग प्रेस, पी० रोड़, कानपुर से ही प्रकाशित है। इन समस्त ग्रन्थों के प्रणेता डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित हैं।

(क) डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित का जन्म 11 अगस्त सन् 1933 ई० में नैमिषारण्य, जनपद-सीतापुर उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीरामसनेही दीक्षित तथा माता का नाम श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी था। डॉ० दीक्षित ने संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में एम्० ए० की उपाधि तथा हिन्दी में पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की। डॉ० दीक्षित ने कानपुर में कई वर्ष इण्टरमीडिएट की कक्षाओं में हिन्दी तथा अंग्रेजी में अध्यापन किया, इसके बाद विभिन्न महाविद्यालयों में बी० ए० तथा एम्० ए० की कक्षाओं में हिन्दी का अध्यापन किया तथा अन्त में 29 नवम्बर 1976 ई० से 30 जून 1995 ई० तक क्राइस्टचर्च महाविद्यालय, कानपुर में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में डॉ० दीक्षित ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की तथा इनके अनेकों ललित निबन्ध, कविताएँ तथा शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। यह सूचना विद्वान् दीक्षित से स्वयं दूरभाष से तथा पत्राचार के माध्यम से प्राप्त हुई। 9 मई सन् 2009 ई० में संस्कृत के इस उद्भट विद्वान् की आत्मा परमात्मा में विलीन हो गई। यह सूचना कालान्तर में उनकी पत्नी श्रीमती इन्दिरा दीक्षित के द्वारा प्राप्त हुई। अतः इस सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1933 ई० से सन् 2009 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) काव्यात्मा -इस कृति में छः अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में भारतीय काव्यशास्त्र में अन्विष्ट काव्यात्म तत्त्व, अलङ्कार का काव्यात्मत्व और उसका खण्डन, वामन की गुण कल्पना और उसका खण्डन, गुणों की तुलना में अलङ्कारों की काव्यहेतुकता, अनलंकृत काव्य की उपलब्धि तथा अलङ्कार की सर्वत्र काव्यहेतुकता की असिद्धि, रीति के काव्यात्मत्व का खण्डन प्रभृति काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में ध्वनि के काव्यात्मत्व के खण्डन का उपक्रम, लक्षणा की परिभाषा, रूढ़ि से लक्षणा का खण्डन, प्रयोजन से लक्षण लक्षणा और उपादान लक्षणा का खण्डन, मम्मट निरूपित लक्षणा के भेद, लक्षणा भेदों के

विषय में टीकाकारों की भूल, सादृश्येतर सम्बन्धमूला लक्षणा के उदाहरणों का विवेचन, सादृश्य सम्बन्धमूला लक्षणा पद विचार, चारों लक्षणा भेद केवल एक प्रकार के, सभी लक्ष्यार्थों की अनुमान से सिद्धि, शब्द और वाक्य का एक ही अभिधेय अर्थ, अर्थों में नहीं सम्बन्धों में असंगति, महिमभट्ट के द्वारा लक्षणा के खण्डन का अपूर्ण प्रयास, अर्थ में अर्थान्तर की विनिगमकता नहीं, सम्बन्ध से सम्बन्धान्तर की सिद्धि, व्यञ्जनाशक्ति का खण्डन, व्यञ्जना की पूर्वकृत परिभाषाओं की अपुष्टता, अभिधामूला व्यञ्जना का खण्डन, अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरणों में श्लेष का विषय, व्यञ्जना की सिद्धि के लिए मम्मट का प्रयास असमीचीन, प्रयोजन की अनुमेयता, एक ही शब्द वाचक, लक्षक और व्यञ्जक नहीं, अश्लीलत्व का वरण लक्षणा से नहीं, शब्दशक्तियों पर विश्वनाथ के मत का विवेचन, आर्थीव्यञ्जना का खण्डन, विश्वनाथ के द्वारा मम्मट का अनुकरण, काकुस्वर की अनुमापकता, साध्यभेद से अनुमान के भेद, चेष्टा के व्यङ्ग्यार्थ हेतुत्व की असम्भवता, व्यञ्जनावादियों के द्वारा भी अनुमान प्रक्रिया की स्वीकृति, व्यञ्जनावादियों की अशक्तता, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः- यह मत भी मृषा, वाक्य अखण्ड नहीं, शब्दों या पदों की रचना वर्णों से, वाक्यों की रचना पदों से, वाक्यार्थ भी अभिधेय, अनुक्त की अनुमेयता, मन में विकारोत्पत्ति व्यङ्ग्यार्थ नहीं, व्यङ्ग्यार्थ को मानें बिना भी दोष व्यवस्था सम्भव, एक ही विशेष्य के विभिन्न विशेषण यथार्थतया पर्यायवाची नहीं, वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेदक हेतुओं की निस्सारता, मम्मट की अनुकरणशीलता, मम्मट के दोष, काकु स्वर के विविध प्रयोग, आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि प्रथा संदिग्ध, महिमभट्ट की मौलिकता, भूमिकारम्भ में ही ध्वनिकार की भूल, ध्वनि की परिभाषा का विवेचन, चमत्कारिक वाच्यार्थ की निष्पत्ति कवि का प्रधान उद्देश्य, ध्वनि अलङ्कारादिकों में अन्तर्भाव्य नहीं- इसे सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ, ध्वनि के प्रथम दो मुख्य भेदों का विवेचन, विधि अलङ्कार का खण्डन, उत्तरादि अलङ्कारों का भी खण्डन, स्वभावोक्ति भी अलङ्कार, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का खण्डन, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का खण्डन, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि पर विचार, अभिनवगुप्त के पूर्व भरत सूत्र के व्याख्याताओं के मतों पर विचार, भुक्ति की व्याख्या, सूत्र में स्थायी भाव का अनुल्लेख, साधारणीकरण पर विचार, अभिनवगुप्त के मत का विवेचन, सूत्र में प्रयुक्त संयोग शब्द पर

विचार, इस शब्द का ग्रहण पाकशास्त्र से, द्वन्द्वशामक रूप में सभी रस ब्रह्मानन्दसहोदर नहीं, सामाजिक का आश्रय से वास्तविक तादात्म्य नहीं, रसाभिव्यक्ति का विचार नाट्यशास्त्र में, रसास्वाद के लिए किसी शब्दशक्ति की आवश्यकता नहीं, रस का अकार्यत्व नहीं, रस ज्ञानरूप नहीं, केवल आश्रयगत स्थायीभाव की रसरूप में परिणति, रस यथा व्यङ्ग्यार्थ नहीं तथा अनुमेय भी नहीं, रसाभास भी न व्यङ्ग्यार्थ और न अनुमेय, भाव और तदाभास इत्यादि केवल अनुमेय, रस और भाव न अलङ्कार्य और न किसी भी रूप में अलङ्कार, रसादिकों की अलङ्कारता का खण्डन, अचेतनों पर चेतनयोग्य व्यवहार में भी रसवदलङ्कार नहीं, उपमाएँ रसानुसरिणी रसवती नहीं, संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेद, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का खण्डन, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का खण्डन, अर्थशक्युद्भव ध्वनि के भेदों का खण्डन, अलङ्कार अथवा अलङ्कारान्तर न व्यङ्ग्य और न अनुमेय, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के उपभेदों का विवेचन, काव्यत्व के आधायक तत्त्व वाच्यार्थ में ही स्थित, रसानुभावक तत्त्वों और अलङ्कारों की स्थिति केवल वाक्य में, वर्ण, उपसर्ग और प्रत्यय व्यञ्जक नहीं हो सकते, व्यङ्ग्य का गुणीभूतत्व किसी वाक्य के अल्पकाव्यत्व का निर्धारक नहीं, काव्यत्व की कोटि पर अलङ्कार चमत्कार का कोई दुष्प्रभाव नहीं, लोकशिक्षापरक महाकाव्यों से सदुपदेश अनुपमेय, नवीनकाव्य रचनाएँ भिन्न ध्वनियों के ग्रहण से सम्भाव्य नहीं आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में वक्रोक्ति का स्वरूप, वक्रता के प्रकार, वक्रता के विविध प्रकारों का विवेचन, रूढ़िशब्दवक्रता, सञ्ज्ञाशब्दवक्रता, पर्यायवक्रता, उपचारवक्रता, विशेषणवक्रता, संवृतिवक्रता वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, लिङ्गवैचित्र्य-वक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता, प्रत्ययवक्रता या प्रत्ययाश्रितवक्रता, सङ्ख्यावैचित्र्य, कारकवैचित्र्य, पुरुषवैचित्र्य, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबन्धवक्रता, भावादि की वक्रताओं का खण्डन, कुन्तक सम्मत रसवदलङ्कार अतर्कसङ्गत, कुन्तक के द्वारा कल्पित मार्गगुण अव्यवस्थित, वस्तुवक्रत्व और वक्राभिव्यक्ति के उपयोगों में कुछ भ्रान्ति, तद्विद और तद्विदाह्लाद कुन्तक के द्वारा परिभाषित नहीं, कुन्तक का माहात्म्य, औचित्य के काव्यात्मत्व का खण्डन, रस का स्वरूप, स्थायीभाव, स्थायीभावों में परस्पर विरोध और अनुरोध, रसनिष्पादक

स्थायीभावों का ही ग्रहण, रसों का परस्पर अनन्तर्भाव्यत्व और प्रधानाप्राधान्य, सञ्चारीभाव, अनुभाव, सात्त्विकभावों की अनुभावरूपता, विभाव, आश्रय और आलम्बन में त्रिविध सम्बन्ध, विभिन्न स्थायीभावों के आलम्बन, स्थायीभावों के व्यभिचारीभाव, स्थायीभावों के उद्दीपन विभाव, रस निष्पत्ति, रस के काव्यात्मत्व का खण्डन आदि विषयों का विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय में शरीरात्मसम्बन्धविचार, शब्दों और तदर्थों में शरीरात्मसम्बन्ध नहीं, उद्देश्य या फल काव्यात्मा नहीं, वस्तु और तद्वर्णन दो भिन्न तत्त्व, वस्तु तद्वर्णनरूप सम्पूर्ण काव्यवाक्य में व्याप्त, वस्तु से सशरीर काव्यात्मा वृहत्तर, वस्त्वर्थ या वस्तु का विस्तारक वर्णन ही काव्यात्मा, भावना शब्द का ग्रहण और इसका कारण, काव्यात्मा की परिभाषा और व्याख्या, काव्य की परिभाषा और काव्यात्मा की प्रयोजनसाधकता, वस्तुभावना के लिए अपेक्ष्य भाषारूप, वस्तु भावना के भेद, शब्दालङ्कारों का वस्तुभावना से सम्बन्ध, सभङ्गश्लेष की कल्पना दोषपूर्ण, श्लेष में सभी अर्थ और अलङ्कार भी अभिधाबोध्य, वस्त्वर्थ का स्वल्पविस्तार भी वर्णन विस्तार, भोजकृत काव्यभेदों का विवेचन आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

पञ्चम अध्याय में निरलङ्कार वस्तुभावना, लौकिकरूपभावना, अलौकिकरूपभावना, स्वभावभावना, भावानुभावभावना, सञ्चारीभावानुभाव-भावना, अनुमानसीमित स्थायीभावभावना, रसानुभाविनी निरलङ्कार स्थायीभावभावना, विचारभावना, अलङ्कार से काव्यरचना का सौकर्य, निरलङ्कार काव्य की सम्भावना, सालङ्कारवस्तुभावना, वस्तुभावक अलङ्कारों में औपम्यमूलक अलङ्कारों का प्राधान्य और उनकी महिमा, औपम्य से भिन्न वस्तुभावक अलङ्कार, अलङ्कारों में उक्ति का स्वरूप, निरतिशयवार्ता के भी रूप में काव्य, अर्थ में अलङ्कारत्व सौन्दर्यादि के निधान का उपाय, औपम्यमूलक अलङ्कार, औपम्यमूलक अलङ्कारों की महिमा, औपम्यमूलक अलङ्कारों के भेद, विरोधगर्भालङ्कार, शृङ्खलाबन्धोपचित अलङ्कार, तर्कन्यायाश्रित अलङ्कार, वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार, लोकन्यायमूलक अलङ्कार, गूढार्थप्रतीति अलङ्कार, काकुस्वराश्रित अलङ्कार, अत्युक्तिमूलक अलङ्कार, विधि अलङ्कार का नामान्तरण, वाक्यों के सालङ्कारत्व और निरालङ्कारत्व के निर्णय का सिद्धान्त,

औपम्यमूलक अलङ्कारों से वस्तुभावना का प्रदर्शन, औपम्य मूलेतर अलङ्कारों से वस्तुभावन श्लेष और श्लेषमूलक अलङ्कार, शृङ्खलाबन्धोपचित अलङ्कारों से वस्तुभावना का दिङ्निर्देश, तर्कन्यायाश्रित अलङ्कार काव्यलिङ्ग, लोकन्यायमूलक अलङ्कारों से वस्तुभावना, काकुस्वराश्रित और अत्युक्तिमूलक अलङ्कारों से वस्तुभावना, अलङ्कारत्व का निर्णय, अलङ्कारों का द्विविध प्रयोग, स्वयं अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत वस्तु का बृंहण, प्रस्तुताप्रस्तुत विचार, अप्रस्तुत प्रशंसा पर विचार, अर्थालङ्कारगत वक्रोक्ति के स्वरूप पर विचार, भामह और दण्डी के मतों पर विचार, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति और प्रस्तुताङ्कुर, वामन के मत पर विचार, कुन्तक के मत पर विचार, रूपकातिशयोक्ति पर विचार, केवल उपमान के वर्णन से उपमेय के अनुमान का मार्ग, प्रस्तुताङ्कुर के उदाहरणों में ध्वनि नहीं, अप्रस्तुत प्रशंसा का पुनः परिभाषण और विस्तारण, काव्य का प्रायः सालङ्कारत्व, मम्मट के मत में रुय्यक के मत का आधार, मम्मट अलङ्कारवादी, श्लेष किस प्रकार का अलङ्कार, प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थ अभिधा बोध्य इत्यादि विषयों का विवेचन है।

षष्ठ अध्याय में वस्तुभावना, अलङ्कार्य और अलङ्कार में भेद, पदों में वर्णभेद और वाक्यों में पद भेद, अलङ्कारों में वक्रोक्तित्व प्रकार भेद, वस्तुभावना के आदान के उपाय, समस्त काव्यरचना वस्तु भावना से, वस्तुतत्त्वभावन के लिए प्रयोज्य भाषा का रूप, क्षेत्रोपभाषादि से रीति या शैली का भेद नहीं, काव्य और काव्यानुशीलन का आनन्द, सञ्चारीभाव का अनुमान, स्थायीभाव का अनुमान, स्थायीभाव का रस परिणामी अनुमान, रसानुभूति पर विचार, भावों की युगपत् और अयुगपत् स्थिति पर विचार, लोल्लट और शङ्कुक के मतों पर विचार, दृश्य और श्रव्यकाव्य में अन्तर, सामाजिक में, आश्रय में अनुमित स्थायीभाव की प्रत्युत्पत्ति इत्यादि, सूत्रगत संयोग शब्द का अर्थ, अभिव्यक्ति के प्रकार, साधारणीकरण किसका, विभावों का भावकत्व, विभावों से रस भावित नहीं, रसास्वाद, भट्टनायक भरत पर आश्रित, अभिनवगुप्त के मत में नवीनता नहीं, भट्टनायक का वृथा दूषण, सूत्रगत संयोग शब्द, रसानुभूत्यर्थ आवश्यक अनुबन्ध, काव्य से विचार का आनन्द, शब्द सौन्दर्य और अलङ्कार चमत्कार, अलङ्कारत्व और अलङ्कार, वस्तुभावना में दोष, काव्य की कोटियाँ, काव्य के हेतु और प्रयोजन प्रभृति विषयों का विवेचन किया गया है।

काव्यात्मनिर्णय

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो भाग हैं तथा विषय सामग्री को अनुच्छेदों के अन्तर्गत विवेचित किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के अनुच्छेद 1 से 17 में आचार्य ने मम्मट के व्यञ्जनासाधक तर्क और उनका खण्डन, वाक्य की पदों में और पद की वर्णों में खण्डनीयता, अनुच्छेद 18 से 20 में प्रयोजन की व्यङ्ग्यता का खण्डन, अनुमेयता का प्रतिपादन, लक्षणा और उसके भेदों का खण्डन, अनुच्छेद 21 से 23 में ध्वनिखण्डन, पुनः लक्षणा खण्डन, द्वयर्थक शब्द के दो अर्थों में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध का खण्डन, अनुच्छेद 24 से 27 में ध्वनि की परिभाषा विवेचन के साथ ध्वनि का खण्डन, वस्तु, अलङ्कार और रस की व्यङ्ग्यता तथा अनुमेयता का खण्डन आदि विषयों का विवेचन है।

ग्रन्थ के द्वितीय भाग के प्रथम अनुच्छेद में अलङ्कारों के काव्यात्मत्व का खण्डन, द्वितीय में वक्रोक्ति के काव्यात्मत्व का खण्डन, तृतीय में गुण-रीतियों के काव्यात्मत्व का खण्डन, चतुर्थ में रस के काव्यात्मत्व का खण्डन, पञ्चम में रमणीयार्थत्व की अलङ्कार ध्वनि रसादि से भिन्न नहीं, षष्ठ में वस्तुभावना, सप्तम में वस्तु स्वरूप, अष्टम में वस्तुभावना की चार विधाएँ, नवम में वस्तुभावना का निरलङ्कारत्व और अलङ्काररूपत्व, अनुच्छेद 10 से 14 में वस्तुभावना की विधाएँ और उनके उदाहरण, अनुच्छेद 15 में वस्तु के भावन के अन्य भी प्रकार, अनुच्छेद 16 में रस एवं उसकी निष्पत्ति, आनन्दरूपता, अलौकिकता इत्यादि, अनुच्छेद 17 में साधारणीकरण, रस की व्यञ्जना और अनुमिति का समीक्षणादि, अनुच्छेद 18 (क) में कवि की अनुभूति के साधारणीकरण का खण्डन, (ख) तथा (ग) में आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप (घ) में नायक की साधारणीकरणीयता का खण्डन, (ङ) से (च) में अनुभावों और उद्दीपनों का तथा स्थायीभाव और सञ्चारीभाव की साधारणीकरणीयता का खण्डन, (छ) में केवल आलम्बन की साधारणीकरणीयता आदि विषयों का विवेचन किया गया है। अनुच्छेद 19 में आश्रय के साथ सामाजिकों के और उनके पारस्परिक सम्विदैक्य का खण्डन, अनुच्छेद 20 में सामाजिकों में स्वतन्त्रतया रस का अनुभव, अनुच्छेद 21 में पण्डितराज के भ्रान्तिवाद और आरोपवाद का खण्डन, अनुच्छेद 22 में रामचन्द्र शुक्ल के हृदयमुक्तिवाद का

खण्डन, रसाभास, व्यक्तित्ववैचित्र्यवाद का निरूपण, अनुच्छेद 23 से 25 में वस्तुभावना एवं काव्यत्व का आदान और काव्यसमीक्षण, अनुच्छेद 26 से 27 में वस्तु और अभिव्यक्ति की कोटियाँ, अनुच्छेद 28 में वस्तुभावना की कोटियाँ, अनुच्छेद 29 में वस्तुभावना के दोष, अनुच्छेद 30 में काव्य की परिभाषा, उक्ति वैशिष्ट्य, काव्य से प्राप्य आनन्द के प्रकार, अनुच्छेद 31 में काव्य सर्वत्र श्रव्य ही, अनुच्छेद 32 में अभिव्यञ्ज्य और अभिव्यक्ति का भेद, अनुच्छेद 33 में मनोभाव, अनुच्छेद 34 में लोल्लट और शङ्कुक के मतों का विवेचन, अनुच्छेद 35 में रसानुभूति में सम्बन्ध का निर्धारण तथा अन्तिम 36 वें अनुच्छेद में मम्मट के कुछ दोषों का विवेचन किया गया है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के अन्त में विद्वान् आचार्य ने पाँच परिशिष्टें के अन्तर्गत भी कुछ काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार किया है। इसके प्रथम परिशिष्ट में रस विषयक विचार-विमर्श, द्वितीय परिशिष्ट में वस्तुभावना के विविध प्रकारों के हिन्दी उदाहरण, वस्तु की परोक्षतया भावक पदवाक्यार्थावृत्तियाँ, तृतीय परिशिष्ट में अंग्रेजी का हिन्दी पर दुष्प्रभाव, चतुर्थ में रामचन्द्र शुक्ल के कुछ विचारों का समीक्षण तथा अन्तिम पञ्चम परिशिष्ट में विद्यार्थियों के साहित्यिक ज्ञान का परीक्षण और साहित्यसमीक्षा पर विचार प्रस्तुत किया है।

काव्यतत्त्वविमर्श

प्रस्तुत कृति में आचार्य ने अलङ्कारों के काव्यात्मत्व का खण्डन, गुण-रीतियों के काव्यात्मत्व का खण्डन, लक्षणा और व्यञ्जना का खण्डन तथा उसके साथ ध्वनि के काव्यात्मत्व का खण्डन, वक्रोक्ति के काव्यात्मत्व का खण्डन, वस्तुभावनाख्य काव्यात्मा का प्रतिपादन, काव्यभाषा, फ्रायड के काव्य विषयक विचारों का विवेचन, काव्यप्रयोजन, काव्य की परिभाषा, आलोच्य या समीक्ष्य क्या होता है? वस्तु, शब्दावली और वस्तुभावना की कोटियाँ तथा आलोचना क्या है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया है।

यूनिवर्शल पोयटिक्स – (Universal Poetics)

This book has three parts. In the first part of this text - Definition of poetry, criticism of some old definitions,

purposes and causes of poetry. Kinds of poetic pleaser Emotional sympathy (senteimental pleasure rus explained) etc subjects have been explained the poet.

Second part of this book the soul of poetry, things and thems, kinds of amplification of themes, example of nonfigurative and figurative amplifications, meaning of amplifications, kinds of themes and kinds of diction etc subjects have been explained the poet.

And the third part of this books merits, defects, six kinds of defects, figures of speech, figures of words, figures of meaning, Imaginations, words, sentences and their meanings, plot and poetry, hero, kinds of heroes, heroines, villian, events in a plot, characterization, kinds of plots, stages in a plot, episode, forms of poetry, epic, novel, drama, actions, catharsis, dialogues, subepic, short story, one act, play essay, memeir etc subjects have been explained the poet.

रसविमर्श

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है। इसके प्रथम भाग में स्थायीभाव का विवेचन किया गया है। द्वितीय भाग में व्यभिचारीभावों की व्याख्या, तृतीय भाग में अनुभाव, स्थायीभाव के अनुभाव, व्यभिचारीभाव के अनुभाव, स्थायीभाव तथा व्यभिचारीभावों के कारण, आलम्बन और उद्दीपन, विभावों की विविधता, भावों का उद्‌बोध और अनुभव, आलम्बन का स्वरूप, आलम्बनगत अनौचित्य तथा आश्रयगत अनौचित्य इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ भाग में रसनिष्पत्ति, लोल्लट, शङ्कुक आदि की व्याख्याएँ, अभिनवगुप्त के मत का विवेचन, नाट्यशास्त्र की महिमा, नाट्यशास्त्र के कुछ अन्य दोष, रस के विषय में आचार्य जगन्नाथ की मिथ्याधारणा, रसनिष्पत्ति की व्याख्याओं में दर्शनशास्त्र के आश्रय का विचार, प्रकृत आचार्याभिमत रसनिष्पत्ति प्रक्रिया आदि का विवेचन किया गया है। अन्तिम पञ्चम भाग में साधारणीकरण, रस और रसाभासादि, स्वशब्दवाच्यता दोष और रस दोष की वृथा कल्पना, दशरूपकगत रस विषयक विचार विशेष का विवेचन, कथानक की कल्पना, क्या अङ्गीरस कोई भी एक ही रस है? साधारणीकरण के विषय में रामचन्द्रशुक्ल

के मत की समीचीनता, क्या रस आस्वाद्य भी है?, अभिनवगुप्त की व्यञ्जना, साङ्ख्यवादी व्याख्या विचार, नाट्यावलोकन में रसानुभूति, नगेन्द्र और शङ्कुक के मत में अपने मत का आरोप, रसनिष्पत्ति की समीचीन व्याख्या तथा अन्त में साधारणीकरण विषय पर परिशिष्ट के माध्यम से विद्वान् लेखक ने विषय का स्पष्टीकरण किया है।

काव्यशास्त्रीयनिबन्धावली

प्रस्तुत कृति में डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित के 15 मौलिक काव्यशास्त्रीय निबन्ध सङ्कलित हैं, जिनमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर आचार्य ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। निबन्धों का क्रम इस प्रकार है– (1) अभिधा विचार (2) लक्षणा निरूपण (3) लक्षणा व्यञ्जना विवेचन (4) ध्वनि खण्डन (5) अलङ्कारों का अभिधेयत्व (6) रस काव्यात्मा है अथवा नहीं? (7) भक्तिरस केवल भाव (8) अलङ्कारों का काव्य के साथ सम्बन्ध (9) अभिनवगुप्त का वञ्चकत्व (10) मम्मट का चौर्य और अविवेक (11) ध्वनिकार की महद्भ्रान्ति का निरास (12) अनुमान सिद्धान्त (13) काव्यतत्त्वविमर्श (14) वस्तु और वस्तुभावना में अन्तर (15) अर्थालङ्कार में वस्तुभावकता।

डॉ० दीक्षित विरचित उपर्युक्त पाँचों ग्रन्थ इस शताब्दी के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में विद्वान् आचार्य ने प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों के मतों का यत्र-तत्र खण्डन भी किया है। लेखक की प्रथम कृति काव्यात्मा पूर्णतः हिन्दी में रचित है, जिसमें काव्यशास्त्र के समस्त तत्त्वों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। द्वितीय कृति काव्यात्मनिर्णय हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में है। इसमें काव्यात्मा के साथ-साथ अन्य तत्त्वों का भी विवेचन किया गया है। तृतीय कृति काव्यतत्त्वविमर्श में भी आचार्य द्वारा रस, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि के काव्यात्मत्व का खण्डन करते हुए काव्यप्रयोजन आदि विषयों पर विचार किया गया है। चतुर्थ कृति (Universal Poetics) यूनिवर्शल पोयटिक्स अंग्रेजी में है, जिसमें काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विशद् विवेचन किया गया है। पञ्चम कृति रसविमर्श में रसनिष्पत्ति

प्रक्रिया सम्बन्धी विषय पर विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्तिम षष्ठ कृति में आचार्य दीक्षित के संस्कृत में लिखित काव्यशास्त्रीय निबन्ध हैं, जिनमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर आचार्य ने अपने मौलिक विचारों को अभिव्यक्त किया है।

अभिनवकाव्यशास्त्रम्

यह ग्रन्थ सन् 2001 ई० में द्वितीय संस्करण के रूप में साहित्यसहकार प्रकाशन 29/62 बी, गली न– 11, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली से प्रकाशित है। इसके प्रणेता डॉ० शङ्करदेव अवतरे हैं।

(क) डॉ० शङ्करदेव अवतरे का जन्म सन् 1921 ई० में ग्राम करैना, पोस्ट-शिकारपुर-जनपद- बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० शालिकराम शर्मा तथा माता का नाम श्रीमती गङ्गादेवी था। आचार्य, एम्०ए०, पी-एच्० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधि से अलंकृत डॉ० अवतरे मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय (सान्ध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के अवकाश प्राप्त आचार्य हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें बहुचर्चित संस्कृत काव्य –'नारीगीतम्' (संस्कृत अकादमी, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत) और 'जीवनमुक्तम्'– (संस्कृत अकादमी दिल्ली द्वारा पुरस्कृत) ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में भी कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'साहित्यशास्त्रीय समाधान'– (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), 'रस-प्रक्रिया'-(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), साधारणीकरण, काव्याङ्गप्रक्रिया, अलङ्कारप्रक्रिया तथा शिखरिणीशतकम् प्रभृति उल्लेखनीय हैं। सन् 1998 ई० के वरिष्ठ संस्कृत साहित्य सेवा सम्मान से भी इन्हें अलंकृत किया गया है। विद्वान् आचार्य सन् 1921 ई० से वर्तमान समय तक संस्कृत साहित्य सेवा में कटिबद्ध हैं।

(ख) अभिनवकाव्यशास्त्रम् ग्रन्थ में दश आयाम (अध्याय) हैं। इसके प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश कराया गया है। द्वितीय आयाम में काव्यप्रक्रिया का विवेचन किया गया है। तृतीय आयाम में काव्यशास्त्र के षट्सम्प्रदायों का विद्वान् आचार्य ने समीक्षात्मक विवेचन किया है। चतुर्थ आयाम में रससिद्धान्त

और सम्प्रदाय का वर्णन किया गया है। पञ्चम आयाम में ध्वनिसिद्धान्त और सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है। षष्ठ आयाम में औचित्यसिद्धान्त और सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है। सप्तम आयाम में रीति सिद्धान्त और सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है। अष्टम आयाम में वक्रोक्ति सिद्धान्त और सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है। नवम आयाम में शब्दालङ्कार, उभयालङ्कार और उभयथालङ्कार का विवेचन किया गया है तथा अन्तिम दशम आयाम में अर्थालङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत कृति आचार्य द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसकी 869 मौलिक कारिकाओं के अन्तर्गत समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का हिन्दी व्याख्या के साथ विद्वान् आचार्य ने विवेचन किया है। इस कृति में प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पाश्चात्यों के मतों को भी उद्धृत किया गया है। अनन्तर आचार्य ने अपने मत को प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्र और काव्यालोचन तथा सिद्धान्त और सम्प्रदाय में क्या अन्तर है? रसवदादि को अलङ्कार मानने का प्रमाणिक कारण क्या है? रसाभास और रसदोष में क्या अन्तर है? क्या अर्थश्लेष के उदाहरण पूर्वाचार्यों ने सही दिये हैं? वृत्यानुप्रास से अलग वर्णवृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है? शृङ्गार की रति को देवादि विषयक रति कैसे कहा जा सकता है? क्या रामचन्द्र शुक्ल से लेकर हिन्दी के किसी भी आचार्य ने भट्टनायक और अभिनवगुप्त के साधारणीकरण का भेद स्पष्ट किया है? वक्रोक्ति और वक्रोक्ति अलङ्कार को पृथक् करने वाला कौन सा अकाट्य तर्क है? इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का सामाधानपूर्वक विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् आचार्य ने किया है।

काव्यसिद्धान्तकारिका

प्रस्तुत कारिकाएँ सन् 2001 ई० में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मागाँधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ से प्रकाशित होने वाली पत्रिका अजस्रा में प्रकाशित हैं। इन कारिकाओं की रचना प्रो० अमरनाथ पाण्डेय ने की है।

(क) प्रो० अमरनाथ पाण्डेय का जन्म 6 अक्टूबर सन् 1937 ई० में इलाहाबाद जनपद के अनुवा नामक ग्राम (जघंई) में हुआ था। इनके पिता का

नाम पं० रामनरेश पाण्डेय तथा माता का नाम श्रीमती मनराजी देवी था। इन्होंने बी० ए०, एम्० ए० तथा डी० फिल्० की उपाधियाँ इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की। प्रो० पाण्डेय ने सन् 1955 ई० से सन् 1960 ई० तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अनुसन्धान कार्य किया तथा रिसर्चफेलो के रूप में अध्यापन भी किया। सन् 1960 ई० में प्रो० पाण्डेय काशी विद्यापीठ, वाराणसी में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में नियुक्त हुए तथा वहीं पर प्रवाचक तथा अल्पवय में आचार्य पद को समलंकृत किया। प्रो० पाण्डेय 37 वर्ष तक महात्मा गाँधी, काशी विद्यापीठ में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे, जो प्रशासन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन्होंने गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला तथा इन्दिरा कलासङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, मध्यप्रदेश में भी अभ्यागत आचार्य के रूप में प्राध्यापन कार्य किया। इनके निर्देशन में 40 शोधच्छात्रों ने शोध उपाधि प्राप्त की। इनमें से 39 छात्रों ने पी-एच्० डी० तथा एक छात्र ने डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्वकुलपति डॉ० राजदेव मिश्र ने भी इन्हीं के निर्देशन में पी-एच्०डी की उपाधि प्राप्त की। अखिल भारतीय पण्डित महापरिषद्, वाराणसी ने प्रो० पाण्डेय को 'पण्डितराज' की उपाधि से सम्मानित किया है। आर्यावर्त विद्वत्परिषद् ने इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की है। प्रो० पाण्डेय द्वारा लिखित 250 से अधिक लेख तथा कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन, शब्दविमर्श, संस्कृत कविसमीक्षा, उपसर्गवर्ग, दशरूपकदीपिका तथा काव्यसिद्धान्तकारिका आदि प्रमुख हैं। इनकी अनेक कृतियाँ उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हैं तथा सौन्दर्यवल्ली (संस्कृत काव्य) के लिए 'व्यास' पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह सूचना प्रो० पाण्डेय से साक्षात्कार द्वारा स्वयं प्राप्त की गई हैं। प्रो० पाण्डेय सन् 1937 ई० से वर्तमान समय तक संस्कृत साहित्य सेवा में लगे हुए हैं।

(ख) काव्यसिद्धान्तकारिका काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें काव्यप्रयोजन-काव्यस्वरूप, कवि के गुण, काव्यसत्य, काव्यसौन्दर्य, काव्यभाषा, काव्यबिम्ब,

काव्यदर्शन, कलाप्रयोजन, काव्य में लोक व्यवहार, काव्यव्याप्ति तथा अन्य अनेक काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विद्वान् आचार्य ने विचार व्यक्त किये हैं। उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा तथा उपजाति छन्द में निबद्ध काव्यसिद्धान्तकारिका में कुल 93 कारिकाएँ हैं। प्रारम्भिक पाँच मङ्गलाचरणात्मक पद्यों में कवि ने प्रतिभा के प्रागल्भ का विवेचन किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने कल्पना के महत्त्व को अत्यादर के साथ स्वीकृत किया है। कवि ने प्रस्तुत कृति में कविकल्पना की व्याप्ति को आरेखित किया है। कविता में शब्द, अर्थ, भाव, भाषा, रचना-प्रक्रिया, भावाभिव्यक्ति, प्रयोजन, श्रेष्ठता, सौन्दर्य, बिम्बयोजना, प्रतीक-विधान, पुरावृत्त, सत्यदर्शन तथा लोकव्यवहारादि, कल्पना के माध्यम से किस प्रकार कविता में अवतरित हो जाते हैं, कवि ने अपनी कारिकाओं में इसका रहस्योद्घाटन किया है। इसके अतिरिक्त काव्यसर्जनप्रक्रिया में आवश्यक अन्य समस्त तत्त्वों को विद्वान् आचार्य ने अपनी कारिकाओं में यथा तथ्य उपन्यस्त किया है। काव्यसर्जना में आस्थावान नवीन कवियों तथा काव्यशास्त्र जिज्ञासुओं के लिए प्रस्तुत कारिकाएँ अत्यन्त उपादेय हैं।

रसवसुमूर्ति

यह ग्रन्थ सन् 2003 ई० में समज्ञा प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके प्रणेता प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी हैं।

(क) प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी का जन्म सन् 1948 ई० में ग्राम नरेथुआँ पोस्ट-औराई, जनपद-भदोही (सन्त रविदास नगर) उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० अम्बिका प्रसाद द्विवेदी तथा माता का नाम श्रीमती अनन्दी देवी था। प्रो० द्विवेदी साहित्य विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के अवकाश प्राप्त आचार्य तथा अध्यक्ष हैं। इन्होंने सन् 1970 ई० में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से शास्त्री तथा सन् 1972 ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आचार्य और सन् 1978 ई० में एम्० ए० की परीक्षा काशी विद्यापीठ से उत्तीर्ण की। सन् 1975 ई० में 'सुमेरुशङ्कराचार्यकाव्यसमीक्षा' नामक विषय पर (चक्रवर्ती) पी-एच्० डी० की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की व्याख्या तथा मौलिक

रचनाएँ भी की तथा अनेक सम्मेलनों में अनेक शोधपत्र प्रस्तुत किये, जो संस्कृत की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। भारतजीवनम्- खण्डकाव्य- (2000), वृत्तिवार्तिकम्- (2002) तथा रसवसुमूर्ति- (2003) आदि इनकी प्रमुख मौलिक रचनाएँ हैं। सन् 1948 से वर्तमान समय तक आचार्य संस्कृत सेवा में समर्पित हैं।

(ख) रसवसुमूर्ति प्रो० द्विवेदी विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें नाट्यरस पर विस्तृत विचार-विमर्श किया गया है। इस कृति में विवेचित प्रमुख विषय हैं- नाट्यविवेक, दृश्य-सूच्यविवेक, रससूत्रविवेक, भट्टलोल्लट का मत और खण्डन, शङ्कुक का मत और खण्डन, साङ्ख्य मत और खण्डन, भट्टनायक का मत और खण्डन, अभिनवगुप्त का रस सम्बन्धी मत, मम्मट के रस सूत्र मत पर विवेक, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों आदि के उदाहरण, शृङ्गारादि नव रसों के लक्षण तथा उदाहरण, रस विरोध परिहार, भाव, व्यभिचारियों के लक्षण तथा उदाहरण, रसाभास का लक्षण तथा उदाहरण, भावाभास का लक्षण तथा उदाहरण, भावशान्त्यादि पर विचार प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने काव्य की शब्दशक्तियों- अभिधा, लक्षणा और लक्षणा भेद, तात्पर्यवृत्ति, भावनावृत्ति, भोजकत्व अथवा रसना व्यापार, व्यञ्जनावृत्ति के षड्भेद आदि विषयों का उदाहरण सहित विवेचन किया है।

कारिका तथा गद्य में निबद्ध इस कृति में विद्वान् आचार्य ने रसनिष्पत्ति विषयक पूर्वाचार्यो के मतों का खण्डनात्मक दृष्टि से विवेचन किया है। ध्वनि सम्प्रदाय के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वर्ग के आठ भेदों-रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि तथा भावशबलता का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। इन्हीं आठों विषयों को आधार मानकर प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम रसवसुमूर्ति रखा गया है। वसुमूर्ति का अर्थ है-भगवान शिव की अष्टमूर्ति, फलतः ग्रन्थ के नाम का अर्थ हुआ- रसरूपीशिव। इस तथ्य का स्पष्टीकरण प्रो० द्विवेदी ने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण के अधोलिखित पद्य में किया है-

अनिदमिति निषेधे मूलतत्त्वं यदीयं
श्रुतिसुमतिभिरुक्तं सद्रसो वै शिवः सः।

दुहिणमुनिहृदिप्राकाशि ऋक्सूत्रबद्धं
तदिह विवरितुं कः स्यात्क्षमः चेन्न शेषः।।[1]

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में आचार्य द्विवेदी ने अभिनवगुप्त को आधार मानकर रससूत्र पर गहन मीमांसा की है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्तियों पर भी समालोचनात्मक दृष्टिपात किया है।

चमत्कारविचारचर्चा

यह ग्रन्थ सन् 2004 ई० में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान (साधु आश्रम), होशियारपुर, पंजाब से प्रकाशित है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार हैं।

(क) प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार का जन्म 26 जुलाई सन् 1936 ई० में दादरी-जनपद-गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ था। वेदालङ्कार, एम्० ए० तथा पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त करके प्रो० रामप्रताप विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु पोस्ट ग्रेजुएट इन्सिटट्यूट, पंजाब यूनिवर्सिटी, होशियारपुर में सन् 1962 ई० से सन् 1964 ई० तक प्रवक्ता पद पर रहे। तदनन्तर संस्कृत-विभाग जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू में सन् 1965 ई० से सन् 1986 ई० तक प्रवक्ता एवं प्रवाचक के पदों को समलंकृत किया तथा सन् 1987 ई० में इसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष बने।[2] इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना, अनुवाद तथा सम्पादन भी किया। 'पुराणानां काव्यरूपताया विवेचनम्' इनका शोध-प्रबन्ध है। इन्होंने साहित्यसुधा नामक काव्यशास्त्रीय कृति का हिन्दी अनुवाद तथा आलोचनात्मक संस्करण प्रस्तुत किया, जो उ० प्र० संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत भी है। मम्मटोत्तर युग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणाएँ, त्रिविधा काव्यसमीक्षा, उर्मिका तथा चमत्कारविचारचर्चा आदि इनकी मौलिक रचनाएँ हैं। प्रो० वेदालङ्कार सन् 1936 ई० से अब तक संस्कृत सेवा में तत्पर हैं। प्रो० वेदालङ्कार की जीवन सङ्गिनी परम विदुषी, कवयित्री, समाजसेविका प्रो० वेदकुमारी घई भी जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग

1. रसवसुमूर्ति-पद्य सङ्ख्या-1
2. उर्मिका-पृ०-76

की आचार्या एवं अध्यक्ष रहते हुए अवकाश प्राप्त कर चुकी हैं। इन दोनों परम विद्वानों द्वारा विरचित उर्मिका नामक कृति के कतिपय अंशों का पठन–पाठन दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत विषय के बी० ए० आनर्स पाठ्यक्रम के अन्तर्गत किया जाता है। प्रो० घई विरचित पुरन्ध्रीपञ्चकम् महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से प्रकाशित है। वर्तमान समय में भी इनकी अन्य अनेक रचनाएँ तथा शोध–निबन्ध विभिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हो रहे हैं। प्रस्तुत सूचना लेखक से स्वयं साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की गई।

(ख) चमत्कारविचारचर्चा काव्यशास्त्रीय कृति है, जो तीन विचारों (अध्यायों) में विभक्त है। इसके प्रथम विचार में मङ्गलाचरण, आमुख, काव्यप्रयोजन और काव्यहेतु का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने चमत्कार के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। द्वितीय विचार में चमत्कार का लक्षण, कविगुणाख्यान, समीक्षक महिमा, काव्यलक्षण और काव्यभेद का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है। अन्तिम तृतीय विचार में आचार्य ने चमत्कार सम्प्रदाय, चमत्कार सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य, औचित्यजन्य चमत्कार तथा उसका उपसंहार प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ चमत्कारविचारचर्चा में प्रो० वेदालङ्कार विरचित 165 मौलिक कारिकाएँ हैं, जिनमें प्रमुख काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन के साथ चमत्कार के स्वरूप तथा सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया गया है। इस कृति में विद्वान् आचार्य ने प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये काव्यलक्षणों के आधार पर चमत्कार सम्प्रदाय को एक पृथक् एवं प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र में प्रचलित षड्सम्प्रदाय– रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य के अतिरिक्त चमत्कार नामक सप्तम सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया गया है। चमत्कार तत्त्व को तर्क सहित प्राचीन ग्रन्थों के मतों को उदाहृत करते हुए इस ग्रन्थ में उपस्थापित किया है। इस प्रकार विद्वान् आचार्य ने चमत्कार के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए उसे काव्य की आत्मा के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है।

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्

यह ग्रन्थ सन् 2005 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके प्रणेता प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी हैं ।

(क) संस्कृत के प्रख्यात् विद्वान् प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी का जन्म 15 फरवरी सन् 1949 ई० में मध्य प्रदेश के राजगढ़ जनपद में हुआ था। इनके पिता का नाम डॉ० गोकुल प्रसाद त्रिपाठी तथा माता का नाम श्रीमती शकुन्तला देवी था। डॉ० हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्षचर प्रो० त्रिपाठी सम्प्रति राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हैं। प्रो० त्रिपाठी ने हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें महाकाव्य, नाटक तथा खण्डकाव्यादि हैं। संस्कृत साहित्य 20वीं शताब्दी, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य परम्परा तथा अथर्ववेद का काव्य आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रो० त्रिपाठी की कविताएँ तथा शोध-पत्र प्रकाशित होते रहते हैं। उपर्युक्त सूचनाएँ आचार्य से साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की गई हैं। वर्तमान समय तक विद्वान् आचार्य संस्कृत साहित्य की साधना में तत्पर हैं।

(ख) अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो तीन अधिकरणों में विभक्त है। काव्यस्वरूपनिर्णय नामक इसके प्रथम अधिकरण में छः अध्याय हैं। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में काव्यलक्षण, द्वितीय में काव्यप्रयोजन, तृतीय अध्याय में काव्यकारण, चतुर्थ में काव्यभेद, पञ्चम में शब्दव्यापार निरूपण तथा अन्तिम षष्ठ अध्याय में काव्य में शास्त्र सङ्गति पर विचार-विमर्श किया गया है। 'अलङ्कारविमर्श' नामक द्वितीय अधिकरण में भी छः अध्याय हैं, जिसके प्रथम अध्याय में अलङ्कार का स्वरूप, द्वितीय अध्याय में कविव्यापार का निरूपण, तृतीय में अलम्भाव निरूपण, चतुर्थ में अलङ्कार विभाग, पञ्चम में आभ्यान्तर अलङ्कार निरूपण तथा इस अधिकरण के अन्तिम षष्ठ अध्याय में बाह्य अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तिम तृतीय अधिकरण में पाठ्य (श्रव्य) और दृश्य काव्य की विधाओं

यथा-पद्य की विधा-गजल-गीति-मुक्तछन्दकाव्य, समस्याकाव्य आदि तथा गद्य की विधा यथा आलोचना, कथा, उपन्यास, संस्मरण, जीवन-चरित्र, आत्मकथा, रेखाचित्र, यात्रावृत्तान्त प्रभृति प्राचीन एवं अर्वाचीन विधाओं का आधुनिक सन्दर्भों के साथ लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है।

प्रो० त्रिपाठी अलङ्कारवादी आचार्य हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में अलङ्कार को काव्य की आत्मा बतलाते हुए पूर्वाचार्य वामन के मत का अनुसरण किया है। प्रस्तुत कृति में आचार्य ने अलङ्कारों के आभ्यान्तर और बाह्य दो विभाग किये हैं। इनमें प्रथम (आभ्यान्तर) में 11 प्रकार के अलङ्कार तथा द्वितीय विभाग (बाह्य) में कुल 18 प्रकार के अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। इसके प्रथम विभाग में प्रेमा, आह्लाद, विषादन, विभीषिका, व्यङ्ग्य, कौतुक, जिजीविषा, अहङ्कार, स्मृति, साक्ष्य तथा उदात्तादि नूतन मौलिक अलङ्कारों को लक्षणोदाहरणपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय विभाग में अलङ्कारों को चार वर्गों- सङ्घटनाश्रित, विरोधमूलक, औपम्यमूलक तथा वृत्तिमूलक में वर्गीकृत कर, अन्यथाकरण, छाया, स्वभाव या जाति और अतिशय, असङ्गति, विषम, द्वन्द्व, तानव, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, नादानुवृत्ति, यमक, श्लेष और लय आदि अलङ्कारों को अपनी नूतन मौलिक उद्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर अपनी नवीन विचार धारा को प्रस्तुत कर प्रो० त्रिपाठी ने काव्यशास्त्रीय परम्परा में पुनः समीक्षा का अवसर प्रदान कर इसका संवर्धन करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त प्रो० त्रिपाठी ने 'साहित्य वृक्षकारिका' के नाम से 13 कारिकाएँ लिखी हैं, जिनमें साहित्यरूपी वटवृक्ष की अद्भुत परिकल्पना की गई है। यह कारिकाएँ सागरिका पत्रिका के वर्ष 39, के द्वितीय अंक में सन् 2007 में प्रकाशित हैं। साहित्यरूपी वटवृक्ष के सन्दर्भ में प्रो० त्रिपाठी विरचित कारिकाएँ इस प्रकार हैं-

साहित्यं वटवृक्षः वाङ्मय विश्वेऽद्भुतोऽनुपम एव।
व्याप्ता यस्यानन्ताः शाखा अभितोऽम्रचुम्बिन्यः।।
नवतां धत्ते नित्यं रूपं रूपं भवेत् प्रतिरूपमपि।
शब्दकिसलयैरर्थैः पुष्पैः सौरभसमन्वितैश्च।।

विश्रान्तिं च लभन्ते सन्तो रसिका विहङ्गमा यस्मिन्।
कूजन्तो लयमधुरं कलयन्ति च ते कुलायमाशु।।
भावस्तथा विभावाः स्कन्धा वहवो भवन्ति तथैवास्य।
मूलं रसो निबद्धं गहनं भूमौ तथोपरि च।।
रस इह यदि न स्यात् पुष्पे पर्णे दले च शाखायाम्।
रसिका भ्रमरा कस्मादहमहमिकया पतेयुरत्र।।
अयमेवालङ्कारः जीवितभूतोऽस्य वृक्षराजस्य।
यावद् यावद् दृष्टस्तावत् सोऽयं नवो विभाति।।
सौन्दर्यस्य निधानं आकर एकश्च सर्वशास्त्राणाम्।
विद्यायतनं दिव्यं विलसति काव्यं वटः सदैव।।
प्रतिभा वीजं ज्ञानं भूमिर्जलसिञ्चनं तथाऽभ्यासः।
अङ्कुरित पल्लवितः पुष्पित एष च भवत्यजस्रम्।।
काव्योद्याने चास्मिन् कविरुद्यानस्य पालकोऽस्ति।
निर्मायैनं वृक्षं चास्मिन् सोऽपि स्वयं लीनः।।
वर्णाद् वर्णं शब्दाच्छब्दं वाक्यात् तथैव वाक्य च।
गमने यो विच्छेदस्तस्मिन् कविराविर्भवति सः।।
वर्णे वर्णे पर्णे पर्णे भातिच्छविस्तदीयैव।
सृष्ट्वा जगदिदमखिलं तल्लीनस्य च यथेश्वरस्य।।
तावदेव संसारः सत्यं याति प्रतीयमानत्वम्।
संसारेऽस्मिन् वृक्षः यावच्चासौ समुल्लसति।।
यावद् यावद् तिष्ठति छायायामस्य पश्यतिच्छविं च।
तावत् तावत् मुच्यति रागात् पापषाच्च बन्धनाच्च।।

इस प्रकार प्रो० त्रिपाठी ने इन कारिकाओं में साहित्यवृक्ष की परिकल्पना की है। इस काव्यरूपी उद्यान का पालक कवि है। इसी में शाखा-प्रशाखा रूप में अलङ्कार, गुण, रीति तथा वक्रोक्ति आदि पल्लवित पुष्पित होते हैं।

अभिराजयशोभूषणम्

यह ग्रन्थ सन् 2006 ई० में वैजयन्त प्रकाशन, 8- वाघम्बरीमार्ग,

भारद्वाजपुरम, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित है। इसके प्रणेता प्रो० राजेन्द्र मिश्र हैं।

(क) प्रतिभा के धनी, संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् तथा कविता कामिनी के जादू से जनमानस को मन्त्र मुग्ध करने वाले कविराज 'अभिराज' प्रो० राजेन्द्र मिश्र का जन्म 2 जनवरी सन् 1943 ई० में ग्राम द्रोणीपुर, पोस्ट–खुंशापुर, जनपद–जौनपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा माता का नाम श्रीमती अभिराजी देवी था। आचार्य ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के विद्यालय एवं पार्श्वस्थ जयहिन्द इण्टर कॉलेज में सम्पन्न करने के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी०ए०, एम्० ए० तथा डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की। प्रो० मिश्र शोध समाप्ति की अवधि में ही 10 दिसम्बर सन् 1966 ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में ही प्रवक्ता पद पर नियुक्त हो गये। तब से जनवरी सन् 1991 ई० तक प्रवक्ता एवं प्रवाचक पदों पर कार्यरत रहे। इसी दरम्यान भारत सरकार की नियुक्ति पर अप्रैल सन् 1987 ई० से मार्च सन् 1989 ई० तक बालीद्वीप के उदयन विश्वविद्यालय (इण्डोनेशिया) में विजिटिंग प्रोफेसर रहे तथा उच्चस्तरीय अन्तर्राष्ट्रीय शोध कार्य किया। भारत लौटते ही प्रो० मिश्र शिमला विश्वविद्यालय, शिमला में प्रोफेसर नियुक्त हो गये तथा 12 वर्षों की सेवा के बाद 24 अप्रैल सन् 2002 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) के कुलपति पद पर अधिष्ठित हुए। हिन्दी, संस्कृत, भोजपुरी, अंग्रेजी तथा जावीभाषा में काव्य, नाट्य, कथा एवं समीक्षा के प्रातिभ सर्जक, सहृदय कवि एवं प्रखर चिन्तक प्रो० मिश्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के ख्यातिलभ्य विद्वान् हैं। आचार्य द्वारा विरचित अनेक कविताएँ तथा शोध–पत्र विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। इन्होंने कई मौलिक ग्रन्थों की रचना, सम्पादन एवं अनुवाद किया। जानकीजीवनम् एवं वामनावतरणम् महाकाव्य, विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम्, वी० राघवन् कृत नम्बर ऑफ रसाज का हिन्दी अनुवाद तथा अनेक नाटक, खण्डकाव्य आदि की रचनाएँ प्रो० मिश्र ने की हैं। प्रस्तुत सूचनाएँ प्रो० मिश्र द्वारा साक्षात्कार करके प्राप्त हुई हैं। प्रो० मिश्र के ग्रन्थों की संख्या लगभग 200 से भी अधिक है। वर्तमान में भी अन्य अनेक मौलिक रचनाएँ तथा

कविता-कहानियाँ, पत्र- पत्रिकाओं तथा विभिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हो रही हैं।

(ख) अभिराजयशोभूषणम् पाँच अंशों (उन्मेषों) में विभक्त काव्यशास्त्रीय कृति है। इस ग्रन्थ के परिचयोन्मेष नामक प्रथम अंश में मङ्गलाचरण के अनन्तर कवि ने विषय सामग्री को पाँच प्रकरणों में विभक्त कर विवेचित किया है। इसके प्रथम प्रकरण का नाम काव्यप्रशंसाप्रकरण है। द्वितीय का नाम काव्यप्रयोजन प्रकरण, तृतीय का काव्यहेतु, चतुर्थ का काव्यलक्षण तथा अन्तिम पञ्चम प्रकरण का नाम काव्यशाखा प्रकरण है। वपुस्तत्त्वोन्मेष नामक द्वितीय अंश में भी पाँच प्रकरण हैं, जिसका प्रथम प्रकरण शब्दार्थ प्रकरण है, द्वितीय शब्दशक्ति प्रकरण, तृतीय रीतिवृत्ति प्रकरण, चतुर्थ गुण प्रकरण तथा अन्तिम पञ्चम प्रकरण अलङ्कार प्रकरण है। आत्मतत्त्वोन्मेष नामक तृतीय उन्मेष (अंश) छः प्रकरणों से युक्त है, जिसका प्रथम प्रकरण रसात्मत्व प्रकरण, द्वितीय अलङ्कारात्मत्व प्रकरण, तृतीय रीति काव्यात्मत्व प्रकरण, चतुर्थ वक्रोक्ति काव्यात्मत्व प्रकरण, पञ्चम औचित्यकाव्यात्मत्व प्रकरण तथा अन्तिम षष्ठ प्रकरण ध्वनिकाव्यात्मत्व प्रकरण है। निर्मितितत्त्वोन्मेष नामक चतुर्थ अंश (उन्मेष) में काव्यभेद निरूपण, उपरूपक, नाटक लक्षण, श्रव्यकाव्य सन्दर्भ, लघुकथा लक्षण, चम्पूकाव्य सन्दर्भ प्रभृति विषयों का विद्वान् आचार्य ने लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष नामक अन्तिम पञ्चम अंश (उन्मेष) में आचार्य ने गीत प्रकरण, गीत भेद निरूपण (शास्त्रीय गीत एवं लोकगीत), लोकगीत प्रकरण- कजरी गीत, रसिक गीत-(रसिया), फाल्गुनिक- (फाग), चैत्रक- (चैता), सूत्रगृह गीत- (सोहर), बटुक गीत- (बरुआ), प्रचरण गीत- (पचरा), नक्तम (नकटा) गीत, औष्ट्रहारिक- (ऊँटहारा) गीत आदि का भेदोपभेद सहित लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। गीत सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए गलज्जलिका (गजल) सन्दर्भ, गजल संविधानक निरूपण एवं छन्दोमुक्तकाव्यप्रकरण में आचार्य ने इस विधा के काव्यों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन किया है। अनन्तर कवि ने विद्वत्तापूर्वक ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

प्रस्तुत कृति इस सदी की महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय रचना है, जिसमें विद्वान् आचार्य ने काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का मौलिक लक्षण

प्रस्तुत करते हुए अर्वाचीन ग्रन्थों से उनके उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण विवेच्य विषयों को विवेचित करने वाले इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में प्रो० मिश्र ने इस सदी की अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रीय कृतियों के गुण-दोषों का खण्डन-मण्डन करते हुए तर्कसहित विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य की 567 मौलिक कारिकाएँ हैं, जिन पर वृत्ति लिखकर विषयों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है तथा साथ ही साथ उसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण अर्वाचीन संस्कृत रचनाओं से संग्रहीत हैं। इनमें से शताधिक पद्य स्वयं प्रो० मिश्र ने अपने ग्रन्थों से ही उद्धृत किये हैं। लक्षणा विवेचन के प्रसङ्ग में भी आचार्य ने समस्त नूतन उदाहरणों का ही समावेश किया है। यथा-संसद ब्रवीति, अर्धोरुका अभ्यस्यन्ति, शुकोमाणवकः, पञ्चनदश्शूरः, कृष्णादुह्यते आदि। इसी प्रकार अभिधामूल व्यञ्जना के भी उदाहरणों यथा-सभालचन्द्रो गङ्गाधरः, अभालचन्द्रोगङ्गाधरः, रामकृष्णौ, अहिनकुलौ आदि का प्रयोग किया है। अतः यह अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ पारम्परिक मौलिक सिद्धान्तों को अङ्गीकृत करते हुए नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रो० मिश्र ने इसमें महाकाव्य तथा नाटकादि का लक्षण वर्तमान युग के अनुरूप प्रस्तुत किया है।

लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण-(देवीस्तवः)

यह ग्रन्थ सन् 2006 ई० में आचार्य नित्यानन्द स्मृति संस्कृत शिक्षा एवं शोध-संस्थान, गिरिजा निकेतन, ए-136, लेक गार्डेन्स, कलकत्ता से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य नित्यानन्द शास्त्री तथा सम्पादक डॉ० कमलाप्रसाद द्विवेदी हैं। सर्वप्रथम यह ग्रन्थ सन् 1912 ई० में मुम्बई के सुप्रसिद्ध प्रेस सेठ खेमराज श्रीकृष्ण दास वेङ्कटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ था, परन्तु वह संस्करण भारतीय विद्वानों की पहुँच से दूर रहा, क्योंकि पुस्तक के प्रारम्भिक भाग में प्रकाशकीय सन्दर्भ में यह सूचना दी गई है कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देश के बाहर चली गई थी। प्रस्तुत (वर्तमान) संस्करण के प्रकाशक का मानना है कि सम्भवतः प्रथम प्रकाशक ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर देश के बाहर भेज दिया हो, क्योंकि इसकी एक प्रति जर्मनी के किसी विद्वान् को मिली। यह

सूचना ग्रन्थ के प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखी गई है। यह वक्तव्य इस ग्रन्थ के प्रकाशक, ग्रन्थकर्ता के दौहित्र श्री ओमप्रकाश आचार्य ने दिया है।[1] इस ग्रन्थ में पुरोवाक् संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने लिखा है तथा प्रस्तावना प्रो० रमारञ्जन मुखर्जी ने लिखी है। प्रस्तुत संस्करण की एक प्रति गहन अनुसन्धान के पश्चात् लेखक के घर से सम्पादक को प्राप्त हुई। इस प्रकार लेखक के घर से प्राप्त प्रति तथा जर्मन से प्राप्त होने वाली दोनों प्रतियों को मिलाए जाने पर दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अतः सन् 1912 ई० वाले प्रकाशन को संस्करण नहीं माना गया है।

(क) आचार्य नित्यानन्द शास्त्री का जन्म सन् 1889 ई० में जोधपुर, राजस्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० माधव कवीन्द्र था। ये मूलतः मारवाड़ में जैतारण के निवासी थे। कालान्तर में किसी कारणवश जयपुर से जोधपुर आ गये। आचार्य शास्त्री जी की 7 वर्ष की अवस्था में ही इनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। इनकी शिक्षा-दीक्षा इनके ज्येष्ठ भ्राता पं० भगवतीलाल जी के संरक्षण में सम्पन्न हुई।

प्रतिभा सम्पन्न आचार्य नित्यानन्द शास्त्री ने पंजाब विश्वविद्यालय से संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में अपना अध्ययन पूरा किया। प्रारम्भ से ही काव्यरचना करने में कवि की विशेष रुचि थी। समस्यापूर्ति काव्यरचना में ये सिद्धहस्त थे। सन् 1912 ई० में जोधपुर के राजपूत नोवल्स स्कूल के हाई स्कूल बनने पर शास्त्री जी को हिन्दी-संस्कृत के प्रधान अध्यापक पद पर नियुक्त कर दिया गया। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें **श्रीरामचरिताब्धिरत्नम्**-(संस्कृत महाचित्रकाव्य)-प्रस्तुत ग्रन्थ में पुरोवाक् देवर्षिकलानाथ शास्त्री ने लिखकर इसका सम्पादन भी किया है। **श्रीहनुमद्दूतम्**-(संस्कृत दूतकाव्य)- इस ग्रन्थ में पुरोवाक् डॉ० रमारञ्जन मुखर्जी तथा डॉ० मानवेन्दु वनर्जी द्वारा लिखा गया है। **श्रीबालकृष्णनक्षत्रमाला**- (संस्कृत भक्तिकाव्य)- इस ग्रन्थ का भी पुरोवाक् देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने लिखा है। **रामकथाकल्पलता**- (हिन्दी महाकाव्य)- इस ग्रन्थ पर पुरोवाक् लिखकर इसका सम्पादन डॉ० वीरेन्द्र शर्मा ने किया है। **श्रीदधीचिचरित**- (हिन्दी

1. लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण-प्रारम्भिक भाग

खण्डकाव्य)-इसका सम्पादन भी डॉ० वीरेन्द्रशर्मा ने ही किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य शास्त्री जी ने 'दधिमती' पत्रिका और 'सनातन' नामक पत्र का भी सम्पादन किया। सन् 1961 ई० में 72 वर्ष की अवस्था में कवि का देहावसान हो गया। यह सूचना इनके दौहित्र ओमप्रकाश आचार्य द्वारा प्राप्त की गई है। अतः शास्त्री जी का समय सन् 1889 ई० से सन् 1961 ई० तक निर्विवादतः निर्धारित किया गया है।

(ख) लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें 39 अलङ्कार तथा 40 छन्द (दधिमथी) देवी भगवती की स्तुति में रचित 40 पद्यों में प्रयुक्त हुए हैं, जिनको लक्षणोदाहरणपूर्वक इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के प्रथम श्लोक से अन्तिम 40वें श्लोक तक जिन अलङ्कारों तथा छन्दों का प्रयोग हुआ है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं-प्रथम श्लोक में चित्र अलङ्कार तथा आर्या छन्द है। द्वितीय में वक्रोक्ति अलङ्कार तथा गीति छन्द, तृतीय में अनुप्रास तथा उपगीति, चतुर्थ में यमक तथा अक्षरपङ्क्ति, पञ्चम में जाति तथा शशिवदना, षष्ठ पद्य में उपमा तथा मदलेखा, सप्तम में रूपक अलङ्कार तथा श्लोक छन्द है। अष्टम में प्रतिवस्तूपमा तथा पद्य, नवम में भ्रान्तिमान तथा माणवकाक्रीडम् छन्द, दशम में आक्षेप तथा नगस्वरूपिणी, एकादश में संशय तथा विद्युन्माला, द्वादश में दृष्यान्त तथा चम्पकमाला, त्रयोदश में व्यतिरेक तथा मणिबन्ध, चतुर्दश में अपह्नुति तथा हंसी, पञ्चदश में तुल्योगिता तथा शालिनी, षोडश में उत्प्रेक्षा तथा दोधकम्, सप्तदश में अर्थान्तरन्यास तथा इन्द्रवज्रा, अष्टादश में समासोक्ति तथा उपेन्द्रवज्रा, एकोनविंशति में विभावना तथा उपजाति, विंशति में दीपक तथा (विपरीता) आख्यानकी, एकविंशति में अतिशय तथा रथोद्धता, द्वाविंशति में हेतु तथा स्वागता, त्रयोविंशति में पर्यायोक्ति तथा वैश्वदेवी, चतुर्विंशति में समाहित तथा तोटक, पञ्चविंशति में परिवृत्ति तथा भुजङ्गप्रयात, षड्विंशति में यथासङ्ख्य तथा द्रुतविलम्बित, सप्तविंशति में विषम तथा प्रतिमाक्षरा, अष्टविंशति में सहोक्ति तथा हरिणीप्लुता, एकोनत्रिंशत में विरोध तथा वंशस्थ, त्रिंशत् में अवसर तथा इन्द्रवंशा छन्द, एकत्रिंशत में सार अलङ्कार तथा प्रभावती छन्द है। द्वात्रिंशत में श्लेष तथा प्रहर्षिणी, त्रयस्त्रिंशत में समुच्चय तथा वसन्ततिलकम्, चतुस्त्रिंशत में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा मालिनी, पञ्चत्रिंशत में

एकावली तथा हरिणी, षट्त्रिंशत में अनुमान तथा शिखररिणी, सप्तत्रिंशत में परिसङ्ख्या तथा पृथ्वी, अष्यत्रिंशत में प्रश्नोत्तर अलङ्कार तथा मन्दाक्रान्ता छन्द, एकोनचत्वारिंशत् में सङ्कर तथा शार्दूलविक्रीडित तथा अन्तिम चत्वारिंशत पद्य में स्रग्धरा छन्द है। इस प्रकार इन 40 पद्यों में प्रयुक्त अलङ्कारों तथा छन्दों का लक्षण विद्वान् आचार्य ने अपनी मौलिक प्रतिभा के आधार पर प्रस्तुत किया है।

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों में पाण्डित्यपूर्ण काव्यरचना करने वाले आचार्यों में पं० नित्यानन्द शास्त्री भी प्रमुख कवि हैं। इनके द्वारा रचित यह चित्रकाव्य है, जिसमें चमत्कारपूर्ण शब्दयोजना के माध्यम से कवि ने प्रत्येक पद्य में एक अलङ्कार तथा छन्द का सुन्दर विन्यास किया है। ये पद्य कवि ने देवी भगवती (दधिमथी) की स्तुति में रचे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में अलङ्कारों तथा छन्दों के लक्षण कवि ने स्वोपज्ञ दिये हैं, उदाहरणस्वरूप भी कवि के यही समस्त पद्य हैं।

नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा

यह कृति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशनाधीन है, परन्तु इस पुस्तक का कतिपय अंश, कालिदास अकादमी, मध्यप्रदेश से प्रकाशित होने वाली 'दूर्वा' पत्रिका के द्वितीयोन्मेष, अप्रैल-मई-जून-2005 के अंक में प्रकाशित है। इसके प्रणेता प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी हैं।

(क) प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी का जन्म सन् 1947 ई० में समहन नामक ग्राम (मेजा रोड़) इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० रामअभिलाष द्विवेदी था। इनकी शिक्षा-दीक्षा प्रयाग और जाबालिपुर, मध्य प्रदेश में सम्पन्न हुई। कवि के शताधिक शोध-पत्र तथा कविताएँ विभिन्न संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं तथा हो भी रही हैं। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें अर्वाचीन संस्कृत महाकाव्यानुशीलनम्, संस्कृत महाकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन, श्रीकृष्णस्य स्वस्ति सन्देशः तथा साहित्यविमर्शः आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रो० द्विवेदी को सन् 1998 ई० में जबलपुर (मध्य प्रदेश) से 'आचार्यश्री' के सम्मान से सम्मानित

भी किया गया है। प्रो० द्विवेदी सन् 1947 ई० से वर्तमान समय तक संस्कृत साहित्य सेवा में निरत हैं।

(ख) नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, महाकाव्यलक्षण, रागकाव्यलक्षण, विमानकाव्यलक्षण, दूतकाव्यलक्षण, लहरीकाव्यलक्षण, उपन्यासलक्षण, लघुकथालक्षण, प्रगतिशीलकाव्यलक्षण, सौन्दर्यविधानलक्षण, बिम्बविधानलक्षण, प्रतीक-विधानलक्षण, स्तोत्रकाव्यलक्षण, शतककाव्यलक्षण, समस्यापूर्तिकाव्यलक्षण, नभोनाट्यम (रेडियोरूपक)-लक्षण, गीतकाव्यलक्षण, अनुकृतिकाव्यलक्षण, हास्यव्यङ्ग्यकाव्यलक्षण, अन्योक्तिकाव्यलक्षण, विल्वपत्र (हाईकू) काव्यलक्षण, तान्काकाव्यलक्षण, सीज़ोकाव्यलक्षण, लघुबिम्बकाव्य (MonoEmage)-लक्षण, लिपिरूपककाव्यलक्षण एवं लघुवर्णकाव्य आदि का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने दो नूतन रस-प्रक्षोभरस तथा राष्ट्रभक्तिरस के लक्षण को स्थायीभावादि सहित प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत कृति प्रो० द्विवेदी की प्रकाश्य कृति है, जिसका उपर्युक्त अंश दूर्वा पत्रिका में सन् 2005 में प्रकाशित है। इस कृति में आचार्य ने काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य को अभिलक्षित करके लक्षण किया है। प्रो० द्विवेदी ने इस लघुकाव्य में अर्वाचीन संस्कृत आचार्यों द्वारा विरचित काव्य की नूतन विधाओं का लक्षण तो किया ही है, साथ ही साथ संस्कृत के कतिपय प्रमुख विद्वान्, जिन्होंने वैदेशिक काव्यविधा को गृहीत कर संस्कृत में काव्यरचनाएँ की हैं, कवि ने उन काव्यों के भी लक्षणों को इस कृति में प्रस्तुत किया है।

अलङ्कारविद्योतनम्

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना सन् 1970 ई० में हुई; परन्तु इसका प्रकाशन सन् 2008 में हुआ है। इसके प्रणेता पं० कृष्णमाधव झा हैं। यह सूचना इस ग्रन्थ के सम्पादक, द्वारा प्राप्त की गई है, जो लेखक के पौत्र हैं। इसका प्रकाशन सुस्मिता निवास, पथुरियासाही, पुरी, उड़ीसा से हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादक डॉ० उदयनाथ झा 'अशोक' हैं, जो राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) श्रीसदाशिव परिसर, पुरी में संस्कृत विभाग में प्रवाचक हैं।

(क) म० म० पं० कृष्णमाधव झा का जन्म सन् 1898 ई० में मिथिला प्रदेश के मधुबनी (तत्कालीन दरभङ्गा) जनपद के विट्ठो नामक ग्राम में हुआ था। पं० झा भारतीय दर्शन में विशेषतः नव्यन्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इनके पिता का नाम पं० बुद्धिनाथ झा तथा माता का नाम श्रीमती भागेश्वरी देवी था। दरभङ्गा के निकटवर्ती देव जनपद के सरिसबपाही ग्राम में स्थित लक्ष्मीवती संस्कृत पाठशाला में पं० प्रवर रत्नेश्वर झा तथा महावैय्याकरण पं० दीनबन्धु झा महाशय से व्याकरण और काव्यविद्या का सम्यक् अध्ययन कर, पं० कृष्णमाधव झा अध्ययनार्थ वाराणसी आये। वहाँ पर उन्होंने मनीषिमण्डल महामहोपाध्याय वामनाचरण भट्टाचार्य महोदय तथा वंगीय परम्परा के दार्शनिक सार्वभौम पण्डित मार्कण्डेय मिश्र महोदय से न्यायविद्या, मैथिल परम्परा के महामहोपाध्याय पण्डित फणिभूषणतर्कवागीश महोदय से विशद् वेदान्तविद्या, विद्वन्मणि मध्वसम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीदामोदर लाल महोदय से साहित्यशास्त्र की विद्या को आत्मासात किया। वाराणसी में ही कतिपय वर्ष न्यायशास्त्र पढ़ाकर अपनी अध्यापन पटुता से यश विभूषित पं० झा महोदय सन् 1928 ई० में मुम्बई के सन्यास आश्रम महाविद्यालय में न्यायशास्त्र के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित हुए। इसके अनन्तर वे जे० वी० एम० संस्कृत महाविद्यालय और आध्यात्मिक संस्कृत महाविद्यालय में क्रमशः प्रधानाचार्य पद पर नियुक्त हुए।[1]

पण्डित कृष्णमाधव झा ने न्याय, वेदान्त, धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र और व्याकरणशास्त्र पर कतिपय मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की। ईश्वरसिद्धिविचार, मलमासविचार, शुद्धिनिर्णय (अशौचनिर्णय), अलङ्कारमीमांसा तथा अलङ्कारविद्योतनम् आदि मौलिक ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तलक्षण-सुबोधिनी, रसगङ्गाधरतारिणी, माधुरीलक्षणीतारिणी, खण्डनखण्डखाद्यतारिणी, शक्तिवादव्याख्या, व्युत्पत्तिवादव्याख्या, दशश्लोकीव्याख्या, पञ्चदशीव्याख्या, वाक्यपदीयतत्त्वप्रकाशिका, हरविजयव्याख्या इत्यादि ग्रन्थों की व्याख्या भी की। सन् 1937 ई० में वार्षिकोत्सव के प्रसङ्ग पर पं० झा महोदय को तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि द्वारा भारतीय परिषद् की महामहिम

1. द्रष्टव्य-परमलघुमञ्जूषा-तथा अलङ्कारविद्योतनम् का भूमिका भाग।

उपाध्याय की मानद उपाधि प्रदान की गई। सन् 1984 ई० में उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा संस्कृत-शास्त्रों की व्यापक सेवा से प्रभावित होकर शांकर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसके पूर्व पटना चेतना समिति द्वारा इनके संस्कृत वाङ्मय सेवा के लिए ताम्रपत्र प्रदान कर सम्मानित किया गया था। सन् 1985 ई० में संस्कृत के उद्भट विद्वान् पं० कृष्णमाधव झा का देहावसान हो गया। यह सूचना प्रकृत पुस्तक में तो दी ही गई है, परन्तु दूरभाष द्वारा यह सूचना इनके पौत्र द्वारा भी प्राप्त की गई। इस प्रकार पं० कृष्ण माधव झा का समय सन् 1898 ई० से सन् 1985 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) अलङ्कारविद्योतनम् आलङ्कारिक ग्रन्थ है, जिसमें 124 अलङ्कारों को लक्षणोदाहरणपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित अलङ्कार निम्नलिखित हैं-

(1) अतद्गुण (2) अतिशयोक्ति (3) अत्युक्ति (4) अधिकालङ्कार (5) अनन्वय (6) अनुगुण (7) अनुपलब्ध्यलङ्कार (8) अनुमान (9) अनुज्ञा (10) अन्योन्य (11)अपह्नुत्यलङ्कार (12) अप्रस्तुतप्रशंसा (13) अर्थान्तरन्यास (14) अर्थापत्ति (15) अर्थापत्त्यलङ्कार (16) अल्पालङ्कार (17) अवज्ञा (18) असङ्गत्यलङ्कार(19) असंभवालङ्कार (20) अङ्गाङ्गिभावसङ्कर (21) आक्षेपालङ्कार (22) आत्मतुष्टिप्रमाणालङ्कार (23) आवृत्तिदीपक (24) उत्प्रेक्षा (25) उत्तरालङ्कार (26) उदात्तालङ्कार (27) उन्मीलित (28) उपमा (29) उपमान (30) उमेयोपमा (31) उल्लास (32) उल्लेख (33) उर्जस्वि (34) एकवचनानुप्रवेशसङ्कर (35) एकावली (36) ऐतिह्यालङ्कार (37) कारकदीपक (38) कारणमाला (39) काव्यलिङ्ग (40) गूढ़ोक्ति (41) छेकोक्ति (42) तद्गुण (43) तुल्ययोगिता (44) दीपक (45) दृष्टान्त (46) निदर्शना (47) निरुक्ति (48) परिकर (49)परिकराङ्कुर (50) परिमाण (51) परिवृत्ति (52) परिसङ्ख्या (53) पर्याय (54) पर्यायोक्त (55) पिहित (56) पूर्वरूप (57) प्रतिवस्तूपमा (58) प्रतिषेध (59) प्रतीप (60) प्रत्यनीक (61) प्रत्यक्ष (62) प्रस्तुताङ्कुर (63) प्रहर्षण (64) प्रेय (65) प्रौढ़ोक्ति (66) भावशबलता (67) भावसन्धि (68) भाविक (69) भावोदय (70) भ्रान्ति (71) मालादीपक (72)

मिथ्याध्यवसिति (73) मीलित (74) मुद्रा (75) यथासङ्ख्य (76) युक्ति (77)रत्नावली (78) रसवद् (79) रूपक (80) ललित (81) लिङ्ग (82) लेख (83) लोकोक्ति (84) वक्रोक्ति (85) विकल्प (86) विकस्वर (87) विचित्र (88) विधि (89) विनोक्ति (90) विभावना (91) विरोधाभास (92) विवृतोक्ति (93) विशेषः (94) विशेषालङ्कार (95) विशेषोक्ति (96) विषम (97) विषादन (98) व्यतिरेक (99) व्याघात (100) व्याजनिन्दा (101) व्याजस्तुति (102) व्याजोक्ति (103) शब्दप्रमाण (104)श्रुत्यलंकार (105) श्लेषालङ्कार (106) सन्देहसङ्कर (107) सन्देह (108) समप्राधान्यसङ्कर (109) समाधि (110) सम (111) समासोक्ति (112) समाहित (113) समुच्चय (114) सम्भव (115) सम्भावना (116) सहोक्ति (117) सामान्य(118) सारालङ्कार (119) सूक्ष्म (120) संसृष्टि (121) स्मरण (122) स्मृति (123) स्वभावोक्ति तथा (124) हेतु।

प्रस्तुत कृति में 124 अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है। लक्षणों तथा उदाहरणों के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य ने इन पर वृत्ति भी लिखी है। इस ग्रन्थ में पं० झा महोदय ने पण्डितराजजगन्नाथ तथा अप्पयदीक्षित प्रतिपादित अलङ्कारों का परिष्कार करते हुए नव्यन्याय शैली में इसका निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इस कृति में विवेचित समस्त अलङ्कार कुवलयानन्द के ही हैं, जिन्हें विद्वान् आचार्य ने अपनी मौलिक दृष्टि के साथ नव्यन्याय शैली में विवेचित किया है। इस कार्य को सर्वप्रथम विश्वेश्वर पण्डित ने अपने ग्रन्थ अलङ्कारकौस्तुभ में किया था। इसके बाद म० म० बालकृष्ण मिश्र ने लक्ष्मीश्वरीचरित की स्वोपज्ञ व्याख्या में किया।[1] कुवलयानन्द में प्रतिपादित 123 अलङ्कारों में सङ्कर अलङ्कार को म० म० प० झा ने अलङ्कार नहीं माना है, अपितु आत्मतुष्टि प्रमाण और लिङ्गालङ्कार नामक दो अतिरिक्त अलङ्कारों को स्वीकार किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आचार्य ने केवल अलङ्कारों पर ही अपनी विचारमीमांसा को प्रस्तुत कर काव्यशास्त्र की परम्परा का सम्वर्धन किया है।

---

1. अलङ्कारविद्योतनम्-भूमिका भाग

टीका ग्रन्थ

1. कुवलयानन्द की चन्द्रिका-व्याख्या

2. ध्वन्यालोकलोचन की बालप्रिया-व्याख्या

3. चित्रमीमांसा की व्याख्या

उपर्युक्त तीनों टीकाओं की व्याख्या राम पिशारडी ने की है। ये कुच्चि के इरंगाल, कुड़ामहाक्षेत्र, पिशारट, केरल के रहने वाले हैं। इनका विवरण डॉ० आनन्द श्रीवास्तव ने अपने ग्रन्थ आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र में दिया है तथा प्रो०जगन्नाथ पाठक द्वारा सम्पादित संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (सप्तम खण्ड) में भी दिया गया है। परन्तु वर्तमान समय में ये तीनों कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। इनका विवरण सन् 1968 तथा सन् 1964 ई० के चौखम्बा प्रतिष्ठान के केटलॉग में है, लेकिन ये आउट ऑफ प्रिन्ट हैं।

4. काव्यप्रकाश की व्याख्या

इसके लेखक खुद्दी झा हैं। प्रस्तुत टीका मिथिला संस्कृत शोध-संस्थान, कबराघाट, महेश नगर, दरभङ्गा, बिहार में पाण्डुलिपि रूप में उपलब्ध है। यह सूचना प्रो० शशिनाथ झा, वर्तमान व्याकरण, विभागाध्यक्ष कामेश्वर सिंह दरभङ्गा विश्वविद्यालय, दरभङ्गा बिहार ने तथा डॉ० उदयनाथ झा, वर्तमान प्रवाचक-श्री सदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ पुरी, उड़ीसा ने प्रदान की।

5. ध्वन्यालोकोज्जीवनी

इसके लेखक नीलकण्ठ शास्त्री हैं। ये गवर्नमेन्ट कॉलेज त्रिवेन्द्रम में न्याय विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। यह कृति सन् 1981 ई० में केरल विश्वविद्यालय, तिरुवनन्तपुरम से प्रकाशित है। यह पुस्तक दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रिय सन्दर्भ पुस्तकालय में उपलब्ध है।

6. ध्वन्यालोक पर व्याख्या

यह व्याख्या कुप्पूस्वामी शास्त्री ने की थी, जो चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान,

वाराणसी से प्रकाशित थी। वर्तमान समय में यह कृति आउट ऑफ प्रिन्ट है। इसका विवरण सन् 1968 के चौखम्बा के केटलॉग में दिया गया है।

7. रसमञ्जरी पर सुरभि व्याख्या

8. रसगङ्गाधर पर चन्द्रिका व्याख्या

9. ध्वन्यालोक पर दीधिति व्याख्या

उपर्युक्त तीनों व्याख्याएँ कविशेखर बदरीनाथ झा द्वारा लिखी गयी हैं। ये समस्त टीकाएँ चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान पर विभिन्न वर्षों में कई पुनर्मुद्रित संस्करणों के साथ प्रकाशित तथा उपलब्ध हैं।

10. ध्वन्यालोकलोचनविमर्श

यह कृति सन् 1978 ई० में मिथिला इन्सटीट्यूट पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, महेश नगर दरभङ्गा से प्रकाशित है। इसके लेखक पं० वैद्यनाथ झा हैं। यह कृति भी दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय में उपलब्ध है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में पं० झा का मङ्गलाचरण करते हुए कथन है –

यत्कारुण्यवशादेव जड़ो वाचस्पतीयति।
त्रिजगज्जानीमम्बां तामहं हृदये श्रये।।
त्रिस्कन्धज्यौतिषं धर्मशास्त्रं च रसनाऽश्रितम्।
यस्य गङ्गेश्वरं तातं तं तपोमूर्त्तिमाश्रये।।
विद्वत्कुलाऽऽनन्द करं गुरुं तं श्रीमत्कुलानन्दमहं नमामि।
यस्यानुकम्पावशतः प्रवृत्तिर्जाता विमर्शे मम लोचनस्य।।
लोचनस्यातिगाम्भीर्यं मान्द्यं ज्ञात्वापि चात्मनः।
यदहं वैद्यनाथोऽत्र प्रवृत्तः, सा गुरोः कृपा।।

यह ग्रन्थ सात उन्मेषों में विभक्त है, जिसमें ध्वनि विषयक विभिन्न आचार्यों के मन्तव्यों का खण्डनमण्डनात्मक विवेचन किया गया है।

11. दीपशिखा टीका-(ध्वन्यालोक)

यह कृति विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से सन् 1983 ई० में प्रकाशित है। इसके प्रणेता आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल हैं। आचार्य शुक्ल का जन्म सन् 1921 ई० में प्रयाग जनपद के मेजा तहसील में गङ्गानदी के तट पर स्थित परवा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामकिशोर शुक्ल था। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम्०ए० तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्य में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से नैषध-महाकाव्य पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की, जो नैषधपरिशीलन नाम से हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से सन् 1960 ई० में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुआ तथा इसकी प्रशंसा म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज प्रभृति मूर्धन्य विद्वानों ने की। सन् 1953 ई० में डॉ० शुक्ल इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुए तथा सन् 1968 ई० में वहीं रीडर पद पर और सन् 1980 में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हुए। सन् 1969 ई० में डॉ० शुक्ल ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही ' शृङ्गार-रस' पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। इनका यह शोध-प्रबन्ध भी हिन्दुस्तानी एकेडमी से ही सन् 1983 ई० में ' शृङ्गार-परिशीलन' नाम से प्रकाशित है। डॉ० शुक्ल ने साहित्य, व्याकरण तथा अन्य संस्कृत विषयों का अध्यापन एवं शोध-निर्देशन करते हुए अद्वितीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है। राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत डॉ० शुक्ल ने सन् 1982 ई० में 'माघकवि' नाम से साहित्य अकादमी से प्रकाशित पुस्तिका में कवि माघ एवं उनके काव्य पर विवेचनात्मक मौलिक आलेख प्रस्तुत किया था।[1] संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० शुक्ल सन् 1921 ई० से वर्तमान समय तक संस्कृत भारती की सेवा में सन्नद्ध हैं।

12. सहृदयालोकलोचन- (ध्वन्यालोकलोचन) पर चिन्मयी टीका

यह ग्रन्थ सन् 2005 ई० में तीन भागों में एल० डी० इन्सटीट्यूट ऑफ

---

1. आधुनिक संस्कृत काव्य परम्परा-केशवराव मुसलगाँवकर-पृ०-359

इन्डोलॉजी, नवरङ्गपुरा, अहमदाबाद से प्रकाशित है। इसके लेखक प्रो० तपस्वी नान्दी हैं। यह ग्रन्थ आङ्गल भाषा में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में विद्वान् आचार्य ने अपने सम्पूर्ण जीवन की तपस्या के अनन्तर आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त पर अपनी मौलिक विचार धाराओं को उद्घाटित किया है।

समीक्षा ग्रन्थ

काव्यतत्त्वसमीक्षा

यह ग्रन्थ सन् 1959 ई० में मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था; परन्तु वर्तमान समय में आउट ऑफ प्रिन्ट है। प्रस्तुत पुस्तक की प्रति प्रो० उषा चौधरी से छायाप्रति के रूप में प्राप्त कर इसका अवलोकन किया। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० नरेन्द्रनाथ शर्मा चौधुरी हैं।

(क) डॉ० नरेन्द्र नाथ चौधुरी का जन्म 1 अप्रैल सन् 1902 ई० में जयपुर ग्राम, जनपद-राजशाही, बंगाल में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीगोविन्द नाथ चौधुरी तथा माता का नाम राधापद्म देवी था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बंगाल में हुई। एम्० ए० करने के लिए डॉ० चौधुरी दिल्ली विश्वविद्यालय आये। सन् 1925 ई० में इन्होंने संस्कृत में एम्० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तथा चार स्वर्ण पदक प्राप्त किये। सन् 1926 ई० में ये रामजस महाविद्यालय में प्रवक्ता हुये तथा सन् 1928 में संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रवाचक हुये। डॉ० चौधुरी ने "Phylosophy of poetry" विषय पर डी० लिट्० की उपाधि कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की। सन् 1949 ई० में ये संस्कृत विभाग और आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्यक्ष बने। डॉ० चौधुरी संस्कृत विभाग के प्रथम प्रवाचक (सन् 1953 ई० में) एवं प्रोफेसर (1956 ई० में) बनें तथा कलासंकाय के 3 वर्ष तक डीन भी रहे। ये 39 वर्षों तक विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्यापन करने के उपरान्त सन् 1965 ई० में सेवानिवृत्त हुये। संस्कृत के इस परम विद्वान् का सन् 1977 ई० में संस्कृत की सेवा करते हुए देहावसान हो गया। संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय को उन्नति के मार्ग पर ले जाने वाले

इनके सर्वोत्कृष्ट कार्य को संस्कृत जगत् नहीं भुला सकता। इसी उपलक्ष्य में संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रतिवर्ष इन पर एक व्याख्यान आयोजित किया जाता है। प्रो० उषा चौधुरी इनकी पुत्रवधू हैं, जो दिल्ली विश्वविद्यालय के संरकृत विभाग की सेवानिवृत्त आचार्या हैं, उनके द्वारा इनके देहावसान की तिथि की निश्चित सूचना मिलने के आधार पर इनका समय सन् 1902 ई० से सन् 1977 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) काव्यतत्त्वसमीक्षा काव्यशास्त्रीय कृति है, जो छः उल्लासों में विभक्त है। इसके प्रथम उल्लास में काव्य की उपादेयता, काव्यफल, काव्यस्वरूप, ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य और चित्रकाव्य का समीक्षात्मक विवेचन है। द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ, अभिधाव्यापार विचार और लक्षणा शब्दशक्तियों पर तर्कसहित विवेचन किया गया है। तृतीय उल्लास में अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना और उसके भेदों पर विचार किया गया है। चतुर्थ उल्लास में काव्यभेद, ध्वनिभेद, रस स्वरूप, भक्तिरस, वत्सलरस, रसाभास, भावाभास, भावशबलता तथा भावशान्त्यादि पर विभिन्न आचार्यों के मतों पर विचार-विमर्श किया गया है। पञ्चम उल्लास में व्यञ्जना विचार, गुणीभूत-व्यङ्ग्य स्वरूप और भेद तथा ध्वनिभेद एवं ध्वनिमत पर विप्रतिपत्तियों का खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन किया गया है। अन्तिम षष्ठ उल्लास में काव्यप्रकाश में वर्णित गुण, दोष तथा अलङ्कार पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ काव्यसमीक्षा का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसके समस्त विषयों को यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसका विषय क्रम विवेचन बहुत विस्तृत है। समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन के सन्दर्भ में प्रथमतः आचार्यों के मतों का समीक्षण करते हुए प्रो० चौधुरी ने अपने तर्कों (मतों) को उपस्थापित किया है।

काव्यात्ममीमांसा

यह ग्रन्थ सन् 1964 ई० में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके लेखक डॉ० जयमन्त मिश्र हैं।

(क) डॉ० जयमन्त मिश्र का जन्म 15 अक्टूबर सन् 1925 ई० में बिहार प्रान्त के मिथिला क्षेत्र में मधुबनी मण्डल के अन्तर्गत ढङ्ग हरिपुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० सर्वनारायण मिश्र था। इन्होंने सन् 1939 ई० में गवर्नमेण्ट कॉलेज, वाराणसी से सम्पूर्णमध्यमा, सन् 1942 ई० में साहित्यशास्त्री तथा सन् 1946 ई० में साहित्याचार्य की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। सन् 1947 ई० में इलाहाबाद बोर्ड से इण्टर परीक्षा में संस्कृत में सर्वाधिक अङ्क प्राप्त कर स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। तदनन्तर एम्०ए० (संस्कृत) परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। इन्होंने बिहार विश्वविद्यालय से पी-एच्०डी० की उपाधि प्राप्त की। डॉ० मिश्र ने बिहार विश्वविद्यालय में व्याख्याता, उपाचार्य तथा आचार्य पदों पर कार्य किया। डॉ० मिश्र बिहार विश्वविद्यालय के एल० एस० महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे। इसके अतिरिक्त ये अपने कार्यकाल में ही दो बार विदेश मन्त्रालय द्वारा कोलम्बो योजना के अन्तर्गत संस्कृत प्रोफेसर पद पर प्रतिनियुक्त होकर त्रिभुवन विश्वविद्यालय, नेपाल में उच्चस्तरीय संस्कृत अध्यापन किया। डॉ० मिश्र सन् 1980 ई० से 1985 ई० तक कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे।

डॉ० मिश्र अनेक अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलनों के महाधिवेशनों में अनुभागाध्यक्ष भी रहे। सन् 1979 ई० में विश्वसंस्कृत सम्मेलन के तृतीय महाधिवेशन में जर्मनी के वाइमर नगर में, सन् 1984 ई० में चतुर्थमहाधिवेशन में अमेरिका के फिलाडेल्फिया नगर में तथा सन् 1997 ई० में दशम महाधिवेशन में बंगलौर में क्लासिकल संस्कृत अनुभागों की अध्यक्षता की। आपको सन् 1985 ई० में कालिदास-पुरस्कार तथा संस्कृत रत्न सम्मान, सन् 1986 ई० में राष्ट्रपति पुरस्कार, सन् 1991 ई० में मिथिला विभूति-सम्मान, सन् 1995 ई० साहित्य अकादमी पुरस्कार, सन् 2005 ई० में उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा बाणभट्ट पुरस्कार तथा सन् 2006 ई० में व्यास सम्मान, सन् 2008 में तिरुपति राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ से महामहोपाध्याय की उपाधि से तथा 30 मार्च 2009 को रामकृष्ण जयदयाल डालमिया श्रीवाणी अलङ्कार (2008) से सम्मानित किया गया है।

डॉ० मिश्र के शोध-निर्देशन में 20 से अधिक शोधच्छात्रों ने शोधकार्य सम्पन्न किया तथा अनेक शोध-निबन्ध विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। आपने 21 मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें-काव्यात्ममीमांसा, प्रबन्ध कुसुमाञ्जलि, महाकवि विद्यापति, काव्यविच्छित्तिमीमांसा, आर्यापञ्चशती, महामानव चम्पू, युगलश्रीगीतिमालिका तथा श्रीकृष्णचन्द्रचरित महाकाव्यम् आदि प्रमुख हैं। 83 वर्षीय डॉ० मिश्र वर्तमान समय तक संस्कृत काव्यसाधना में निरत हैं।

(ख) काव्यात्ममीमांसा काव्यशास्त्रीय कृति है, जिसमें आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय अधिकरणों में विभक्त हैं। इसके प्रथम अध्याय के प्रथम अधिकरण में वैदिक साहित्य में रसों के सन्दर्भ का विवेचन, द्वितीय में निरुक्त, व्याकरण, रामायण तथा महाभारत में रस तथा तृतीय अधिकरण में लौकिक रस, रसेश्वरदर्शन, चरकसंहिता, भावप्रकाश तथा रसप्रदीप आदि के अनुसार रसों का विवेचन है। द्वितीय अध्याय के प्रथम अधिकरण में रस का काव्यशास्त्रीय रूप तथा उसके भेदों का विवेचन, द्वितीय अधिकरण में रस का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन, तृतीय अधिकरण में रस की सङ्ख्या तथा रस का प्रकृति-विकृति-भाव आदि का विवेचन, चतुर्थ अधिकरण में रस की अलङ्कार्यता तथा पञ्चम अधिकरण में रसमीमांसा प्रस्तुत की गई है। तृतीय अध्याय के प्रथम अधिकरण में अलङ्कार का स्वरूप और महत्त्व तथा विभिन्न काव्यशास्त्रीय आचार्यों के मतों का विवेचन, द्वितीय अधिकरण में अलङ्कार का विकास, तृतीय अधिकरण में वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति का अलङ्कारत्व, चतुर्थ में अलङ्कार और रस, वस्तुतः आत्मा का ही अलङ्कारत्व, अलङ्कार और चमत्कार का विवेचन तथा पञ्चम अधिकरण में अलङ्कार की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम अधिकरण में रीति का स्वरूप और महत्त्व विवेचन, द्वितीय में रीति का उद्भव तथा विकास, तृतीय में रीति और रस, रीति और अलङ्कार, रीति और वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति तथा रीति और शैली का विवेचन तथा चतुर्थ अधिकरण में रीति की समीक्षा प्रस्तुत है।

पञ्चम अध्याय के प्रथम अधिकरण में ध्वनि का स्वरूप तथा महत्त्व, द्वितीय में ध्वनि का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन, तृतीय अधिकरण में ध्वनिविरोधी मतों का प्रतिपादन तथा खण्डन, चतुर्थ में ध्वनि और रस, ध्वनि

और अलङ्कार, ध्वनि और रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति तथा ध्वनि और औचित्य का विवेचन तथा पञ्चम अधिकरण में ध्वनि की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। षष्ठ अध्याय के प्रथम अधिकरण में वक्रोक्ति का स्वरूप, द्वितीय में वक्रोक्ति का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन तथा तृतीय में वक्रता के भेद-प्रभेद, चतुर्थ में वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति तथा उस पर विभिन्न आचार्यों का मत तथा पञ्चम अधिकरण में वक्रोक्ति की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। सप्तम अध्याय के प्रथम अधिकरण में औचित्य का स्वरूप, महत्त्व और उसकी व्यापकता का विवेचन, द्वितीय में औचित्य का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन तृतीय में औचित्य और रस, औचित्य और ध्वनि, औचित्य और वक्रोक्ति का विवेचन तथा चतुर्थ अधिकरण में औचित्य तत्त्व की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। अन्तिम अष्टम अध्याय के प्रथम अधिकरण में अलङ्कार काव्य का अङ्गी या आत्मा नहीं, द्वितीय में रीति काव्य की आत्मा नहीं है, तृतीय में वक्रोक्ति काव्य की आत्मा नहीं है, चतुर्थ अधिकरण में औचित्यकाव्य की आत्मा नहीं है, पञ्चम में रस काव्य की आत्मा, षष्ठ में ध्वनि काव्य की आत्मा, सप्तम अधिकरण में वस्तुतः रस ध्वनि काव्य की आत्मा का विवेचन है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट भाग में विभिन्न ग्रन्थों तथा आचार्यों के मतानुसार रस का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय अधिकरणों में विभक्त हैं, जिनमें काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध षट् सम्प्रदायों के अनुसार काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में तीन अधिकरण, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में पाँच अधिकरण, चतुर्थ अध्याय में चार अधिकरण, पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय में पाँच अधिकरण, सप्तम अध्याय में चार अधिकरण तथा अन्तिम अष्टम अध्याय में सात अधिकरण हैं। इन समस्त अध्यायों के अधिकरणों में काव्यतत्त्वों तथा काव्यात्मा पर गम्भीर विचार-मीमांसा विद्वान् आचार्य ने प्रस्तुत की है।

काव्यविच्छित्तिमीमांसा

यह ग्रन्थ सन् 1998 ई० में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से प्रकाशित

है। प्रकृत ग्रन्थ डॉ० जयन्त मिश्र जी का द्वितीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके आठ अधिकरणों के अन्तर्गत आचार्य ने काव्यतत्त्वों के विभिन्न पक्षों पर चर्चा की है। कविप्रशंसा नामक प्रथम अधिकरण में कवि, कविसमय प्रसिद्धि, कवि सृष्टि की विलक्षणता, काव्य और उसके लक्षण, मम्मट के काव्यलक्षण में गुणदोषविमर्श, काव्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, क्रियाविधि, क्रियाकल्प, काव्यसम्प्रदाय समुद्भव रहस्य, काव्यप्रयोजन आदि का विवेचन है। रसविच्छित्तिमीमांसा नामक द्वितीय अधिकरण में रससूत्र की व्याख्या, भरत और भट्टलोल्लट द्वारा रस का ध्वनि अमानत्व, रस का चिद्विषयत्व और चिन्मयत्व, रस की अलौकिकता, काव्यश्रवण के अनन्तर रसनिष्पत्ति पर्यन्त समपेक्षित कालविमर्श आदि का विवेचन है। इसके बाद क्रमशः अलङ्कारविच्छित्तिमीमांसा नामक तृतीय अधिकरण में अलङ्कार, चतुर्थ में रीति, पञ्चम में ध्वनि, षष्ठ में वक्रोक्ति, सप्तम में औचित्य तथा अन्तिम अष्टम अधिकरण काव्यविच्छित्तिमीमांसा में पुनः अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य,रस तथा ध्वनि पर गहन विचार-विमर्श किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी काव्यतत्त्वों की समीक्षा करने वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक अधिकरण में विवेचित तत्त्वों के प्रारम्भ में ही विद्वान् आचार्य ने स्वोपज्ञ 10 कारिकाओं में प्रत्येक तत्त्वों का ऐतिहासिक परिचय देते हुए विवेचन किया है।

भक्तिरसविमर्श

यह ग्रन्थ सन् 1980 ई० में आचार्य-महन्त-श्रीविद्यानन्ददास साहब आचार्य गद्दी, फतुहा, पटना, बिहार से प्रकाशित है। इसके लेखक डॉ० कपिलदेव ब्रह्मचारी हैं।

(क) डॉ० कपिलदेव ब्रह्मचारी का जन्म 13 अगस्त सन् 1943 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम रूपचन्द्र भक्त तथा माता का नाम श्रीमती सुशीला देवी था। इनके दीक्षा गुरु श्री रामलखन देव जी थे। इनका मूल निवास ग्राम वा पोस्ट हरिबेला, जिला-सीतामढ़ी, बिहार है, परन्तु ये श्रीकबीर भगवदाश्रम, चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी में वर्तमान समय में रह रहे हैं। इन्होंने

सन् 1959 ई० में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से पूर्वमध्यमा तथा उत्तरमध्यमा, सन् 1964 ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शास्त्री, सन् 1967 ई० में वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय से आचार्य तथा सन् 1971 ई० में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि की उपाधि प्राप्त की। डॉ० ब्रह्मचारी श्रीरामानन्दापीठ संस्कृत महाविद्यालय कर्णघन्य, वाराणसी में सन् 1971 ई० से 1987 ई० तक प्राध्यापक तथा सन् 1987 ई० से 2000 ई० तक प्राचार्य रहे। इसके अनन्तर फरवरी सन् 2000 ई० से जून सन् 2006 ई० तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्यविभाग में उपाचार्य के पद पर रहते हुए 30 जून सन् 2006 ई० को सेवानिवृत्त हुए। इनके शोध निर्देशन में शताधिक शोधच्छात्रों ने अपना शोधकार्य पूर्ण किया। संस्कृत की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके शोध निबन्ध आदि प्रकाशित हैं। वर्तमान समय में ये वाराणसी में रहते हुए भगवत्सेवा में सन्नद्ध हैं। यह सूचना उनसे साक्षात्कार द्वारा प्राप्त की गई है।

(ख) भक्तिरसविमर्श इनकी काव्यशास्त्रीय कृति है, जो चार अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम अध्याय में भक्तिसूत्र की दृष्टि से भक्तिरस का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में मानसशास्त्र की दृष्टि से, तृतीय अध्याय में दर्शनशास्त्र की दृष्टि से तथा अन्तिम चतुर्थ अध्याय में साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भक्तिरस का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉ० ब्रह्मचारी ने सम्पूर्ण ग्रन्थ के सार को अधोलिखित श्लोकों में सङ्केतित किया है-

भक्तिर्नाम सुधास्ति लोकविदिता स्वाभाविकानन्ददा
विष्णोः प्रीतिकरी जगद्धितकरी लोकोत्तरा शान्तिदा।
पीत्वा सौख्यमयीमिमां बुधजनाः सम्पादयध्वं निजं
मोक्षं लोकसुखं यशश्च विमलं लोके सुखेनाचिरात्।।
ग्रन्थेऽस्मिन् विधिना मया बहुविधा वादाः समालोचिता
भक्ते रूपमनुत्तमं प्रकथितं भेदाश्च संदर्शिता तं।
तस्याः पूर्णरसत्वमत्र विविधैर्वाक्यैश्च संसाधितं

प्राधान्यञ्च रसेसु तस्य कथितं प्रत्यर्थिनः खण्डिताः।।
वेदेष्वागमसत्पुराणभगवच्छास्त्रेषु रामायणे
प्राच्यार्वाच्यमते जये च भगवद्भक्तेः स्थितिर्वर्णिता।
भक्ताचार्यमतानिभक्तिविषये संक्षिप्य प्रोक्तानि वै
प्रेम्णः सम्पुरुषार्थता प्रकटिता वाक्यार्थसंशीलनैः।।
अध्याये प्रथमे विचार्य विषयान् प्रोक्तान् क्रमात् तत्परेऽ-
ध्याये भक्तिरसस्य मानसविदां दृष्ट्या विचारः कृतः।
पाश्चात्त्यैरधुनातनैर्मनसि याः संवर्णिता वृत्तय-
स्तासां भक्तिरसप्रवेशविषये चर्चा विशिष्टा ह्यभूत्।।
कः कामः सुरतिश्च का, गुणवती किं प्रेम भक्तिश्चका
भेदश्चैषु परस्परं कथमभूत प्रेमैव कामोऽस्ति किम्।
इत्याद्या विषया यथामति मया दृष्टा विचारैः सतां
विज्ञाने मनसश्च भक्तिरुचिता संस्थापिता साहसात्।।
अध्यायेषु तृतीयके बहुविधं सद्दर्शनानां मतं
भक्तौ दर्शितमत्र सेव्यविदुषां सन्तोषवृद्ध्यैः पुनः।
अद्वैते गुणवर्जितेऽपि विविधा भक्तिश्च संदर्शिता
श्रीमच्छङ्करपाददर्शितदिशा तस्याः फलं चिन्तितम्।।
अग्रे तत्र विचारितं गुणयुक्तं ब्रह्मस्वरूपं परं
श्रीरामानुजसम्प्रदायविधिना भक्तिस्ततश्चिन्तिता।
भेदः साधनसाध्ययोश्च भगवद्भक्तयोः पुनवर्णितः
रामानन्दमतञ्च तत्परमथो संक्षिप्य प्रोक्तं क्रमात्।।
श्रीमन्मध्वमतं विविच्य परतो निम्वार्कदृष्टंमतं
विष्णुस्वामिमतञ्च प्रोच्य शुभदा पुष्टिः समालोचिता।
श्रीमद्वल्लभदेववर्णितादिशा चैतन्यदेवस्य च

भेदाभेदमचिन्त्यरूपमतुलं दृष्टं मया ह्यादरात्।।
सांख्ये भक्तिरसं विचार्य परतस्तद्दर्शनं वर्णितं
योगाख्यं सुमतं विविच्य बहुधा योगस्य भेदाः कृताः।
शैवदर्शनमत्र चर्चितमथो भेदान्वितं भक्तिदं
शाक्तं चापि मतं शिवान्वितमहो संवर्ण्य तन्त्रान्वितम्।।
अध्यायेषु चतुर्थके तु शुभसाहित्येषु भक्तिः परा
प्रोक्तममूलरसत्वमत्र भगवत्प्रेम्णीति संस्थापितम्।
शृङ्गारादिषु नास्ति भक्तिरसता पार्थक्यसद्भावत
इत्याद्या विषया विचारमहिताः सम्पादिता यत्नतः।।
भेदा भक्तिरसस्य शान्तप्रमुखाः पञ्चैव संवर्णिताः
भावाः स्थायिमुखाश्च तस्य बहवः संदर्शिता भक्तितः।
गौणा भक्तिरसाश्च हास्यप्रमुखाः सप्तैव प्रोक्ताः क्रमात्
ग्रन्थेऽस्मिन् दिशयानया हि विषयाः प्रासङ्गिका वर्णिताः।।[1]

इन्हीं सम्पूर्ण विषयों पर डॉ० ब्रह्मचारी जी ने गहन विचार-मन्थन कर भक्तिरस रूपी अमृत तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

रसनिष्पत्तितत्त्वालोक

प्रस्तुत ग्रन्थ सन् 1983 ई० में श्रीसदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, पुरी, उड़ीसा से प्रकाशित है। इसके लेखक पं० भागवत प्रसाद त्रिपाठी हैं।

(क) पं० भागवत प्रसाद त्रिपाठी का जन्म सन् 1920 ई० में उत्कलप्रान्त के कटक मण्डल के अन्तर्गत जारका के समीपवर्ती दक्षिणशासनाभिधेय जनपद में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री सोमनाथ त्रिपाठी तथा माता का नाम श्रीमती कमला देवी था। इनकी शैशवा अवस्था में ही इनके पिताजी का देहवसान हो गया। अतः इनकी शिक्षा-दीक्षा तथा लालन-पालन का दायित्व

1. भक्तिरसविमर्श- प्रारम्भिक भाग (प्राक्कथन)

इनकी माता जी ने पूरा किया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा इनके गाँव में ही सम्पन्न हुई। इसके अनन्तर इन्होंने कटक नगर में तुलसीपुर मठ की संस्कृत पाठशाला में संस्कृत शिक्षा प्राप्त की। सन् 1934 ई० में पं० त्रिपाठी ने प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की तथा तदनन्तर कटक नगर के हिन्दी-साहित्य-समिति संस्कृत विद्यालय से मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। वहीं सोमनाथदाश नारायमहापात्र से साहित्य विषय में शास्त्री एवं आचार्य की परीक्षा उर्तीण की। इसके बाद उच्च शिक्षा प्राप्ति के निमित्त पं० त्रिपाठी वाराणसी चले गये। उच्च शिक्षा अध्ययन के पश्चात् सन् 1951 ई० में पं० त्रिपाठी श्रीसदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ पुरी, उड़ीसा में अध्यापक हुए। पं० त्रिपाठी संस्कृत साहित्य विद्या के उद्भट विद्वान् थे। विद्वान् लोग इन्हें आचार्य मम्मट का अवतार मानते थे। इनके काव्यशास्त्र पर दो महत्वपूर्ण प्रबन्ध श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली 'अभिव्यक्ति' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। इनमें प्रथम काव्यस्यात्माध्वनिः तथा द्वितीय औचित्यरससिद्धस्यस्थिरंकाव्यस्यजीवितम् हैं। इन्हें इनकी विद्वत्ता पूर्ण रचना रसनिष्पत्तितत्त्वालोक पर राष्ट्रपति सम्मान से भी सम्मानित किया गया था।[1] संस्कृत के इस प्रकाण्ड काव्यशास्त्र मर्मज्ञ की आत्मा 4 फरवरी 2000 ई० को परमात्मा में विलीन हो गई, जिसकी सूचना डॉ० श्रीगोविन्द पाण्डेय ने प्रदान की। डॉ० पाण्डेय श्री सदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, पुरी, उड़ीसा में संस्कृत विभाग में प्रवाचक हैं। अतः इनकी सूचना के आधार पर इनका समय सन् 1920 ई० से सन् 2000 ई० तक निर्धारित किया गया है।

(ख) रसनिष्पत्तितत्त्वालोक तीन प्रकाशों में विभक्त है, जिसके प्रथम प्रकाश में रसनिष्पत्तितत्त्व जिज्ञासा, मङ्गलाचरण प्रयोजन, साहित्यशब्दार्थ निर्णय, काव्यपदार्थ निर्वचन, साहित्य का शास्त्रत्व सिद्धान्त, रसलक्षण सूत्र विमर्श उपक्रम, काव्यप्रयोजन, आनुषङ्गिकता से प्रभुसम्मितादि शब्द त्रैविध्य निरूपण और रस के काव्यात्मत्व का प्रतिपादन, रस तत्त्वोपयोगी पदार्थों का क्रम से सपर्यालोचन निरूपण उपक्रम, भाव पदार्थ निर्णय, स्थायिभाव, व्यभिचारीभाव,

---

1. प्रियवाक्-पत्रिका- अङ्क- नवम्बर-दिसम्बर- 1994- जनवरी- फरवरी- 1995 (पं० भागवत प्रसाद त्रिपाठी महोदय अभिनन्दन विशेषांक)

सात्विकभाव, भावों के स्थायित्व की उत्पत्ति, काव्य मात्र के उपयोगी स्थायिभाव का लक्षण, सात्त्विकत्वेन भावों का व्यपदेश बीज, स्थायिभावों का लक्षण, प्रसङ्ग से क्रोध और अमर्ष भेद का कथन, शम-निर्वेद एक्य निर्णय, विभावादि का सोपपत्तिक निरूपण, कार्य-कारण सहकारि विभावादि का प्रवृत्ति हेतु, विभावादि व्यापार निरूपण, व्याधि और ग्लानि का आनुषङ्गिक भेद कथन इत्यादि विषयों का विवेचन है।

द्वितीय प्रकाश में रसनिष्पत्तिप्रेक्ष उपक्रम, भट्टलोल्लटादि के मतों की उपस्थापिका अभिनवभारती, भट्टलोल्लटादि व्याख्यान विवरण भाष्य, श्रीशङ्कुक के मत का खण्डन, श्रीशङ्कुक मत के अनुसार रस की चतुर्विध प्रतीति का वैलक्षण्य,काव्य-वलाद् विभावानुसन्धान समर्थन, न तु वागेव वाचिकम् इति श्री शङ्कुक मत समर्थन, स्थायि अनुकरण सिद्धान्त प्रतिष्ठापन, सदृशीकरण रूप के अनुकरण का समर्थन, उपाध्याय मत का खण्डन, काव्यप्रकाशगत श्री शङ्कुकमतानुवाद, श्रीशङ्कुक के मत में अरुचि, भट्टलोल्लटादि मत में युक्त्वायुक्त्वविमर्श, श्रीशङ्कुक उक्तियों से भट्टलोल्लटादि मत का प्रत्याख्येयत्व प्रतिपादन, भट्टलोल्लटादि मत में अरुचि बीज, रस के त्रिगुणात्मकत्ववाद का खण्डन, भट्टनायक मत, भट्टनायक मत विवरण भाष्य, अभिनवगुप्त कृत भट्टनायक मत खण्डन, अभिनव का मत, रससूत्र व्याख्यान उपक्रम, साधारण्यात् एकघन रसप्रतीति उपपत्ति, रसप्रतीति में प्रतीत्यन्तर वैलक्षण्य, वीतविघ्नप्रतीति ग्राह्य भाव ही रस, रसप्रतीति में विघ्न सप्तक, एकैकशः विघ्नों के अपसारण का उपाय और इसकी आनुषङ्गिकता, स्थायिभावों में रति, उत्साह, क्रोध और निर्वेद चारों का प्राधान्य, स्थायिभावों की नवत्व उपपत्ति, ग्लानि, शङ्कादि की व्यभिचारित्व उपपत्ति, स्थायिभवन योग्यभाव, रससूत्र योजनापूर्वक रसस्वरूप कथन, रस के स्मृति, अनुमानादि रूपत्व का निरास, रस की प्रतीति में अन्तर वैलक्षण्य, रस का कार्यत्व-ज्ञापकत्व वैलक्षण्य, ज्ञापकाख्य हेतु भेद निरास, रस के कारक-ज्ञापकन्यतरहेतुकत्व अभाव से लौकिक दृष्यान्त के द्वारा समर्थन, रस का अलौकिकत्व, रस का निर्विकल्पक सविकल्पक ज्ञान ग्राह्यत्व विमर्श, ज्ञान की निर्विकल्पकत्व सिद्धि, अभिनवगुप्त मत का उपसंहार, काव्यप्रकाशगत रससिद्धान्त, काव्यप्रकाश ग्रन्थ विवरण तथा अन्त में उपसंहार प्रस्तुत है।

अन्तिम तृतीय प्रकाश में पण्डितराज मत और उनका विवरण, पण्डितराज मत के भावकत्व व्यापारों का अङ्गीकार, पण्डितराजोक्त अलौकिक व्यापार का व्यञ्जनातिरिक्तत्व सिद्धान्त, आनन्द अंश से अवरण अपरण समीक्षा, रत्यादि विभावादि की उद्बोधन से अपेक्ष्य समीक्षा, पण्डितराजोक्त रसलक्षणसूत्र-स्वारस्येनैव गुणालङ्काराद्यनुपस्कृतशब्दार्थयोरपि काव्यत्वसिद्धान्त समीक्षा, रसगङ्गाधरोक्त द्वितीय पक्ष रससिद्धान्त समीक्षा, चिद्विशिष्ट रत्यादि अथवा रत्यादि अवच्छिन्ना चित् ही रस, विभावादि की साक्षिभास्यत्व समीक्षा, रसप्रतीति में शाब्दत्वप्रत्यक्षत्वयोः समावेश, पण्डितराज प्रतिपादित नव्यमत और उसका विमर्श, साहित्यदर्पण ग्रन्थोक्त मत विमर्श, सिंहावलोकन, रस के व्यङ्ग्यत्व का निर्णय, काव्यरस-योगिजन अनुभूयमान रस विवेक, रस के ब्रह्मास्वादसहोदरत्व का निर्णय तथा चरम निष्कर्ष आविष्करण इत्यादि विषयों का विवेचन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के तीनों प्रकाश के प्रारम्भ होने के पहले भी विद्वान् आचार्य ने नाट्यशास्त्र के प्रस्तावित रससूत्र पर उसके चार प्रमुख व्याख्याकारों यथा-भट्टलोल्लट, श्री शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के मतों को प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त का सम्पूर्ण जीवन वृत्तान्त तथा कृतियों का परिचय भी दिया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन विद्वान् आचार्य ने नव्यन्यायशैली में गहन विचार-मीमांसा के साथ किया है।

नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम्

यह ग्रन्थ सन् 1985 ई० में भारतीय संस्कृति संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित है। इसके प्रणेता डॉ० रामजी उपाध्याय हैं।

(क) डॉ० रामजी उपाध्याय का जन्म सन् 1920 ई० में (सरयू नदी के तट पर) जनपद बलिया, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम्०ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्राप्त की तथा यहीं से ही सन् 1945 ई० में "संस्कृत और प्राकृत महाकाव्यों का अध्ययन" विषय पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की। डॉ० उपाध्याय ने सन् 1964 ई०

में सागर विश्वविद्यालय में विभिन्न पदों पर प्रतिष्ठित होते हुए अध्यापन कार्य किया। सम्प्रति डॉ० उपाध्याय सेवानिवृत्त आचार्य हैं। इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें प्रमुख हैं- भारत की प्राचीन संस्कृति, भारतस्य सांस्कृतिक निधिः, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भारत की सांस्कृतिक साधना, प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, दशरूपकतत्त्वदर्शनम्, आधुनिक संस्कृत नाटक तथा आधुनिक संस्कृत साहित्यानुशीलनम् आदि। आपके सहस्राधिक शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं तथा आप सागर विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली सागरिका पत्रिका के प्रधान सम्पादक भी रहे हैं। संस्कृत के प्रतिभा प्रखर विद्वान् डॉ० उपाध्याय वर्तमान समय तक सुरभारती की सेवा में सन्नद्ध हैं।

(ख) नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम् नाट्यशास्त्र विषयक समीक्षात्मक ग्रन्थ है। इसमें विवेचित विषय क्रमशः इस प्रकार हैं-सन्ध्यन्तर रहस्य, नाटक में कथांशों की पूर्व सूचना, रङ्गशीर्ष और उसका उपयोग, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रवेशक विन्यास, नाटक में वर्णन सन्निवेश, प्रकरीवर्णनादि नहीं हैं, पञ्चविध अभिनेय वस्तु, पूर्वरङ्गावधारणा, प्रस्तावना, नान्दी, नाटकों में अङ्कच्छेदविधि, प्रवेशकोद्धरण, व्यभिचारिवृत्त, नायकों का उत्तम, मध्यम और अधमत्व, अङ्क के मध्य में भी प्रवेशक, जनान्तिक, अपवारित और स्वगत विमर्श, संस्कृत नाटकों में चरित्र-चित्रण कला, आमन्त्रणीय वैचित्र्य, अङ्कवृत्त और कार्यकाल सङ्केत, लक्षणालङ्कार भेद, अङ्क के मध्य में पात्रों का सव्यपदेश-निष्क्रमण, नाटकों में हास्य योग, नायकों में अन्तर्धिः, नाटकों में कथान्तर सन्निवेश, नाटकों में अज्ञात नायकत्व, नायक विनियोगानुशीलन, स्त्री प्रकृति, दिव्य नायिकाएँ, नाटकों में अन्यथा सम्भावना, अङ्क के आदि में नायक की मानसिक स्थिति की पूर्वपीठिका, विषकम्भक-उपलक्षण-भूमिका परिचय, नाटक में वैषम्य विधान, घटनाओं का प्रभावावधरण, नाटक के वृत्तों में रहस्य-विन्यास, नाट्यनिर्देश विशेष, नाटक में मिथ्याचार महिमा, अन्तिम अङ्कों में पूर्ववृत्तों का सारसंग्रह, नाटक के अन्तिम अङ्क में नायक का सम्पात, नाटकों में असम्वाद, वृत्तिविधान, नाटक का उद्देश्य, औचित्य, प्रेक्षक अनुपृच्छा, नाट्यकथा में पशु-पक्षी साह्य, अङ्क में कार्यस्थली आयाम और वैचित्र्य, रङ्गविधान, अङ्क

पूर्त्यर्थ योजना, नाट्य–भारती, आकाश पुरुष, नाट्य रस, नाटकों में नाट्येतर मनोरञ्जन इत्यादि विषयों का विवेचन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का समीक्षात्मक विवेचन करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विद्वान् आचार्य ने नाट्य सम्बन्धी विविध नियमों, विधानों तथा नाट्यगत अन्य समस्त विषयों का तर्कसहित विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 29 मौलिक रचनाकारों का परिचय देने के साथ–साथ 12 टीकाकारों एवं छः काव्यसमीक्षकों का भी परिचय दिया गया है। ग्रन्थकर्त्ता के परिचय के साथ ग्रन्थ में विवेचित विषय सामग्री का परिचय तथा ग्रन्थ के वैशिष्ट्य को भी बतलाया है।

द्वितीय अध्याय

काव्यप्रयोजन और काव्यकारण विमर्श

(1) काव्यप्रयोजन विमर्श

किसी विशेष प्रयोजन या उद्देश्य के बिना मानव किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। विद्वानों द्वारा शास्त्रोक्त वचन इसमें प्रमाण है कि प्रयोजनमनुद्दिश्य-मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते। अतः इस न्याय के अनुसार किसी भी कार्य का सम्पादन निष्प्रयोजित नहीं होता। इसलिए काव्यरचना का भी कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। भरतमुनि से लेकर वर्तमान समय तक के समस्त काव्यशास्त्रियों ने काव्यरचना के कौन-कौन से और क्या-क्या प्रयोजन हो सकते हैं, इस विषय पर प्रचुर वैचारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों मे गहन विचार-मीमांसा के उपरान्त यह प्रतिपादित किया है कि एक या अनेक प्रयोजन को लक्ष्य करके कवि काव्यरचना कर सकता है, परन्तु अन्य फल भी उसको स्वतः काव्यकीर्ति के साथ प्राप्त हो सकते हैं। काव्य-रचना (कविता) के द्वारा ही कवि इस संसार में अक्षय कीर्ति (यश) को प्राप्त करता है। इस लोक में अनेक चक्रवर्ती महीपगणों द्वारा नामशेषता को प्राप्त कर लेने पर भी वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास प्रभृति विद्वान् आज भी जग में जीवित हैं। इसी आशय की पूर्ति करते हुए आचार्य भतृहरि ने लिखा है कि उन सुकृत्य (काव्य-रचना) करने वाले रससिद्ध कवीश्वरों की जय हो, जिनका यश रूपी शरीर जरा-मरण के भय से मुक्त है।[1] आचार्य अनन्त देव का भी कथन है कि इस धराधाम में,

1. जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
   नास्ति येषां यशः काये जरामरणं भयम्।।

   भतृहरि, अभिराजयशोभूषणम्-पृ०-19 पर उद्धत

शोक ही जिनके जीवन में अधिक रहा, ऐसे लोग इस महीतल से चले गये तथा चले भी जा रहे हैं और भविष्य में चले जायेगें। परन्तु क्षय को प्राप्त न होने वाली चिर-स्थायिनी काव्य सम्बन्धी कवियों की कीर्ति सदैव स्थिर रहेगी।[1]

मानव मात्र का उद्देश्य है कि वह अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थचतुष्टय) की प्राप्ति करे तभी उसका जीवन सार्थक है, अन्यथा जीवन निरर्थक ही व्यतीत हो जाता है। जैसा कि अग्निपुराणकार ने कहा है- नाट्य त्रिवर्ग प्राप्ति का साधन भूत है। इस स्थल पर नाट्य शब्द काव्य का भी उपलक्षण है। अतः नाट्य (काव्य) के द्वारा त्रिवर्ग को साध लेने पर चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष स्वतः प्राप्त (सिद्ध) हो जाता है।[2] आचार्य नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है-जिन किन्हीं शब्दों को कविगण बोलते हैं तथा जिनके अभिप्रायों का अपनी कविता में उल्लेख करते हैं, उन्हीं शब्दार्थों के द्वारा कवि, अभिव्यक्ति की चातुर्यपूर्णरीति के बल पर सम्पूर्ण जगत् को सम्मोहित कर लेते हैं।[3] शब्द और अर्थ की समष्टि ही साहित्य सञ्ज्ञा से शास्त्रज्ञों द्वारा अभिहित की गई है, जिसका प्रयोजन लोकानुरञ्जन सहित लोकोपकारक भी है। भगवान् भर्तृहरि के वचन इसमें प्रमाण हैं। उनका मत है- शब्द निर्मित स्वरूप तथा शब्द-शक्तियों का निबन्धन करने वाला यह परब्रह्म ही सम्पूर्ण (नामरूपात्मक) जगत् के रूप

---

1. याता यान्ति च यातारो लोकाः शोकाधिका भुवि।
काव्यसम्बन्धिनी कीर्तिः स्थायिनी निरपायिनी।।

अनन्तदेव, अभिराजयशोभूषणम् पृ० 19 पर उद्धृत

2. त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः। तस्य सिद्धिः काव्यादेव। तथा चाऽग्निपुराणम्- त्रिवर्ग साधनंनाट्यमिति नाट्यमित्युपलक्षणं काव्यस्यापि। तत् उक्तं ग्रन्थकृता त्रिवर्गोऽसंशय सिद्धे काव्यनाट्योपसेवनैरिति। चतुर्थोमोक्षपुरुषार्थः स्वयं सिद्धिः प्रतिभाति। स्वसहचरभूतानां धर्मार्थकामानां विरहमसहमान इवेत्युत्प्रेक्ष्यते। लोक एवाऽत्र प्रमाणम्। नियतसहचराणां कश्चिदेकोऽपरेषां विरहं पार्थक्यं वा न सहते।

अभिराजयशोभूषणम्-परिचयोन्मेष-काव्यप्रशंसा प्रकरण-वृत्तिभाग-पृ०-18

3. यानेवशब्दान्वयमालपामो यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविदग्धरीत्या सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति।।

शिवलीलार्णव, अभिराजयशोभूषणम्-पृ० 18 पर उद्धृत)

में विवृत है और अन्ततः उसी में विलीन हो जाता है। अतः शब्द संस्कार ही परमात्मतत्त्व की सिद्धि है। शब्द संस्कारवान् व्यक्ति ही ब्रह्मामृत को प्राप्त कर पाता है।[1]

इस प्रकार शब्द और अर्थ का संस्कार कर कवि काव्य का सर्जन करता है, जिसका प्रयोजन सहृदयहृदयानुरञ्ज के साथ-साथ उनके कल्याण की भी भावना से ओत-प्रोत रहता है। वस्तुतः शब्द की सङ्गति ही अर्थात् शब्द संयोजन के द्वारा गुण हीन कविता भी जब श्रोताओं को अपनी ओर अभिमुखीभूत कर लेती है तो उस कविता के अतिशय का क्या कहना, जिसके मर्म (गुण) को सहृदय भली-भाँति समझ जाएँ। आचार्य सुबन्धु ने इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि जिस प्रकार अनधिगत सौरभ वाली मालती पुष्पों की माला दृष्टि को आकृष्ट कर लेती है ठीक उसी प्रकार अविदित गुण वाली सत्कवि की काव्याभिव्यक्ति श्रोताओं के कर्णकुहरों में मधु की धारा का सञ्चार करती है।[2]

कविता के इस लोकमङ्गलात्मक स्वरूप का विवेचन प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने अपने ग्रन्थ अभिराजयशोभूषणम् में काव्यप्रशंसा प्रकरण के अन्तर्गत किया है। उनका मत है- पञ्चमहाभूतों से निर्मित इस संसार का विस्तार तो निश्चित रूप से क्षय को प्राप्त हो जाता है, परन्तु उसी सृष्टि का वाङ्मय रूप चिरस्थायी एवं विकस्वर (नित्योज्ज्वल) बना रहता है। मनुष्य निश्चित रूप से अपने जिस किसी भी कार्य (आचरण) से दो-तीन अथवा पाँच-छह जनपदों (नागरजनों) को ही अनुरञ्जिन कर पाता है। परन्तु प्रतिभा का धनी कवि लोकोत्तर अभिव्यक्ति से अन्वित अपने

---

1. ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
   विवृतं सर्वमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।।
   तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
   तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।।
   भतृहरि, अभिराजयशोभूषणम्-पृ० 17 पर उद्धृत
2. अविदित गुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषुवमति मधुधाराम्।
   अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला।।
   सुबन्धु, अभिराजयशोभूषणम्-पृ० 14 पर उद्धृत

काव्यों द्वारा समग्र महीतल को ही बरबस आकृष्ट कर बाँध लेता है। अचिन्त्य के भी चिन्तन में समर्थ, अदृष्ट को भी (हस्तामलकवत्) प्रत्यक्ष कर देने में सक्षम कवि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हाथ पर रखे आँवले की तरह देख लेता है। काव्यरूपी एक मात्र निधि वाला निरंकुश कवि, आत्माराम भाव से जीवन जीता हुआ गुह्यकेश कुबेर को भी पूर्णतः न्यक्कृत कर देता है। प्रतिभा-प्रसूत कवित्व के अक्षत रहते राजपद भी भला किस मूल्य का? जिसकी सरस्वती सिद्ध है, वह (कवि) भला कमला (लक्ष्मी) की ओर क्यों देखे? धन से क्या लेना देना? अलङ्कारों तथा लम्बी आयु से भी भला क्या लाभ? हे चतुरानन विधाता! मुझे तो बस कवित्व अथवा भावुकता ही देना। काव्य एवं नाट्य के उपसेवन से धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्ग के निस्सन्देह सिद्ध हो जाने पर चौथा पुरुषार्थ मोक्ष तो, अपने तीन सहचरों के वियोग से कातर होकर, अपने आप (निष्प्रयत्न) ही सिद्ध हो जाता है। प्रभूत दान से समन्वित 'वाजपेय' यज्ञों के सम्पादन से भी वह अक्षय यश नहीं प्राप्त होने योग्य है, जिस प्रकार कि कविकर्म द्वारा। कविता ही जिसकी प्राण वल्लभा हो, शब्द एवं अर्थ (समूह) ही जिसके बन्धु-वान्धव हों, रस ही जिसका मुक्ति सुख हो उस (कवि) के लिये भला और कोई वस्तु काम्य क्या होगी?[1]

इस प्रकार कविता कामिनी (काव्यप्रकृति) के विशाल स्वरूप को दृष्टि में रख कर प्राचीन तथा अर्वाचीन समस्त काव्यविदों ने काव्यरचना में अपनी

---

1. क्षयंयाति जगद्रूपं नितरां पाञ्चभौतिकम्। वाङ्मयं किन्तु तद्रूपं चिरस्थायि विकस्वरम्।।
केनापि कर्मणा स्वेन द्वित्रान् किमुत पञ्चषान्। यद्वा जनपदानेव लोको रञ्जयति ध्रुवम्।।
कविः किन्तु निजैः काव्यैर्लोकोत्तरवचोऽन्वितैः। भृशमाकृष्य बध्नाति चतुरस्त्रं महीतलम्।।
अचिन्त्य चिन्तने शक्तोऽप्यदृष्टदर्शने क्षमः। स्वहस्तामलकीकृत्य ब्रह्माण्डं कविरीक्षते।।
गुह्यकेशमपि स्वैरं कविः काव्यैकशेवधिः। आत्मारामतया जीवन्नतिशेते निरङ्कुशः।।
नृपत्वमपि किम्मूल्यं कवित्वे प्रातिभे सति। किमर्थं कमलां पश्येद्यस्य सिद्धा सरस्वती।।
अलं धनैरलङ्कारैरलञ्चापि चिरायुषा। कवित्वं भावुकत्वं वा देहि मे चतुरानन।।
त्रिवर्गेऽसंशय सिद्धे काव्यनाट्योपसेवनैः। तिष्ठत्येव स्वयंसिद्धस्तुर्यो विरहकातरः।।
वाजपेयमखैश्चापि भूरिदानसमन्वितैः। लभ्यं नैव यशोऽक्षय्यं तथा कवितया यथा।
वान्धवौ ननु शब्दार्थौ कविता प्राणवल्लभा। रसोमुक्तिसुखं हन्त किमन्यदिह काङ्क्षितम्।।
अभिराजयशोभूषणम्-परिचयोन्मेष-काव्यप्रशंसा प्रकरण-पृ०-14

प्रवृत्ति को उन्मुख किया है; क्योंकि धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति इसी से ही सम्भाव्य है।

(क) पारम्परिक मत

सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में काव्य के प्रयोजन पर विचार प्रकट करते हुए बतलाया कि यह नाट्य उत्तम, मध्यम एवं अधम मनुष्यों के कर्मों का आश्रयभूत है, हितकारी उपदेश प्रदान करने वाला, धैर्य, मनोविनोद और सुखादि को देने वाला है तथा अवसर होने पर दुःख-पीड़ित तथा शोकसन्तप्त व्यक्तियों को विश्रान्ति को प्रदान करने वाला है। यह धर्म, यश तथा आयु की वृद्धि करने वाला तथा संसार को उपदेश देने वाला है।[1] आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित इसी काव्यप्रयोजन की परिधि में ही परवर्ती समस्त काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने काव्यप्रयोजन सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया। भामह, कुन्तक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि आचार्यो ने चतुर्वर्ग साधना को ही काव्य का प्रयोजन माना है। आचार्य भामह ने कहा कि उत्तम काव्यरचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, कलाओं में विलक्षणता आती है, यश मिलता है तथा आनन्द की प्राप्ति होती है।[2] आचार्य वामन ने काव्यरचना के दो प्रयोजन माने-(1) यश और (2) आनन्द। आनन्द को काव्य का दृष्ट तथा यश को अदृष्ट प्रयोजन माना। उनका मत था कि काव्यरचना से यश प्रतिष्ठित होता है तथा बुरी कविता करने वाला अपकीर्ति का भागी बनता है। यश से स्वर्ग की

---

1. उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्। हितोपदेशजननं धृति क्रीडासुखादिकृत।।
   दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्। विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
   धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्। लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।
   नाट्यशास्त्र-प्रथम अध्याय-कारिका-113-15

2. धर्मार्थकाम मोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्।।
   काव्यालङ्कार-प्रथम परिच्छेद-कारिका-12

प्राप्ति तथा अपकीर्ति नरक में ले जाती है। अतः कविश्रेष्ठों को चाहिए कि कीर्ति को उपार्जित करें तथा अपकीर्ति को दूर करने के लिए 'काव्यालंकार' के सूत्रों को समझ कर उत्तम कविता करें।[1]

आचार्य रुद्रट ने भी चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया।[2] कुन्तकाचार्य ने काव्यप्रयोजन पर विचार करते हुए कहा कि श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न राजपुत्र आदि के लिए काव्यरचना की जाती है। यह सुन्दर तथा सरस ढङ्ग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने का उपाय है। उत्तम काव्य का अध्ययन करने से सभी प्रकार के व्यक्तियों को व्यवहार का ज्ञान होता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि काव्यरूपी अमृत के रस से सहृदयों के हृदय में चतुवर्ग की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है।[3] आचार्य भोज ने काव्यरचना के दो प्रयोजनों को बतलाया - (1) यश और (2) आनन्द की प्राप्ति। उनका मत है कि दोषों से रहित, गुणों से युक्त, अलङ्कारों से अलंकृत

1. काव्यं सद्दृष्यर्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्।
प्रतिष्ठां काव्य बन्धस्य यशसः सरणिं बिदुः।
अकीर्तिवर्तिनी त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्।।
कीर्तिस्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निर्वहितुम।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।
काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-अध्याय-1 सूत्र-5 तथा उस पर वृत्ति।

2. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नो रसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः।।
काव्यालङ्कार-अध्याय-12-कारिका-1

3. धर्मादि साधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यवन्धोऽभिजातानां हृदह्लादकारकः।।
व्यवहारपरिस्पन्द सौन्दर्यव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।
वक्रोक्तिजीवित-प्रथमोन्मेष-कारिका-3-5

और रस से सम्भृत काव्य की रचना करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त करता है।[1] आचार्य वाग्भट ने केवल कीर्ति को ही काव्य का प्रयोजन माना।[2] आचार्य मम्मट ने काव्य रचना के छः प्रयोजनों की चर्चा की- (1) यश (2) धन की प्राप्ति (3)लौकिक व्यवहार का ज्ञान (4) अनिष्ट का निवारण (5) आनन्द की प्राप्ति तथा (6) उपदेश।[3] इस प्रकार आचार्य मम्मट ने अन्य आचार्यों के प्रयोजनों का समन्वित उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया तथा इन प्रतिपादित काव्य के छः प्रयोजनों में आनन्द को प्रमुखता प्रदान करते हुए कहा कि- **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।**

आचार्य विश्वनाथ ने धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टय को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया।[4] पण्डितराजजगन्नाथ ने काव्य के अनेक प्रयोजनों की ओर सङ्केत करते हुए कहा कि कीर्ति, परम आह्लाद, गुरु, राजा एवं देवता की कृपा आदि, काव्यरचना के प्रयोजन हो सकते हैं।[5] आचार्य पण्डितराज द्वारा प्रतिपादित इस काव्यप्रयोजन में गुरु और देवता की कृपा से अनर्थ का निवारण तथा राजा और देवता की कृपा से धन की प्राप्ति रूप प्रयोजन की पुष्टि होती है। प्रस्तुत प्रयोजन में आदि पद से मम्मट प्रतिपादित व्यवहार ज्ञान और कान्ता सम्मित उपदेश रूप काव्यप्रयोजन की ओर संकेत

---

1. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।

   सरस्वतीकण्ठाभरण-प्रथम परिच्छेद-कारिका-2
2. वयं तु कीर्तिमेवैकां काव्यहेतुताया मन्यामहे अतः कीर्तिरेवैका काव्य हेतुः।।

   काव्यानुशासन-प्रथम-अध्याय-पृ०-2
3. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिवृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

   काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-2 तथा वृत्ति
4. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
   काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।

   साहित्यदर्पण-प्रथम परिच्छेद-कारिका-2
5. तत्रकीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसाद्यनेकप्रयोजनकस्यकाव्यस्य।

   रसगङ्गाधर-प्रथम आनन

किया गया है। इस प्रकार काव्यरचना के प्रयोजन के सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मतों को प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ आचार्यों ने यश तथा कुछ ने परम आह्लाद को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। समस्त आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजनों का समन्वित रूप आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है, जो काव्यरचना के प्रयोजन के सन्दर्भ में अत्यन्त समीचीन है। काव्य का सम्बन्ध कवि तथा पाठक दोनों से होता है। आचार्य द्वारा प्रतिपादित काव्य के छः प्रयोजनों में इसका स्पष्टीकरण भी हुआ है। इनमें से यश और धन की प्राप्ति कवि को होती है, व्यवहार ज्ञान और उपदेश सहृदय को होता है तथा अनर्थ का निवारण और परम आह्लाद की प्राप्ति उभयविध है अर्थात् कवि और सहृदय दोनों को प्राप्तव्य है।

(ख) अर्वाचीन मत

जिस प्रकार पूर्वाचार्यों भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भोज, कुन्तक, मम्मट, वाग्भट्ट, अग्निपुराणकार, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज प्रभृति आचार्यों ने काव्यरचना के अनेक प्रयोजनों का निर्वचन किया है, उसी प्रकार अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के भी कतिपय आचार्यों ने अपनी-अपनी मौलिक कृतियों में काव्यप्रयोजन विषयक अपनी नूतन मौलिक उद्भावनाओं को विवेचित किया है।

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने आचार्य मम्मट प्रतिपादित 'काव्यं यशसे, इत्यादि और आचार्य विश्वनाथ अभिमत 'पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति' का ही समर्थन करते हुए काव्यप्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।[1] श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा ने केवल आनन्दानुभूति को ही काव्य का प्रयोजन मानते हुए लौकिकालौकिक आनन्द के द्विविध रूप का निर्वचन किया है। प्रथम प्रयोजन को आम्ररसास्वाद सदृश अनित्य तथा द्वितीय को काव्यगत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से अभिव्यक्त रत्यादि स्थायी भाव से निष्पन्न ब्रह्मानन्द सदृश नित्य बतलाया है।[2] आचार्य सर्वेश्वर कवि ने

1. साहित्यमञ्जरी- पृ०सं-1
2. साहित्यविमर्श- पृ०सं-40

काव्यप्रयोजन पर विचार करते हुए कहा कि चतुर्वर्ग का आश्रय तथा सर्वप्रीति-रस प्रदायक काव्य (नाट्य) होता है।[1] श्री छज्जूराम शास्त्री ने काव्यप्रयोजन पर विचार करते हुए भामह सम्मत काव्यप्रयोजन-**धर्मार्थकाम-मोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्।।** की ही पुनः प्रतिष्ठा करते हुए पुरुषार्थचतुष्टय एवं प्रीति तथा कीर्ति को ही काव्यप्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।[2] प्रो॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यप्रयोजन पर अपने विचार को व्यक्त करते हुए काव्यरचना को कवि की दृष्टि से निष्प्रयोजन एवं सप्रयोजन द्विविध रूपों में अङ्गीकृत किया है। उनका मत है कि कवि प्रायः किसी प्रयोजनवश ही काव्यरचना नहीं किया करता अपितु उसकी प्रवृत्ति कभी-कभी यश, अर्थ की प्राप्ति के बिना भी काव्य रचना करने में दृष्टिगत होती है। आचार्य का मत है कि जिस प्रकार चटका पक्षी प्रातः काल चणक कण लाभ रूप प्रयोजन के निमित्त ही कलरव नहीं करता अपितु कलरव करना उसका स्वभाव ही है। प्रमाण स्वरूप उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि को उदाहृत करते हुए बतलाया कि उन्होंने रामायण की रचना यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति अथवा शिवेतरक्षति के लिए नहीं की थी। क्योंकि वे तो लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा तीनों से रहित वीतराग थे। अतः सिद्ध है कि रामायण की रचना में आदिकवि की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन ही थी। कवि की दृष्टि से काव्यरचना के सप्रयोजन होने के सन्दर्भ में द्विवेदी जी का कथन है कि मम्मट प्रतिपादित काव्यप्रयोजनों के अतिरिक्त काव्य के अन्य अनेक प्रयोजन भी सम्भव हैं- यथा-(क) युगावश्यकतापूर्ति, (ख) स्वधर्मरक्षण, (ग) राष्ट्रदेव-प्रबोध आदि। इस प्रकार कवि तत्कालीन समस्याओं के समाधानार्थ, रहस्याभिव्यक्ति के लिए काव्यरचना करता है। जैसे- भारत पर विदेशी आक्रमण के समय कवि कालिदास ने रघुवंश की रचना की, जिसका प्रयोजन देश को यह सन्देश देना था कि पुनः रघु के समान वीर को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? कुमारसम्भवम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् की रचना का भी प्रयोजन लगभग

---

1. सकाकुरसगर्भाङ्कं चतुर्वर्गफलाश्रयम्। सर्वप्रीतिकरोदर्कं विज्ञेयं नाटकं बुधैः।।

   साहित्यसार- प्रथम प्रकाश-कारिका - 29

2. धर्मस्यार्थस्यकामस्य मोक्षस्यापि प्रयोजनम्।
   कीर्तिं प्रीतिकरं चाह भामहः काव्यसेवनम्।।

   साहित्यबिन्दु- प्रथम बिन्दु- पृ॰ सं॰- 8

यही है। इसी प्रकार यवन शासन काल में जब हिन्दू धर्म का ह्रास होने लगा तो तुलसीदास ने अपने धर्म की रक्षा तथा पुनरुत्थान के लिए रामचरितमानस की रचना की। इसी प्रकार कवि कभी-कभी राष्ट्ररूपी देवताओं के प्रबोध के लिए भी काव्यरचना करता है।[1] आचाय भरत ने भी नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कहा है कि विदेशी आक्रान्ताओं के कारण भारत का स्वत्व बिल्कुल समाप्त हो गया था और उसे वेद पर आधारित नाटकों नृत्यों आदि के द्वारा पुनः प्रतिष्ठित किया गया।

इस प्रकार काव्यरचना कवि की दृष्टि से सप्रयोजन अथवा निष्प्रयोजन हो सकती है, परन्तु सहृदय की दृष्टि से सदैव सप्रयोजन होती है। प्रो० द्विवेदी ने काव्य की तुलना मातृदुग्ध से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार माता का दुग्ध शिशु के गुणावगुण का विचार किए बिना ही स्तनन्धय शिशु को दुग्धरस से परिपुष्ट करता है, उसी प्रकार काव्य भी रसिक व्यक्ति को पुरुषार्थ रूपी अमृत का आस्वादन कराता है।[2]

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने काव्यप्रयोजन पर विचार करते हुए प्रो० द्विवेदी की ही भाँति काव्यप्रयोजन को अनिवार्य नहीं बतलाया है। उनका कथन है कि विषय विशेष के प्रति कवि की प्रवृत्ति द्विविध होती है- (क)- स्वभाव प्रेरित और (ख)-प्रयोजन प्रेरित। काव्य में भी यही घटित होता है कि सत्य में जो

---

1. प्रयोजनं कविः काव्ये नापि किञ्चन दृश्यते।
चुङ्कृती कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे।।
एषणात्रितयोत्तीर्णे रामायण महाकवी।
आत्माविष्कारनैष्कर्म्ये नैसर्गी किं प्रयोजनम्।।
युगावश्यकतापूर्तिमन्त्रव्यक्तिरपि क्वचित्।
प्रयोजनं रघुव्यक्ती रघुवंशे यथा कवेः।।
अधर्मोत्थान वेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते।
काव्यार्थस्तुलसी काव्ये यथा यवनशासने।।
राष्ट्रदेव प्रबोधेऽपि विश्वदैवतसाक्षिका।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्यः पुमर्थांश्चतुरो दुहन।।
काव्यालङ्कारकारिका-तृतीय अधिकरण - कारिका-20-24

2. न स्यात् प्रयोजनं स्याद् वा कवेः सामाजिकस्य तु।
मातृस्तन्यं यथा काव्यं हन्त सर्वार्थसाधनम्।।
काव्यालङ्कारकारिका-तृतीय अधिकरण-कारिका-26

कवि की प्रवृत्ति होती है, वही काव्य का रूप धारण करती है। इसमें कवि का कोई प्रयोजन नहीं होता, अपितु स्वभाव अपना कार्य करता है। कविगत इस स्वभाव प्रेरित प्रवृत्ति से कवि सत्य के दर्शन और अभिव्यक्ति करता है, इसी से उसे सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सहृदयगत प्रवृत्ति से सहृदय को सत्य के दर्शन होते हैं। अतः उसे भी सुख की प्राप्ति होती है। एतदतिरिक्त आचार्य शर्मा ने कहीं-कहीं यश, अर्थ प्राप्ति आदि को कवि की दृष्टि से काव्य प्रयोजन बतलाया है, परन्तु ऐसे प्रयोजनों में स्वाभाविक प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है।[1]

पं० गिरिधरलाल व्यास शास्त्री ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित काव्यप्रयोजनों को ही स्वरचित कारिकाओं में निबद्ध कर प्रस्तुत किया है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष-रूपी पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति ही इनका भी अभीष्ट प्रयोजन है। इन समस्त प्रयोजनों में भी मुख्य प्रयोजन के रूप में यश तथा आनन्द को कुछ आचार्यों ने स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजन का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हुए समस्त प्रयोजनों में मूलभूत प्रयोजन आनन्द को बतलाया है। पं० शास्त्री जी का भी यही अभीष्ट मन्तव्य है। नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ पर्यन्त की काव्यशास्त्रीय परम्परा में विवेचित समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार-विमर्श कर विद्वान् शास्त्री ने स्वरचित कारिकाओं में अपने मन्तव्य को आचार्य भामह तथा मम्मट के अनुसार प्रस्तुत किया है।[2]

डॉ० रमाशङ्कर तिवारी ने कवि और भावक की दृष्टि से काव्यप्रयोजन

---

1. प्रवृत्तिर्या कवेः सत्ये, काव्ये सा परिवर्तते।
नात्र प्रयोजनं किञ्चित् स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
प्रयोजनत्वमर्थादेः, सम्वभवत्यत्र जातुचित्।
परं यातीह शैथिल्यम्, प्रवृत्तिः सा स्वभावजा।।
काव्यसत्यालोक-पञ्चम उद्योत-कारिका-69-70

2. सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते।।
कवि निर्मितकाव्यस्य कीर्तितं यत्प्रयोजनम्। काव्याङ्गभूतस्यैतस्य शास्त्रस्यापि च सम्भवेत।।
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च व्यासः काव्यनिषेवणम्।।
....
'रसो वै स' रसं लब्ध्वानन्दी भवति नित्यदा। इत्यादिश्रुतिवाक्यैर्हि मता परमनिर्वृतिः।।
अभिनवकाव्यप्रकाश-प्रथम उन्मेष-कारिका-208-259

का निरूपण किया है। श्रुतिप्रतिपादित एषणात्रय, सांसारिकजनों को कर्म में प्रवृत्त करना, आत्मज्ञान की प्राप्ति, जीवन का ज्ञान इत्यादि विषयों को काव्य के प्रयोजन के रूप में प्रतिपादित किया है।[1] डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने प्रमाता (सहृदय) की दृष्टि से काव्य के द्विविध प्रयोजन का निरूपण किया है। काव्य के प्रथम प्रयोजन के रूप में उन्होंने सात्विक आनन्द के सदृश जीवन मुक्ति को स्वीकार किया है तथा आह्लादकारी शिक्षा को द्वितीय प्रयोजन के रूप में। अपने इस मौलिक प्रयोजन के साथ उन्होंने पूर्वाचार्यों तथा पाश्चात्याचार्यों द्वारा अभिमत काव्यप्रयोजन का भी निरूपण किया है।[2]

प्रो० अमर नाथ पाण्डेय ने काव्य के प्रयोजन पर अपने मत को प्रकट करते हुये बतलाया कि शास्त्रकारों द्वारा जो काव्य के प्रयोजन बतलाये गये हैं उनमें निश्चित ही प्रीति काव्य का मूलभूत प्रयोजन है, जो सकल कल्याण का मूल है। काव्य सदैव मङ्गल की धारा प्रवाहित करने वाला होता है तथा

---

1. अथ काव्य प्रयोजनं विचारणीयमधुना। भिन्नशः कवेर्भावकस्य च दृष्ट्या।।
एषणात्रैविध्यं निगद्यते हिश्रुत्या। कर्मणि प्रवृत्तये तु सांसारिकाणाम।।
रच्यते सुकविना ह्यात्मलब्धिहेतोः। न यशसे न ह्यर्थाय न चोर्ध्वगत्यै।।
ननु भावकाः संश्रयन्ति काव्यम्। न सद्यः परनिवृतये नाप्युपदेशहेतोः। प्रत्युत लब्धुं जीवन बोधसुखेन।।
करुणादिगर्भ काव्यं पठ्यते ह्यजस्रम्। नानन्दाय प्रवुद्धेर्विफल भावकैस्तु।।
ह्यपितु जिज्ञासया पूर्व्वजानां विषये। येषां वरताश्च लघुताश्च गुप्ताः।।
प्राचीन काव्येषु युगे युगे वा।। तद्वोधकाङ्क्षा तेषामभ्यास हेतुः।।
काव्यतत्त्वविवेक-पृ० सं० 3-4 और 53-61

2. प्रमातुः स्थितिकोणेन काव्यस्य द्वे प्रयोजने। जीवनमुक्तिरिवानन्दः सात्विको हृद्यशिक्षणम्।।
चतुर्वर्ग फलं केचित् ब्रह्मानन्द तथेतरे। कीर्तिं प्रीतिं कला स्फीतिं चतुर्वर्गयुतां परे।।
अपरे तु यशश्चार्थं व्यवहारं च मङ्गलम्। आह्लादं सरसां शिक्षां प्राहुः षटकं प्रयोजनम्।।
कानिचित् तु कविस्थित्या भोक्तुः स्थित्या च कानिचित्। कानिचिच्च द्वयोः स्थित्या षण्णांमध्यात् प्रचक्षते।।
प्रमात्रे ज्ञानमानन्द उभे साक्षात् प्रयोजने। कवयेऽर्थस्तथाकीर्तिर्मिश्रान्यन्यानि चोभयोः।।
शिक्षां चानन्दमाऽख्यान्तो द्वयमेव प्रयोजनम्। प्रमातुः स्थितिकोणेन पाश्चात्या च पृथक्पथाः।।
अभिनवकाव्यशास्त्रम्-द्वितीय आयाम- सूत्र- 17-18, पृ० सं०-55-56

जनकल्याण के निमित्त ही काव्य की रचना की जाती है।[1] प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार का मानना है कि काव्य का प्रयोजन श्रवण के द्वारा अथवा रङ्ग-रूपक दर्शन के द्वारा चमत्कार की चकाचौंध से चित्त को सद्यः द्रवित कर देना है। इसके अनन्तर जो आह्लाद उत्पन्न होता है, जिसकी अनुभूति भावक को होती है, वह आनन्दानुभव ही इस चमत्कार का प्रयोजन है। प्रो० वेदालङ्कार ने काव्य की आत्मा, चमत्कार को माना है। उनका मत है- "चमत्करोति यः काव्ये चमत्कारः स उच्यते"। इसलिये उन्होंने चमत्कार के द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है, उसको काव्य का प्रयोजन माना है।[2]

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने काव्यप्रयोजन का विवेचन करते हुए बतलाया है कि 'मुक्ति' काव्य का प्रयोजन है। सृष्टि की चेतना त्रैविध्यता के कारण वह मुक्ति तीन-तीन प्रकार की है, जो परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध है। आवरणभङ्ग ही मुक्ति है और संकुचितप्रमातृत्व ही आवरण है। कवि और सहृदय ही प्रमाता हैं। उनका चैतन्य सङ्कोच ही सङ्कुचित प्रमातृत्व है।[3] प्रो० त्रिपाठी के अनुसार

---

1. शब्दाः समर्थाः खलु वर्णनायां यदा गता योजनया प्रसादम्।
   तदातिरम्यं विभवं प्रयोगैस्तन्वन्ति काव्यं जनमङ्गलाय।।
   प्रयोजनानि प्रथितानि सद्भिः काव्यस्य सत्तर्क समीहितानि।
   मूलं सदा मङ्गलमेव तेषां मूर्ध्नि स्थितं चारु विभावितञ्च।।
   मङ्गल्य धारा नितरां पुनाना व्याप्नोति लोकं मधुरैः प्रवाहैः।
   प्राचीनकाव्येषु विशेषतः सा सञ्जीवनं पुष्यति निर्भरेण।।
   प्रयोजनानां खलु मौलिभूता प्रीतिः क्रियायां खलु शास्त्रकारैः।
   आविष्कृता मङ्गलमूलमुत्सः सिद्धान्तमानो नितरामुदेति।।
   काव्यसिद्धान्तकारिका- कारिका-14, 28, 29 तथा 50

2. काव्यस्य श्रुतिना रङ्गरूपकदर्शनेन वा।
   चमत्कारस्य चक्येन चित्तं द्रवति सत्वरम्।।
   ततो यो जायते ह्लादः भावुकेनानुभूयते।
   आनन्दानुभवः सैष चमत्कार प्रयोजनम्।।
   चमत्कारविचारचर्चा-प्रथम विचार-कारिका- 9-10

3. मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्। सृष्टेश्चेतनायास्त्रैविध्येन सा त्रिधा-त्रिधा। अनुषक्तत्वं चासाम्। मुक्तिश्चावरणभङ्गः। आवरणं च सङ्कुचितप्रमातृत्वम्। प्रमाता च कविः सहृदयश्च। तदीय चैतन्यसङ्कोचः सङ्कुचितत्वम्।
   अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्- प्रथम अधिकरण-द्वितीय अध्याय- पृ० सं०-15

इतर आचार्यों द्वारा बतलाये गये अन्य प्रयोजन अकिञ्चित्कर हैं। प्रो० त्रिपाठी का मत है कि सृष्टि के त्रैविध्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक के भेद से यह मुक्ति त्रिविधा है-(i) आधिभौतिकी (ii) आधिदैविकी और (iii) आध्यात्मिकी। आधिभौतिक मुक्ति की दशा में सभी जन सुख-सम्पन्न होते हैं। सभी को शरीर के भरण पोषणार्थ सम्यक् रूप से अन्नपानादि की व्यवस्था, शरीर के रक्षार्थ उचित भवन और वस्त्र की समुचित व्यवस्था ही आधिभौतिकी मुक्ति है। सभी जीव-जन्तुओं के मानसिक रोगों तथा व्याधियों का नाश, मन की प्रसन्नता और निष्कलुषता आधिदैविकी मुक्ति है। आत्मा का निज स्वरूपावस्थापन आध्यात्मिकी मुक्ति है। यह त्रिविधा मुक्ति काव्य एवं साहित्य साधना से प्राप्तव्य है।

चेतना त्रैविध्य के कारण यह मुक्ति पुनः तीन प्रकार की होती है। जिस प्रकार चेतना त्रिविधा होती है-(i) व्यक्तिगता (ii) समाजगता और (iii) ब्रह्माण्डगता; उसी प्रकार मुक्ति भी-(i) वैयक्तिकी (ii) सामाजिकी और (iii) ब्रह्माण्डीय रूप से त्रिविधा होती है। उपरोक्त षड्विधा मुक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। एक मुक्ति के बिना अन्य मुक्तियाँ सम्भाव्य नहीं हैं।

काव्य के श्रवण एवं पठन, नाट्यावलोकन तथा कलाओं के प्रत्यक्ष से प्रमाता सहृदय का चैतन्य आनन्त्य को प्राप्त करता है। यह आनन्त्यानुभव ही मुक्ति है। जैसा कि कहा भी गया है-**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति, तदसत्।** इस लोक में किसी ने भी सुख-दुःख से आत्यन्तिक शाश्वत मोक्ष को देखा नहीं है। सहृदयजन काव्यानुभूति के द्वारा मुक्ति का प्रत्यक्षानुभव किया करते हैं। काव्यरचना के द्वारा कवि तथा काव्य-पठन के द्वारा सहृदय को मुक्ति प्राप्तव्य है। इसीलिए कवि और सहृदय को प्रमाता कहा गया है।

प्रो० त्रिपाठी ने सनातन कवि प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी के द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजन, जिसमें उन्होंने कहा है कि चटका पक्षी के स्वाभाविक कलरववत् काव्यरचना कवि का स्वाभाविक कर्म है, जिसका अनुमोदन करते हुए अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने भी कहा है कि व्यवहारिक दृष्टि से काव्य का प्रयोजन यश तथा पारमार्थिक दृष्टि से काव्यरचना कवि का स्वाभाविक कर्म मात्र है, का खण्डन करते हुए बतलाया है कि कर्म स्वाभाविक नहीं होता, वह सदैव प्रयोजन सापेक्ष होता है। जैसा कि भगवती श्रुति में कहा गया है-आनन्द से ही यह

सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और आनन्द में ही सबका लय हो जाता है। इसलिए काव्यकर्म का भी प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति ही ग्रहण किया गया है। प्रो० त्रिपाठी का मत है कि जैसे पक्षी स्वतः ही कुञ्जन करते हैं, यह दृष्यन्त है, परन्तु इसमें (पक्षियों के कूजन में) भी स्वतः ही आनन्द की प्राप्ति प्रयोजन है; क्योंकि पक्षी उसी में मुक्ति का अनुभव किया करते हैं। और यदि यह कहा जाय कि- न धन, न पुण्य, न व्यवहार और न तात्कालिक सुख के लिए कवि काव्यरचना करता है। वस्तुतः वह उसका संस्कारजनित स्वाभाविक कर्म है, जिसे किए बिना वह क्षण भर शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। जिस प्रकार भँवरा गुञ्जार किए बिना उड़ने में समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार कवि भी बिना काव्यरचना (कविता) किए जीवित नहीं रह सकता; तो यह कवि के ऊपर एक भार है, जिसे वह विकलता पूर्वक उतारना चाहता है। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है- अहो भारोमहानिति।.....। निष्प्रयोजनमूलकतावादियों द्वारा कहे गये इस भारावतरण रूपी कर्म के द्वारा भी प्रयोजन की ही अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि यदि काव्यरचना उसके ऊपर भार है, जिसे उतारकर वह आनन्दानुभूति करता है तो वह भारावतरण भी एक प्रयोजन ही है।[1] त्रिपाठी जी का यह भी कथन है कि जिस प्रकार प्रजापति (ब्रह्मा) इस कामजनित संसार की रचना करता है, उसी प्रकार कवि भी काव्य-संसार की रचना करता है। इसलिए यश भी उस काव्य का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि क्या ईश्वर यश की कामना से इस सृष्टि की रचना करता है? क्या सभी श्रेष्ठ कवि काव्यरचना करके कीर्ति को प्राप्त करते हैं? महाकवि तो कीर्ति प्रलोभ का परित्याग करके ही काव्यरचना में प्रवृत्त होते हैं। उनका प्रयोजन उनके मन में विद्यमान रहता है, जो उनकी काव्यरचना में फलीभूत होता है। प्रो० त्रिपाठी ने कालिदासोक्त- **मन्दः कवि यशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम**। इस पङ्क्ति के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि कवि यश की कामना करके उपहास का पात्र हो जाता है। अतः मुझे (कवि को) यह अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार उन्होंने काव्यरचना के द्वारा यशप्राप्ति रूप प्रयोजन- (प्रो० राजेन्द्र मिश्र के मत) का भी निराकरण किया है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने काव्यरचना के अपने अभिनव प्रयोजन को उद्घाटित करते हुए कहा है कि काव्यरचना कवि न धन के निमित्त, न पुण्य के निमित्त,

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र- प्रथम अधिकरण- द्वितीय अध्याय- पृ० सं० -17

न व्यवहार ज्ञान के निमित्त, न ही तात्कालिक आनन्द की प्राप्ति के निमित्त करता है। वस्तुतः काव्यरचना उसका पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रबुद्ध स्वभावज कर्म है, जिसे न सम्पन्न कर (जिससे विरत होकर) वह क्षण भर भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। जिस प्रकार भ्रमर बिना गुञ्जन किये उड़ पाने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार कवि भी काव्यरचना के बिना जीवित नहीं रह सकता। इसलिए प्रो० मिश्र ने काव्यरचना (काव्यसर्जना) को कवि का (निसर्गजात) स्वाभाविक कर्म माना है, जिसे वह जन्म-जन्मान्तर के दिव्य संस्कारजनित कर्मों के सत्फलस्वरूप प्राप्त करता है। प्रो० मिश्र का मत है कि जो वस्तु (मनुष्य के) निसर्ग या स्वभाव से वहिर्भूत हो (नैसर्गिक या स्वाभाविक न हो), वह भले ही प्रयोजन से युक्त हो (अर्थात् अस्वाभाविक कार्य तो सप्रयोजन होगा ही), परन्तु स्वभावजन्य कार्य के सन्दर्भ में आशङ्का बढ़ाने वाली इस प्रयोजन की कैसी चर्चा? अर्थात् भूख, नींद, प्यास आदि नैसर्गिक हैं, इनका कोई प्रयोजन नहीं होता है। परन्तु विद्वज्जन यदि काव्यरचना के सन्दर्भ में कोई प्रयोजन देखना ही चाहते हैं तो फिर (वह प्रयोजन) एक मात्र यश ही मुझे अभीष्ट प्रतीत होता है, जो कि लोक एवं परलोक दोनों में अभिप्रेत होता है।[1] इस प्रकार प्रो० मिश्र ने काव्यरचना के द्विविध प्रयोजनों को स्पष्ट

1. न धनाय न पुण्याय व्यवहाराय नापि वा।
न च सद्यः सुखार्थाय काव्यं निर्मात्ययं कविः।।
वस्तुतस्तस्य कर्मैतत् संस्कारोत्थं स्वभावजम्।
यदकृत्वा क्षणं यावन्नासौ शमधिगच्छति।।
यथा नोत्पतितुं शक्तो भ्रमरो गुञ्जनादृते।
तथा कविरयं काव्यादृते शक्तो न जीवितुम।।
काव्यमेतत्तो मन्ये कवि कर्म स्वभावजम्।
जन्मजन्मान्तरऽवाप्तदिव्यसंस्कारसत्फलम्।।
यन्निसर्गाद्बहिर्भूतं तद्भवेत्सप्रयोजनम्।
निसर्गे क्व पुनस्तस्य चर्चाऽनास्था विवर्धिनी।।
पश्यन्तेव यदि प्राज्ञाः काव्यसृष्टौ प्रयोजनम्।
परत्रेह च निर्व्याजं यशस्तन्मेऽभिरोचते।।
न च काव्येतरत्कृत्यं किमप्येतादृशं भुवि।
यदत्र परलोके च यशश्शाश्वतमर्जयेत्।।
अभिराजयशोभूषणम्-प्रथम उन्मेष-काव्यप्रयोजन प्रकरण-कारिका-23-29 पृ० सं०-28

किया है। उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से काव्यरचना का एकमात्र प्रयोजन यश प्राप्ति को बतलाया तथा पारमार्थिक दृष्टि से काव्यरचना को कवि का स्वतः प्रकट होने वाला स्वाभाविक कर्म बतलाया और कहा कि स्वाभाविक कार्य किसी भी प्रकार प्रयोजन सापेक्ष नहीं होता। अतः उन्होंने यश को ही काव्यरचना का स्थायी तथा अनवद्य (असङ्कीर्ण) प्रयोजन प्रतिपादित किया है, जैसा कि आचार्य वाग्भट ने भी केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन माना है, वही प्रो० मिश्र का भी अभीष्ट मन्तव्य है।

प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने काव्यप्रयोजन का निरूपण करते हुए बतलाया कि हृदयाह्लादक वाणी द्वारा असज्जनता के मार्ग का परित्याग कर सज्जनता के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने हेतु विद्वान् लोग काव्यरचना किया करते हैं। कवि कीर्ति, पुरस्कार, स्वान्तः सुख की कामना, प्राचीन कथावस्तु के संस्कार, सच्चरिताङ्कन, नूतन काव्यविधा का उन्मेष, विकृति सूचक व्यङ्ग्योक्ति, राष्ट्रभक्ति, युगधर्म, पर्यावरण चेतना, राष्ट्र के स्वातन्त्र्यवीरों का चरित तथा आराध्य ईश्वर को प्रयोजन बनाकर वर्तमान कविगण काव्यरचना कर रहे हैं।[1] इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने अपनी नवनवोन्मेषा प्रतिभा के द्वारा काव्यप्रयोजन की वर्तमान परिप्रेक्ष्य के आधार पर विवेचना प्रस्तुत की है।

इस प्रकार अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों में काव्यप्रयोजन पर अपना विद्वत्तापूर्ण मर्मस्पर्शी वक्तव्य प्रस्तुत किया है। यद्यपि पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित काव्यप्रयोजन पुरुषार्थ चतुष्टय से इतर इन आचार्यों ने कोई व्याख्यान नहीं दिया, परन्तु उसमें से किसी एक पक्ष विशेष को ही प्रमुखता प्रदान कर अन्य पक्षों को गौण-रूपेण मान्यता प्रदान करते हुए उसका

---

1. असन्तंमार्गमुत्सृत्य सन्तं गमयितुं जनम्।
   हृदाह्लादिकया वाचा प्रज्ञावान काव्यमङ्क्ते।
   कविकीर्ति-पुरस्कार-स्वान्तः सुखसमीहया।।
   प्राक्कथावस्तु संस्कारं सताञ्च चरिताङ्कनम्।
   नव्यकाव्यविधोन्मेषं व्यङ्ग्योक्तिं विकृतौ तथा।।
   राष्ट्रभक्तिं युगौचित्यं पर्यावरणचेतनाम्।।
   राष्ट्रस्वातन्त्र्य वीराणां चरितं चाराध्यमीश्वरम्।
   समुद्दिश्याधुना काव्यं कुर्वन्ति कवितल्लजाः।।
   दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-अप्रैल-मई-जून-2005-पृ० सं०-93

विवेचन किया है। इन आचार्यों ने अपनी-अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा काव्यप्रयोजन पर अपनी नूतन मौलिक उद्भावनाओं को नवीन उदाहरणों सहित सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए काव्यशास्त्र की अजस्र परम्परा को अग्रसारित किया है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने धर्मरक्षा तथा राष्ट्रदेवप्रबोध तथा युगावश्यकता पूर्ति आदि को काव्यप्रयोजन में सुयंक्त कर संस्कारित किया है तथा प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने काव्यप्रयोजन में युगधर्म, राष्ट्रभक्ति, पर्यावरण चेतना, राष्ट्र के स्वातन्त्र्यवीरों तथा ईश्वराराधना आदि को संयोजित कर सुसंस्कृत किया है। निश्चित रूपेण ही अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों की काव्यप्रयोजन रूपी काव्यरसामृत धारा सहृदय सामाजिकों का हृदयसेचन करती हुई भागीरथी की प्रवेग धवल धारा के समान काव्यस्रोतांशों को प्रवाहित करती हुई आगामी काव्योपजीवियों का हृदय सिञ्चन करेगी।

2. काव्यकारण विमर्श

काव्यरचना के कौन-कौन से हेतु (कारण) अथवा उपादान हैं, जिनके द्वारा कवि काव्यरचना करता है। प्रस्तुत विषय पर काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने गहन चिन्तन किया है। काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही इस विषय पर विचार-विमर्श होता रहा है। आचार्यों ने अपनी गहन मीमांसा के उपरान्त काव्यरचना के तीन हेतुओं का निवर्चन किया है- (i) प्रतिभा, (ii) व्युत्पत्ति और (iii) अभ्यास।

(क) पारम्परिक मत

आचार्य भामह का मत है कि काव्य की रचना केवल प्रतिभाशाली जन ही कर सकते हैं।[1] विभिन्न शास्त्रों तथा कलाओं का अध्ययन करके, अन्य कवियों की रचनाओं को देखकर तथा काव्यविद् गुरुजनों की सेवा करके ही काव्य रचना की जा सकती है।[2]

1. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।

   काव्यालङ्कार- प्रथम परिच्छेद-कारिका-5 का उत्तरांश

2. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
   लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी।।
   शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
   विलोक्यान्यप्रबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। वही-कारिका-9-10

आचार्य दण्डी का कथन है कि स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर अध्ययन और निरन्तर अभ्यास ये तीन तत्त्व काव्यरचना के कारणभूत हैं।[1] आचार्य वामन ने भामह और दण्डी का अनुसरण करते हुए लक्ष्यत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभा एवं अवधान आदि को काव्य का कारण माना है।[2] आचार्य रुद्रट ने (शक्ति) प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु माना[3] तथा आचार्य मम्मट ने भी शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को ही काव्य का कारण माना।[4]

काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यो ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही काव्य हेतु के रूप में प्रतिपादित किया, परन्तु कुछ आचार्यों ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना, जिनमें आचार्य राजशेखर प्रमुख हैं। इनका मत है कि काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा है।[5] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है।[6] यद्यपि इन आचार्यो ने केवल प्रतिभा को काव्य का कारण माना तथापि व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का सहायक हेतु स्वीकार किया। राजशेखर ने प्रतिभा के उन्मीलनार्थ समाधि तथा

---

1. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।।
   काव्यादर्श- प्रथम परिच्छेद-कारिका-103
2. तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यत्वम्। काव्यवन्धोद्यमोऽभियोगः।
   काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।
   कवित्ववीजं प्रतिभानं। चित्तेकाग्र्यमवधानं। तद्देशकालाभ्याम्।।
   काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-अध्याय-3-सूत्र-12-18
3. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः।
   काव्यालङ्कार-प्रथम अध्याय-कारिका-14
4. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
   काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।
   काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-3
5. स (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।
   काव्यमीमांसा- अध्याय-6-कारिका-11
6. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। रसगङ्गाधर-पृ०-8

अभ्यास को आवश्यक माना तथा पण्डितराज ने काव्य का हेतु प्रतिभा को मानते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का हेतु स्वीकार किया।

वाग्भट ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को संस्कार करने वाला बतलाया।[1] जयदेव ने वाग्भट का समर्थन करते हुए कहा कि जिस प्रकार लता का कारण बीज है तथा मिट्टी और जल उसके पोषक हैं, उसी प्रकार काव्य का हेतु केवल प्रतिभा है, परन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास इसका पोषण करते हैं।[2] आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य का हेतु माना तथा प्रतिभा को महत्व प्रदान करते हुए कहा कि अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष सद्यः प्रकट हो जाता है।[3] आचार्य दण्डी का मत है कि कवि में जन्मजात प्रतिभा नहीं है तो भी वह विद्या अध्ययन करके तथा निरन्तर अभ्यास के द्वारा काव्यरचना कर सकता है।[4]

प्रतिभा

काव्य का प्रथम हेतु प्रतिभा है। प्रतिभा क्या है तथा प्रतिभा का प्रस्फुरण कवि में किस प्रकार होता है? इस विषय पर भी आचार्यों ने गम्भीर चिन्तन किया है। अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा को पूर्व जन्म के संस्कारों से उत्पन्न जन्मजात संस्कार माना है। विद्वानों का मत है कि जन्मजन्मान्तरों से आत्मा पर जो संस्कार पड़ते हैं उनसे ही प्रतिभा उद्भासित होती है। आचार्य दण्डी ने

---

1. प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
   व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकौ न तु काव्यहेतू।।

   वाग्भट-अलङ्कारतिलक-पृ०-2

2. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
   हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव।। चन्द्रालोक-प्रथम मयूख-कारिका-6

3. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
   यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभाषते।।

   ध्वन्यालोक-3-6 की वृत्ति

4. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।।

   काव्यादर्श-प्रथम परिच्छेद-कारिका-104

प्रतिभा को नैसर्गिक तथा जन्मजन्मान्तरगत संस्कार माना है।[1] वामन ने भी प्रतिभा को नैसर्गिक तथा जन्मजन्मान्तरगत संस्कार माना है।[2] अभिनवगुप्त का मत है कि कवित्व की बीजरूपा यह प्रतिभा जन्मान्तरों के संस्कार से आती है।[3] आचार्य मम्मट भी इसे पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न मानते हैं। इसके बिना काव्यरचना असम्भव है। यदि किसी प्रकार हो भी जाए तो वह उपहासास्पद होती है।[4] पण्डितराजजगन्नाथ ने प्रतिभा की उत्पत्ति सर्वथा अदृष्ट से नहीं मानी तथापि उन्होंने प्रतिभामय पूर्वजन्म के संस्कारों को कवि का आन्तरिक गुण माना है।[5]

अग्निपुराणकार का कथन है कि काव्यसर्जन की सामर्थ्य (शक्ति) प्रतिभा से आती है। इस संसार में प्रथमतः मनुष्य शरीर की प्राप्ति ही दुर्लभ है। कदाचित् यह शरीर मिल भी जाय तो विद्या प्राप्त करना दुर्लभ है। यदि विद्या किसी तरह प्राप्त हो भी जाय तो कवित्व दुर्लभ है। कवित्व के होने पर भी (शक्ति) प्रतिभा तो और भी सुदुर्लभ होती है।[6] अतः यह प्रतिभा ही उत्तम काव्य की प्रधान कारण-भूता है। कुन्तकाचार्य का मत है कि प्रतिभा केवल प्राक्तन संस्कारों के कारण ही उद्भावित नहीं होती, अपितु इस प्रतिभा का विकास प्राक्तन तथा अद्यतन दोनों प्रकार के संस्कारों से होता है।[7]

---

1. काव्यादर्श-प्रथम परिच्छेद-कारिका-104
2. जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा।
   काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-अध्याय-3-सूत्र -16
3. कवित्वबीजं जन्मान्तरसंस्कारगतविशेषःकश्चित्।।
   अभिनवभारती-पृ०-346
4. शक्ति कवित्वबीजरूपं संस्कार विशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।
   काव्यप्रकाश- प्रथम उल्लास-कारिका-3 की वृत्ति।
5. कवेः वर्णना निपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः।।
   रसगङ्गाधर-पृ०-8-9
6. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
   कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।।
   अग्निपुराण-अध्याय-337-कारिका-3
7. प्राक्तनाद्यतन संस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।।
   वक्रोक्तिजीवित-प्रथमोन्मेष-पृ० 49

प्रतिभा का स्वरूप क्या है? इस विषय पर भी आचार्यों ने विचार किया है। आचार्य वामन का मत है कि प्रतिभा कवित्व का बीज है। प्रतिभा का वैज्ञानिक स्वरूप सर्वप्रथम भट्टतौत ने अपने ग्रन्थ काव्यकौतुक में प्रस्तुत किया। उनका मत है कि नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने में समर्थ प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं। उससे अनुप्राणित होकर कवि वर्णन करने में निपुण होता है और उसका कार्य काव्य कहलाता है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी प्रतिभा का लक्षण भट्टतौत के अनुरूप ही किया है।[2] आचार्य राजशेखर का मानना है कि प्रतिभा द्वारा कवि परोक्ष वस्तु को भी प्रत्यक्षसम देखने लगता है। शब्दसमूह, अर्थसमूह, अलङ्कारों और उक्तियों को प्रतिभा हृदय में प्रतिभासित करा देती है। प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष होते हैं। परन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति परोक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् देखता है। मेधाविरुद्र और कुमारदास जन्मान्ध होते हुए भी श्रेष्ठ कवि थे।[3] आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा को शक्ति के रूप में अभिहित किया है। उनका मानना है जिसके द्वारा मन के एकाग्र होने पर कवि में अर्थ का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं प्रतिभासित होते हैं, उसको प्रतिभा कहते हैं।[4] आनन्दवर्धनाचार्य का मत है कि महाकवियों की वाणी मधुर रस का निष्पन्दन करती हुई लोकोत्तर एवं परिस्फुरणशील विशेष प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है।[5]

---

1. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
   तदनुप्राणनाज्जीवद् वर्णनानिपुणः कविः।।
   तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।।
   काव्यकौतुक- अनुपलब्ध ग्रन्थ, उद्धृत हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन अध्याय 3 में।
2. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य-काव्यनिर्माणक्षमत्वम्। ध्वन्यालोकलोचन - पृ०-29
3. या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयंप्रतिभासयति सा प्रतिभा।
   अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।
   यतोमेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।
   काव्यमीमांसा-अध्याय-4, पृ०-26-27
4. मनसि सदा सुसमाधीनि विस्फुरणमनेकधा।
   अक्लिष्यानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौशक्तिः।।
   काव्यालङ्कार-प्रथम अध्याय-कारिका-15
5. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमानां महतां कवीनाम्।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।
   ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-6

आचार्य महिमभट्ट ने प्रतिभा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा कि रस के अनुरूप शब्द और अर्थ का चिन्तन करने वाले कवि की अपने स्वरूप के स्पर्श से उत्पन्न प्रज्ञा ही प्रतिभा है। यह प्रतिभा मानों भगवान् का तीसरा नेत्र है। इसके द्वारा कवि तीनों कालों के अर्थों का दर्शन कर लेता है।[1]

प्रतिभा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने विविध आधारों का तथा इसके भेदों का भी कथन किया है। आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद बतलाये हैं-(1) सहजा और (2) उत्पाद्या।[2] राजशेखर ने प्रतिभा के दो प्रमुख भेद बतलाये- कारयित्री और भावयित्री। इनमें कारयित्री के भी तीन प्रकार हैं-(1) सहजा (2) आहार्या और (3) औपदेशिकी।[3] काव्य की रचना करने में समर्थ कवि की प्रतिभा कारयित्री कहलाती है तथा जिस प्रतिभा की सहायता से समालोचक या पाठक कवि के अभिप्राय को समझने में समर्थ होता है वह भावयित्री प्रतिभा है। सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है और स्वल्पाभ्यास से ही उद्‌बुद्ध हो जाती है। आहार्या प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों की अपेक्षा तो रखती है, परन्तु इसको उद्‌बुद्ध करने के लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा वह है, जो मन्त्र, तन्त्र आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है। कुछ आचार्यों ने विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है तथा प्रज्ञा और प्रतिभा को पर्यायवाची प्रतिपादित किया है। प्रतिभा या प्रज्ञा कविगत बुद्धि का एक प्रकार है। राजशेखर ने बुद्धि के तीन प्रकार कहे हैं- (1) स्मृति (2) मति और (3)

---

1. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः।
   क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
   सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
   येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्तिनः।। व्यक्तिविवेक-पृ०-108
2. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
   पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा।।
   काव्यलङ्कार-प्रथम अध्याय-कारिका-16
3. स च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च।
   काव्यमीमांसा-चतुर्थ, अध्याय-पृ०-29

प्रज्ञा। व्यतीत अर्थ का स्मरण कराने वाली बुद्धि स्मृति है। वर्तमान अर्थ का बोध कराने वाली बुद्धि मति कहलाती है तथा जो बुद्धि भविष्य के अर्थ का दर्शन कराती है, वह प्रज्ञा कहलाती है।[1]

व्युत्पत्ति

काव्य का दूसरा हेतु व्युत्पत्ति है। इस पर भी आचार्यों ने अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। व्युत्पत्ति का अभिप्राय है-लोकव्यवहार, शास्त्र तथा काव्य आदि का अध्ययन करके उनका ज्ञान प्राप्त करना। कवि की वाणी सभी विषयों की वर्णन कर्त्री है, अतः कवि को समस्त विषयों का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो कवि के वर्णन की परिधि से बाहर हो। यदि कवि किसी विषय को जानता है तो उसके वर्णन में स्वाभाविकता और औचित्य जरूर होता है, जिसके द्वारा वह पाठकों को प्रभावित करता है। यदि वह अपनी रचना के विषय का समुचित वर्णन करने में अक्षम है तो उपहास का पात्र होगा। अतः राजशेखर का मत है कि औचित्य एवं अनौचित्य का विवेक एवं बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है। आचार्यों का यह मानना है कि प्रत्येक-ज्ञान, शिल्प, विद्या और कला काव्य का अङ्ग बन सकती है। इसलिए काव्यरचना करने वाले कवि को इनका ज्ञान होना आवश्यक है। भामह का मत है कि काव्यरचना करने वाले को प्रथमतः शब्दशास्त्र, छन्दःशास्त्र, कोष, इतिहास, कथाएँ, लोक-व्यवहार, दर्शन, कला आदि का ज्ञान होना चाहिए तथा अन्य कवियों के काव्यों का अवलोकन करना चाहिए।[2] वामन ने काव्य के तीन हेतु बतलाये हैं- (i) लोक, (ii) विद्या और (iii) प्रकीर्ण। इनमें लोक-व्यवहार लोक है। शब्दशास्त्र स्मृति, अभिधान कोश, छन्दोविचिति, कला, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि विद्याएँ हैं। कवि को इन सब का ज्ञान

---

1. त्रिधा च सा (बुद्धिः) स्मृतिः मतिः प्रज्ञेति।
   अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्ती स्मृतिः वर्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति।
   सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री काव्यमीमांसा-चतुर्थ, अध्याय-पृ०-29
2. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इहिसाश्रयाः कथाः।
   लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः।।
   शब्दाभिधेयेविज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
   लिोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।
   काव्यालङ्कार-प्रथम परिच्छेद-कारिका-9-10

अवश्य होना चाहिए। वृद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान प्रकीर्ण हैं। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अन्तर्गत अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित लोकव्यवहार एवं शास्त्रों तथा काव्यों के अध्ययन को वामन ने भी काव्य के हेतु के रूप में अङ्गीकृत किया है।[1]

मम्मटाचार्य ने व्युत्पत्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए इसको निपुणता नाम दिया और कहा कि लोकशास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से निपुणता आती है। उन्होंने कहा कि लोक से अभिप्राय है– स्थावर एवं जङ्गमात्मक लोक का व्यवहार। छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोश, कला, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, गज, तुरग, खड्ग आदि लक्षणग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। महाकवियों द्वारा रचित कृतियाँ काव्य हैं। आदि पद से यहाँ इतिहास आदि का ग्रहण किया गया है। इनके सम्यक् पर्यालोचन से जो व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है, उसको निपुणता कहते हैं।[2]

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों की विवेचनाओं के आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्युत्पत्ति के अन्तर्गत–लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य, इतिहासादि के सम्यक् अवलोकन और अध्ययन से उत्पन्न विवेक द्वारा ही औचित्य तथा अनौचित्य का ज्ञान समाविष्ट होता है। इसलिए काव्यरचना करने वाले कवियों को व्युत्पत्ति पर बल देना चाहिए ।

अभ्यास

काव्यरचना का तीसरा कारण अभ्यास है। अभ्यास का अभिप्राय है कि काव्य के मर्मज्ञ वृद्धजनों की सेवा–सुश्रुषा करता हुआ कवि उनके निर्देशन में काव्यरचना

---

1. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।। लोकवृत्तं लोकः।
शब्द–स्मृति–अभिधान–कोश–छन्दोविचिति–कला–कामशास्त्र–दण्डनीति–पूर्वा:विद्याः।। लक्ष्यत्वमभियोगोवृद्धसेवा–अवेक्षणं प्रतिभानम–अवधानञ्च प्रकीर्णम्।।
काव्यालङ्कारसूत्र–प्रथम अधिकरण–अध्याय–3–सूत्र–2–3 तथा–11
2. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासइतिहेतुस्तदुद्भवे।। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान कोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां महाकविसम्बन्धिनाम्, आदि–ग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः।।
काव्यप्रकाश–प्रथम उल्लास–कारिका–3 तथा उसकी वृत्ति।

करे। मम्मटादि आचार्यों ने अभ्यास को भी काव्य के अन्य हेतुओं के समान ही स्थान दिया है, परन्तु राजशेखर तथा पण्डितराजजगन्नाथादि आचार्य अभ्यास को प्रतिभा का सहायक या उद्भावक मानते हैं। आचार्य वामन ने वृद्ध की सेवा को काव्य की शिक्षा के लिए अनिवार्य रूप से प्रतिपादित किया है।[1] आचार्य मम्मट का मत है कि काव्यरचना के जिज्ञासु को, उन विद्वानों की सेवा करनी चाहिए, जो काव्यरचना करना जानते हैं तथा काव्यसमालोचना के मर्मज्ञ हैं। उनके उपदेश द्वारा वह शब्दों और अर्थों की योजना को विषय के अनुकूल बनाता है तथा उनका संयोजन करके काव्यरचना करता है। इस प्रक्रिया को पुनः पुनः सम्पादित करना ही अभ्यास है।[2]

कविशिक्षा और कविता करने के अभ्यास के सन्दर्भ में पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं। आचार्य राजशेखर का मत है कि मनुष्य में आठ प्रकार की विशेषताओं के उत्पन्न होने पर ही वह काव्य-रचना कर सकता है। मानव की ये आठ विशेषताएँ ही काव्य की माताएँ कहलाती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं- (i) उत्तमस्वास्थ्य (ii) प्रतिभा (iii) अभ्यास (iv) गुरुजनों के प्रति भक्ति (v) विद्वानों के साथ गोष्ठियाँ (vi) बहुत अधिक अध्ययन (vii) प्रबल स्मरणशक्ति और (viii) चित्त की प्रसन्नता।[3]

इस प्रकार आचार्यों ने काव्य-रचना के हेतु के सन्दर्भ में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्व दिया है। काव्यरचना के प्रसङ्ग में तीनों का अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक के अभाव में काव्यरचना सम्भव नहीं हो सकती, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि- प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य-रचना में सम्मिलित रूप से कारण हैं।[4] अतः इन विवेचनों

---

1. काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा।

काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-अध्याय-3-सूत्र-14

2. काव्यं कर्त्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः।

काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-3 की वृत्ति

3. स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिर्दार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य।।

काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय

4. त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्य उद्भवे, निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-3 की वृत्ति।

से निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य-रचना में समान रूप से कारण हैं। प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का महत्व सम्भव नहीं है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में प्रतिभा भी कुण्ठित रहती है। आचार्यों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन्होंने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, इन तीन तत्वों को ही काव्य के कारण के रूप में स्वीकृत किया है। इनमें से कुछ आचार्यों ने तीनों हेतुओं को समान महत्व प्रदान किया तथा कुछ ने प्रतिभा को अधिक महत्व प्रदान करते हुए व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का सहायक प्रतिपादित किया है।

(ख) अर्वाचीन मत

जिस प्रकार इन पूर्वाचार्यों ने अपनी सूक्ष्मेच्छिका प्रतिभा द्वारा काव्यरचना के हेतु पर अपने-अपने विचारों को उद्घाटित किया है, उसी प्रकार काव्यशास्त्रीय परम्परा को अग्रसारित करते हुए अर्वाचीन आचार्यों ने भी अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय काव्य-रचना के सन्दर्भ में दिया है। क्रमशः इन आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है। पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने आचार्य मम्मट प्रतिपादित काव्यकारण-

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

का ही समर्थन करते हुए शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को ही काव्यरचना में कारण माना है।[1] श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा ने भी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का समीक्षण करते हुए प्रतिभा को काव्य का प्रधान कारण माना तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसकी सहायक सामग्री के रूप में उपन्यस्त किया है।[2] आचार्य सर्वेश्वर कवि ने सुन्दर मृदु

1. साहित्यमञ्जरी-पृ०-1
2. अतः काव्योत्पत्तौ प्रतिभैव प्रधानं कारणम्। सत्यां तस्यां यदि व्युत्पत्त्याभ्यासौस्तर्हि हेम्नः परम्प्रमोद इत्यवश्यमभ्युपेयम्। समुदितहेतुवादिनां मते तु प्रतिभायास्सत्वेऽपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोरभावे काव्यस्यानुपत्तिरेवापद्येत। सामग्रया असंपूर्णत्वात्। न हि तथाविधोऽनुभवः। अतो युक्त्यनुभवानुरोधात्प्रतिभाया एव काव्यकारणत्वमङ्गीकार्यम्। स च जन्मान्तरसुकृतागतो देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यो वा कवित्ववीजरूप संस्कार विशेषः। साहित्यविमर्श-द्वितीय परिच्छेद-पृ०-36

पदावली युक्त बालव्युत्पत्ति को काव्य का कारण माना है।[1] आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने काव्यनिर्माण में व्युत्पत्ति (बोध), शक्ति (संस्कार विशेष) और अभ्यास तीनों की तुल्य कारणता को प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि काव्य के प्रादुर्भाव में तीनों मिलकर ही कारण हैं; पृथक्-पृथक् नहीं।[2] इस प्रकार आचार्य शास्त्री ने मम्मट प्रतिपादित प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही काव्य का कारण माना है। काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण माना है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसके सहायक के रूप में प्रतिपादित किया है, परन्तु शास्त्री जी ने आचार्य मम्मट का अनुसरण करते हुए तीनों की समान रूपता को प्रकट किया है। व्युत्पत्ति को परिभाषित करते हुए शास्त्री जी ने आचार्य रुद्रट द्वारा प्रतिपादित छन्द और व्याकरण का ज्ञान, 64 कला और कोष में निपुणता, युक्तायुक्त विचार को ही समर्थित किया है तथा शक्ति के स्वरूपोद्घाटन में मम्मट का अनुसरण किया है।[3]

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी का मत है कि काव्य का कारण है प्रतिभा और वह होती है अर्थ की अवभासना। यह मेघमाला के मध्य बिजली की चमक सदृश हुआ करती है। मेघमाला है प्रज्ञा। परमात्मा ने अपनी कृपा के पात्र नारदादि में जो अपना स्वरूप प्रथमतः प्रकट किया था, वह इस प्रतिभा से मिलता जुलता है तथा योगियों के हृदय में समाधिस्थ अवस्था में जो विषयान्विता ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मानी गई है, कवि की प्रतिभा उसकी स्वसा है। यह प्रतिभा लोक में द्विविध रूप में प्रत्यक्ष होती है- (i) स्वयम्भू और (ii) सहेतु। इन दोनों में प्रथम आदिकवि वाल्मीकि में तथा द्वितीय अन्य कवियों में द्रष्टव्य है।

---

1. लसन्मृदुपदावल्या बालव्युत्पत्तिकारणम्,
   तेन साहित्यसारोऽसौ क्रियते नाट्यलक्षणम्।।

   साहित्यसार-प्रथम प्रकाश-कारिका-11

2. तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे।
   व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतुर्न हेतवः।।

   साहित्यबिन्दु-प्रथम बिन्दु-कारिका-8

3. छन्दोव्याकरणज्ञत्वं, कला कोष-प्रवीणताम्। युक्तायुक्त-विवेकं च व्युत्पत्तावाह रुद्रटः।।
   शक्तिं निपुणतां लोक शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यासं हेतुं तत्राह मम्मटः।।

   साहित्यबिन्दु-प्रथम बिन्दु-कारिका-9-10

इनमें जो द्वितीय है, इसके करण तो अनेक होते हैं, परन्तु कारण केवल सत्वोद्रेक होता है। यह सत्व का उद्रेक भी अनेक प्रकार का होता है; क्योंकि इसमें रज और तम का अनुवेध रहता है और यह अनुवेध भी संख्यातीत हुआ करता है। यही कारण है कि एक ही कवि की कविताओं में अनेक प्रकार के बन्ध मिलते हैं। जैसे वसन्त के उद्यान में वृक्षों की छ्यएँ। इसी कारण एक ही कवि में प्रतिभाएँ भी अनेक प्रकार की मिलती हैं। क्या बिजली की चमक सदैव एक सी ही होती है? अतः काव्य के प्रति यह प्रतिभा ही उपादान और निमित्त कारण हुआ करती है। इसलिए कि काव्य सदा प्रतिभा के भीतर ही रहता है।[1] प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ नाट्यानुशासन के रसभोग नामक पञ्चम उन्मेष में भी बतलाया कि कलाओं में, जो भी भाव व्यक्त होते हैं, सबकी आत्मा प्रतिभा ही है। दर्शन सम्प्रदायों में उसी को प्रातिभासिक सत्ता (आत्मा) कहा गया है।[2]

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने शक्ति और श्रम को काव्य का कारण माना है। उनका कहना है कि यहाँ (काव्य में) शक्ति प्रधान होती है तथा श्रम की भी उपयोगिता होती है।[3] काव्यकारण विवेचन के सन्दर्भ में पं० गिरिधर लाल व्यास जी ने पूर्वाचार्यों के मतों को ही महत्वपूर्ण बतलाया है। काव्यशास्त्र की

---

1. कारणं प्रतिभा काव्ये, सा चार्थ-प्रतिभासनम्। प्रज्ञाकादम्बनी-गर्भे विद्युदुद्योत-सोदरम्।।
नारदादि-कृपापात्र-चेतोधातौ जगत्प्रभोः। प्रथमं स्व-स्वरूपस्य दर्शनं यत् तदीदृशम्।।
समाधौ योगलग्नानां हृदये विषयान्विता। ज्योतिष्मती प्रवृत्तिर्या तत्स्वसा प्रतिभा कवेः।।
स्वयंभूश्च सहेतुश्चेत्यसौ लोके द्विधास्थिता। आदिमाऽऽदिकवौ दृष्य द्वितीयान्यत्र दृश्यते।।
द्वितीया या भवन्त्यत्र कारणानि बहून्यपि। कारणं तु भवत्यत्र सत्वोद्रेको हि केवलः।।
रजस्तमोऽनुवेधानां संख्यातीता तु या स्थितिः। उद्रेकोऽप्यनया सोऽयमतिवैचित्र्यमश्नुते।।
एकस्यापि कवेः काव्य-प्रबन्धे येन दृश्यते। बन्धभेदो मधूद्याने वृक्ष-श्री-भेदसोदरः।।
ततश्च प्रतिभाभेदोऽप्येकास्मिन्नपि दृश्यते। कवौ, किं विद्युदुद्योतः स्यात् सदैवैक-सौभगः।।
उपादानं निमित्तं च काव्याय प्रतिभैव सा। द्वितयं गर्भमात्रे यत् तस्यास्तिष्ठति तत् सदा।।
काव्यालङ्कारकारिका-द्वितीय अधिकरण-कारिका-11-19
2. सर्वेषामपि भावानां कलासु प्रतिभात्मता। प्रातिभ्रासिकसत्तात्मेत्युच्यतां दर्शनेषु सा।।
नाट्यानुशासन-पञ्चम उन्मेष-कारिका-55
3. शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य, कारणमिति मे मतिः।
शक्तिरत्र प्रधाना स्यात्, श्रमस्याप्युपयोगिता।।
काव्यसत्यालोक-पञ्चम उद्योत-कारिका-68

पूर्व परम्परा को ही अपनी कारिकाओं में निबद्ध कर विद्वान् आचार्य ने मम्मट प्रतिपादित काव्यकारण का अनुसरण किया है।[1] प्रो० शिवजी उपाध्याय ने काव्यकारण के सम्बन्ध में अपने मत को प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि कवि स्वयम्भू होकर अपनी प्रज्ञा (नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा) के द्वारा किसी चमत्कार जनक अनुत्तम तथा उत्तमोत्तम काव्य का सर्जन करता है।[2] डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित ने भी काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। उनका मानना है कि काव्य का एकमात्र कारण स्वगत प्रतिभा होती है, जो कवि को काव्यसर्जन के लिए प्रेरित करती है। वाच्यार्थबोध से आनन्दानुभावक वाक्यरूप काव्य की प्रमुख हेतु प्रतिभा है। कल्पना और उपयुक्त अभिव्यक्ति की सहज शक्ति को प्रतिभा कहते हैं। अमन्द अभ्यास, स्वाध्याय अथवा गुरुशिक्षा से उपयोगी शास्त्रों और काव्यों का ज्ञान तथा लोकानुभव-काव्यरचना के अन्य हेतु हैं। प्रतिभा होने पर इन हेतुओं में कवि की स्वतः प्रवृत्ति होती है। पशु-पक्षियों और स्त्री-पुरुषों के रूपों, स्वभावों और भावानुभाव का ज्ञान, विविध लोक व्यवहारों का ज्ञान और प्रकृतिगत सरित्पर्वतादि के रूपों का ज्ञान लोकानुभव कहलाता है। इन्हीं रूपादिवस्तुओं के रूपादिभावक और धार्मिकादि विचारों के मनः प्रेरक या अलंकृत सशब्द सौन्दर्य वर्णन से काव्य की रचना

---

1. प्रदर्श्यतेऽधुना काव्यकारणं विबुधैर्मतम्। येन वाग्वैभवं विद्भिर्विश्वेऽस्मिन् वै प्रतन्यते।।
भणता भामहेनाथ प्रतिभा काव्यकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्याससहिता नूनं तत्रैव संस्मृता।।
....
या मात्रावर्णवृत्तेषु सदैव समपेक्षिता। तथाभिधानकोशाद्धि स्यात्पदार्थविनिश्चयः।।
....
पूर्वाचार्य मतं नूनं पूर्णतः स्वीकृतं ततः। वृद्धसम्मतिरप्यत्र प्रमाणे सन्निवेशिता।।
मनः प्रसत्तिः प्रतिभा प्रातः कालेऽभियोगिता। अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः।।
अभिनवकाव्यप्रकाश-प्रथम उन्मेष-कारिका-260-319

2. स्वयम्भूकविरेकोऽसौ परिभूय मनीषया। काव्यमातनुते किञ्चिद् लोकोत्तरमनुत्तमम्।।
तदालोक वशाल्लोके कविकर्म प्रशस्यते। तद्वत्तल्लक्षणं तस्मात्काव्यत्वस्यप्रमापकम्।।
स्वीयप्रज्ञया नवनवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया परितः समन्ताद् भूत्वा परिव्याप्य लोकोत्तरवर्णनानैपुण्येनासौ जगद्विश्रुतएकोऽद्वितीयसंख्यावान् कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् किमपि लोकोत्तरं चमत्कारजनकमनुत्तममुत्तमोत्तमञ्च। काव्यं स्वकर्तृताविशिष्टं कर्मातनुते प्रसारयति।
साहित्यसन्दर्भ-काव्यस्वरूपविमर्शः-कारिका-11-12 तथा उसकी वृत्ति

होती है। कल्पना वह शक्ति है, जिससे विभिन्न वस्तुओं के रूपों का अस्थूल परिवर्तन और परस्पर आरोप किया जा सकता है, किन्तु अन्ततः जिससे वस्तुओं का केवल रूप निर्धारित होता है। प्रतिभा की भी कोटियाँ होती हैं, अन्यथा कविकोटि भेद न हों।[1]

डॉ० रमाशङ्कर तिवारी ने काव्य-कारण के सन्दर्भ में अपने मत को प्रकट करते हुए भारतीय विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों की विचार धाराओं का समन्वयीकरण किया है तथा बतलाया कि दैवी प्रेरणा को प्रथमतः काव्य रचना का हेतु प्राचीन आचार्यों ने माना है। क्योंकि वह प्रतिभा पदार्थ ही व्यञ्जित होकर तत्त्वतः काव्योद्भव का हेतुभूत है। वह एक पारमार्थिकी है तथा निश्चित ही लोक में भिन्नशः प्रकाशित होती है। कविकर्म की जननी प्रतिभा है। काव्यसुविज्ञ उसको ही शक्ति कहते हैं। वह मन की विशिष्ट दशा में अनपेक्षित क्षणों में उद्‌बुद्ध होती है। कुछ आचार्य उस एक के ही विविधत्व का भी कथन करते हैं, परन्तु उनके द्वारा की जाने वाली यह गणना युक्ति युक्त नहीं है। निर्मिति निपुण प्रज्ञा ही प्रतिभा है और वह समग्र काव्यलोक को प्रकाशित करती है। क्रान्तदर्शी कवि उसी के प्रसाद से अपने प्रजापतित्व की सिद्धि करते हैं। व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के हेतु नहीं हैं, अपितु वे काव्यसंरचना में प्रतिभा के उपकारक हैं। समाधि भी प्रतिभा पदार्थ को पुष्पित करती है उसकी पदवी को नहीं ग्रहण कर सकती है।[2] पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा को कल्पना बतलाया है। कतिपय आचार्य इसको सौन्दर्य-भोगिनी तथा उत्तराकल्पना भी कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान् कॉलरिज ने कल्पना के दो भागों का कथन किया है- (i)

---

1. काव्यतत्वविमर्श-पृ०-22 तथा काव्यात्मा-पृ०-322-23
2. दैवी प्रेरणा पूर्वं गण्यते स्म। हेतुः प्राच्यैः काव्यस्योत्पत्तौ।।
   व्यज्यते तेन हि प्रतिभापदार्थः। तत्त्वतो हेतुभूतः काव्योद्भावे।।
   सा एकैव पारमार्थिकी स्यात्। खलु प्रकाशते लोके भिन्नशस्तु।।
   प्रतिभा जननी कविकर्मणश्च। कथ्यते सैव शक्तिः काव्यसुविज्ञैः।।
   उद्‌बुध्यते सा ह्यनपेक्षितक्षणेषु। विशिष्यायां वा मनसो दशायाम्।
   विविधत्वं तस्या एके वदन्ति। नो युक्तियुक्तं तेषां विगणनम्।।
   निर्मितिनिपुणा प्रज्ञा हि प्रतिभा। प्रकाशयति काव्यलोकं समग्रम्।।
   क्रान्तदर्शित्वं सिध्यति कवीनाम्। तस्याः प्रसादेन प्रजापतित्वम्।।
   ननु व्युत्पत्तिः ह्यभ्यासो न हेतुः। प्रतिभाया उपकारकौ काव्यरचने।।
   समाधिरपि पुष्णाति प्रतिभापदार्थम्। नार्हति ग्रहीतुं पदवीं च तस्य।।
   काव्यतत्त्वविवेक-कारिकासंग्रह-कारिका-1-10 तथा पृ०-118-121

प्राथमिक (Primary) और (ii) उत्तरा (Secondary)। यवन कवियों ने कला और प्रतिभा को काव्य का कारण माना है तथा प्रतिभा और कला में भेद बतलाया है परन्तु भारतीय परम्परा इस भेद को नहीं मानती। रोमन आचार्य लोञ्जाइनस ने प्रतिभा और कला में समन्वय स्थापित करते हुए बतलाया है कि दोनों के संयोग से उदात्त की उत्पत्ति होती है। डॉ० तिवारी ने रामचरितमानसकार द्वारा विवेचित प्रतिभा के स्वरूप को भी उल्लिखित किया है। उनका कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्राच्य आचार्यों से भिन्न प्रकार से काव्योत्पत्ति का निरूपण किया है। गोस्वामी जी का मत है कि कवि का हृदय सिन्धु है, मति अथवा बुद्धि शुक्ति तुल्य है, शारदा (सरस्वती) स्वाति नक्षत्र हैं तथा श्रेष्ठ विचार ही श्रेष्ठ वारि (जलधारा) हैं। तुलसीदास जी ने निर्मितिशीला प्रतिभा के उद्रेक को व्यक्त करने के हेतु के रूप में सरस्वती की कृपा, हृदयस्थ बुद्धि तथा विचार को प्रतिपादित किया है।[1] रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने प्रस्तुत चौपाइयों में काव्यसर्जन की प्रक्रिया का वर्णन किया है-

> हृदयसिन्धु मति सीप समाना। कहहिं शारदा स्वाति सुजाना।
> जौं बरसई वर बारि विचारू। होहिं कवित मुकुतामनि चारू।।[2]

डॉ० शङ्करदेव अवतरे का मत है कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों के अविभाज्य योग से उदित होने वाली प्रतिभा ही काव्यनिर्माण में एकमात्र कारण है। जैसे ब्रह्म अनासक्त होकर भी जड़-चेतन प्रकृति में अन्तः प्रविष्ट रहता है, इसी प्रकार कवि का यह प्रतिभा रूप हेतु भी जड़-चेतन प्रकृति की अन्तर्यात्रा करने वाला होता है। इसके अनन्तर उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों का निरूपण करते हुए बतलाया कि काव्य के निर्माण में (मम्मटादि आचार्यों के द्वारा) संस्कार रूप कवित्व शक्ति, लोक-शास्त्र-काव्यादि

1. कल्पना प्रस्तूयते शास्त्रगणने। पाश्चात्त्यैः खल्विव तुल्यवृत्तिः।
   प्रतिभायास्तु प्रवरकाव्यरचने।।
   सौन्दर्यभोगिनी तूच्यते स्म। उत्तरा कल्पना कतिपयैश्च।।
   कला ह्यश्नुते गौरवं हेतुतायाः। प्रतिभान्तरेण यवनचिन्तने वा।।
   लोञ्जाइंसेन समाधीयते स्म। द्वन्द्वं प्रतिभाकलयोरुदात्ते।।
   तुलसीदासो निरूपयति काव्यजन्म। भिन्नशः प्राच्याचार्येभ्यः।।
   हृदयमतिविचारसंश्लेषः प्रसूते। कवितामुक्तावलिं वाक्प्रसादे।।
   काव्यतत्त्वविवेक-कारिकासंग्रह-कारिका-11-16 तथा पृ०-121-125
2. रामचरितमानस-बालकाण्ड-दोहा-10 की चौपाई-4-5

के सम्बन्ध में निपुणता और काव्यमर्मज्ञ विद्वानों के द्वारा दी गई शिक्षा के अनुरूप सतत अभ्यास, ये तीन बातें अविभाज्य रूप से एकमात्र कारण के रूप में स्वीकार की गई हैं। कवित्व शक्ति को प्रतिभा के रूप में, लोक-शास्त्र-काव्यादि के सम्बन्ध में निपुणता को बहुश्रुति(बहुश्रुत होने) के रूप में और शिक्षापूर्वक अभ्यास को अमंद अभियोग के रूप में (दण्डी आदि के द्वारा) अभिहित किया गया है। यहाँ विद्वानों के बीच इतना ही मतभेद है कि अधिकांश विद्वान् उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के एकीकृत रूप को एक ही कारण के रूप में काव्य का बीज मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे-घट के निर्माण में दण्ड चक्र आदि समष्टि रूप में कारण की एकता का प्रख्यापन करते हैं। इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का मानना है कि उपर्युक्त तत्त्वों में से किसी एक या दो के संयोग से भी काव्यरचना सम्भव हो सकती है, ठीक उसी प्रकार-जैसे अग्नि की उत्पत्ति तृणों से भी हो सकती है, अरणी (शीशम की लकड़ी से निर्मित) से भी हो सकती है और मणि (आतिशी शीशा) से भी हो सकती है। तीसरे विद्वान् वे हैं, जो प्रतिभा जैसे कारण के भीतर ही सभी प्रकार के ज्ञान का और अभ्यास का भी संस्कार मानते हैं। अतः इन विद्वानों की मान्यता उसी प्रकार ग्राह्य है, जैसे त्रित्वान्वयी के रूप में काव्यहेतु वाले मम्मट आदि की, क्योंकि ये प्रतिभा जैसे काव्यहेतु के भीतर ही निपुणता और अभ्यास के अपेक्षित अर्थों का संग्रह कर लेते हैं। सुखद आश्चर्य की बात यह है कि पाश्चात्यकाव्यशास्त्रियों ने भी काव्यनिर्माण के हेतु के रूप में या तो कवि की प्राकृतिक (सहज) प्रतिभा को बीज के रूप में स्वीकारा है, या फिर प्रतिभा (कवित्वशक्ति), नियमबोध (निपुणता) और अनुशीलन (अभ्यास) के रूप में त्रित्वान्वयी को काव्य-हेतु माना है।[1]

---

1. काव्ये त्रित्वान्वयी हेतुः प्रतिभानामकः कवेः।
   प्रकृत्यन्तः प्रवेशार्होऽप्यसक्तस्येव वेधसः।।
   शक्तिर्निपुणताभ्यासस्त्रिकं काव्यस्य कारणम्।
   प्रतिभाश्रुत्यभियोगपर्यायेणापि तद् विदुः।।
   दण्डचक्रादिकन्यायात् तत् त्रिकमेककारणम्।
   तृणारणीमणिन्यायात् केचिदाहुः पृथक्-पृथक्।।
   अतिव्यापि किमप्येकं वदन्तः काव्यकारणम्। अपि विद्वद्वरा ग्राह्याः सापेक्षार्थस्य संग्रहात्।।
   सहजा प्रतिभा काव्यहेतुस्त्रित्वान्वयी तथा केवलं शब्दभेदेन पाश्चात्त्यैरपि मन्यते।।
   अभिनवकाव्यशास्त्रम्-द्वितीय आयाम-काव्यप्रक्रिया-सूत्र-15-16 तथा कारिका- 53-57

प्रो० अमरनाथ पाण्डेय ने प्रतिभा को काव्य का हेतु माना है तथा अपनी कारिकाओं में प्रतिभा के महत्व का प्रतिपादन किया है। काव्यसिद्धान्तकारिका नामक अपनी कृति के प्रारम्भिक पाँच पद्यों में कवि ने प्रतिभा विस्तार के लिए भगवान शिव-शक्ति, देवी सरस्वती तथा देवताओं से प्रार्थना की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने कल्पना को महत्व प्रदान किया है, कवि ने उस कल्पना की व्याप्ति को आरेखित करते हुए बतलाया है कि सत्कल्पना क्या-क्या नहीं साधती। इस प्रकार कल्पना के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कवि ने राजशेखरादि कवियों द्वारा स्वीकृत समाधि की भी चर्चा की है। उनका मत है कि अन्तर प्रयत्न समाधि और बाह्य प्रयत्न अभ्यास दोनों शक्ति को उद्भासित करते हैं जैसा कि राजशेखर ने भी प्रतिपादित किया है।[1]

---

1. शिवं स्तुवाना सुषमां दधाना नवार्थरीतिश्च सदाश्नुवाना।
परप्रकाशैः सुभगैर्विलासैर्देवी हितं मे प्रतिभा तनोतु।।
परप्रसादो महितो हितो मे सर्वस्वमूलं ललिते निकामम्।
अपास्य सर्वं दुरितं तमांसि चित्तप्रसादं त्वरितं तनोतु।।
देवैः स्तुता कर्मणि योजयन्ती सृष्टेः सतत्त्वं कलया दिशन्ती।
आनन्दसिन्धौ मुदिता शिवेन काव्यं शिवं मे प्रतिभा तनोतु।।
चित्तस्य मोहं प्रभया व्यपोह्य लोकाय चैतन्यमनन्तबोधम्।
प्रदाय दृष्टिं विमलां कविभ्यः सा देवता मे हृदये विभातु।।
काव्यस्य पन्था नितरां निगूढः प्रकाशितो मे हृदये प्रसन्ने।
पदं विधत्ता सृतये कवीनां सतां मुदे शाश्वतपारमेष्ठ्यम्।।
प्रभावितानैः सुकुमारकान्तिर्भावैरजस्रैर्विपुलं समृद्धा।
दिवं धरित्रीं परिव्याप्य चारुः सा कल्पना काव्यमलङ्करोतु।।
पदे पदे प्रीतिरसं क्षरन्ती लावण्यपूरं ललनां दुहाना।
निर्व्याजमाप्यायनभावनाभिर्नित्यं रहस्यं विशदी करोति।।
वक्ता रहस्यस्य तथासमश्च श्रोता समानाध्वनि जागरूकौ।
प्रीत्यै क्रमेते परयोर्विलासेऽतिक्रम्य लीलामपि वेधसोऽपि।।
अनागतं भूतमनन्तमर्थं धिया विशेषं सुरां वगाह्य।
निर्माति भूयिष्ठमशेषचित्रं विश्वं नवं कल्पनयाचिरेण।।
रूपं यथा भाति विशुद्ध चित्ते तथैव काव्ये फलति प्रभावात्।
विम्बं विकल्पानतिशय्य साक्षादुदेति कश्चिन्मनुते मनीषी।।
अर्थाः समाधौ निपुणं निरीक्ष्य काव्येऽर्पिताः सन्ततसाधनाभिः।

कवि ने पुनः अग्रिम कारिकाओं में प्रतिभा के विस्तृत स्वरूप को विवेचित करते हुए उसे आनन्दसिन्धु की जननी बतलाया है। कवि अपने चित्त में कवित्व के रहस्य को किस प्रकार जान लेता है। इन सब बातों का विवेचन कवि ने 31 से 43 तक की कारिकाओं में किया है।[1]

आरुह्य भूमिं खलु भावयन्तो बुधास्त एव प्रथिता जगत्याम्।।
न तादृशं काव्यमनल्पवित्तं चित्तं स्वभावात् स्ववशे करोति।
यथा गुणैः सा प्रतिभा कवीनां चित्तं चरित्रं प्रकटीकरोति।।
काव्यसिद्धान्तकारिका कारिका-1-12 (अजस्रा-जनवरी-अप्रैल-2001)

समाहितानां कविता कवीनामानन्दसिन्धोर्जननी प्रतीता।
चित्तं स्थिरं वेत्ति कवे रहस्यमसंस्तुतं तत्सकलं रुणद्धि।।
व्युत्पत्तिमश्रान्तमपूर्ववोधमुद्घाट्य लोकस्य परं रहस्यम्।
चित्तस्य भित्तावमलं चरित्रं सनातनं चित्रयति क्षणेन।।
प्रत्नापि नूत्नापि कथाप्रवृत्तिरुच्छ्वासमानैः कुतुकं तनोति।
सर्गैः प्रसङ्ग निपुणं ग्रथित्वा भाषाञ्जलिं कोऽपि पुरस्करोति।।
चित्ते विशुद्धे समुदेति वस्तु काव्ये निबद्धं हितमातनोति।
काव्यस्य रीतिर्वितता धरायां विभाव्यते भावनया बुधेन।।
काव्यप्रभावो मनसो विकारमुच्छिद्य मोहं प्रकटीकरोति।
कार्यद्वयं काव्यविधाननिघ्नं प्रकाशितं वर्त्मनि सत्कवीनाम्।
ईर्ष्यादिदोषैर्मलिना न शक्ताः काव्यानि कर्तुं न समीक्षितुं च।
यथा कथञ्चिद् विहितः प्रयत्नः फल्गुर्भवत्याशु विनाशमेति।।
स्फुरद्भिमर्शैरमिता कवीनां शक्तिर्विचित्रोल्लसति स्वभावात्।
सत्काव्यलाभाद् विवुधा विवेक्तुं वस्तूनि लोके प्रभवन्ति नित्यम्।।
काव्यस्य बोधो नितरामुदात्तो रीतिर्निगूढा खलु दर्शनस्य।
पदे पदे स्पन्दमनोरमा चित् पुष्णात्यपूर्वांसुषमां प्रतीकैः।।
पुरेतिवृत्तं पुरुषार्थरीतिं सम्यग् विभाव्यालिखितः प्रवोधः।
काव्यं प्रणीतं विदुषां प्रतीत्यै प्रीत्यै सदा दोग्धि हितं चरित्रम्।।
नद्यः समुद्रा गिरयो विभावैः काव्ये स्थिताः पुष्कलमद्भुतानि।
चित्राणि संयोज्य समर्पयन्ति सनातनं गौरवमुन्मयूखम्।।
कार्यस्य सिद्धो प्रभत्यशेषे शास्त्रे सतां ज्ञापकमञ्जसैव।
तत्त्वानुरोधात् सुधियो व्यवस्थां यथाप्रसङ्गं समुदाहरन्ति।।
सतः प्रयोगो विशदैः पदैश्च सद्भिर्विमृष्ये नियमेन रीत्या।
प्रीतिश्च कान्तिं परितो वितीर्य प्रीणाति चित्तं खलुमङ्गलाय।।

अग्रिम कुछ और कारिकाओं में अन्तः प्रयत्न समाधि तथा बाह्य प्रयत्न अभ्यास के द्वारा शक्ति किस प्रकार उद्भासित होती है और सरस्वती कृपा तथा भक्ति आदि किस प्रकार काव्य के कारण हैं, कवि ने इसका स्पष्टीकरण 44 से 49 तथा 74 से 77 तक के पद्यों में किया है।

प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने शक्ति निपुणता तथा अभ्यास विशिष्ट को काव्य का हेतु माना है तथा कहा कि कवि इन्हीं के द्वारा चमत्कार सुवासित काव्य की रचना करता है। कवि ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को प्रज्ञा बतलाया है, जो स्फुरणात्मिकी होकर उस चमत्कृति को प्रकट करती है। यदि कवि के अन्दर प्रतिभा गुण है तो काव्यार्थ का विराम नहीं होता है। यदि उसका अभाव है तो काव्यनिर्माण कार्य असम्भव होता है। शक्तिजात चमत्कार से सभी अर्थ प्रवर्तित होते हैं। इसके सम्पर्क से ही काव्य 'काव्य' कहा जाता है। शक्ति व्युत्पत्ति के अभाव में जो शब्दों का विनियोजन होता है, वह प्रक्लिष्यर्थ है, विद्वान् उसे काव्य नहीं कहते। अव्युत्पत्ति के कारण उत्पन्न दोष कवि के शक्ति बल से छिप जाता है। परन्तु कवि की अशक्ति से उत्पन्न दोष शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है। प्रस्तुत विवेचन में प्रो० वेदालङ्कार ने ध्वन्यालोककार का अनुसरण किया है। व्युत्पत्ति अभ्यास व्यर्थ है तथा शब्द लीला से क्या लाभ है? यदि काव्य में वह चमत्कारी प्रतिभा अल्पमात्रा में भी नहीं प्रदर्शित होती है। कवि शक्ति से समुद्भूत, कौतुकगन्ध से समन्वित, चमत्कार से समाकीर्ण काव्य किसको रुचिकर नहीं होता। सूक्ति, गीत, वाद्य और नायक-नायिकाओं की लीला तब काव्यास्वादकर होती है, जब उनकी प्रतिभायुक्त प्रस्तुति होती है। चमत्कारमयी वाणी को सुनकर उससे अन्वित रुपक को देखकर जिसके अन्दर आह्लाद नहीं उत्पन्न होता, वे लोग शुष्ककाष्ठवत् होते हैं। प्रतिभा कवियों का निष्कलङ्क आभरण है, ऐसा प्रो० वेदालङ्कार का मत है। उससे अयुक्त अकवि तथा युक्त महाकवि कहे गये हैं।[1]

निसर्गशोभा ललितं निबद्धा काव्ये विशेषं सृजति प्रभावात्।
प्राचां कवीनां कृतिषु प्रसन्ना निसर्गवीथी विभवैर्विभाति।।
काव्यसिद्धान्तकारिका-कारिका-31-43 (अजस्त्रा-जनवरी-अप्रैल-2001)

1. शक्ति निपुणताभ्यासैर्विशिष्टैः काव्य हेतुभिः।
कविना तन्यते काव्यं चमत्कार सुवासितम्।।

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने काव्य का कारण जागरिता प्रतिभा को माना है। जागरिता प्रतिभा का तात्पर्य स्पन्दनशीला से है। उनका मत है कि यद्यपि प्रतिभा सर्वजनीना होती है फिर भी स्पन्दन कविप्रतिभा का स्वभाव है। कविस्वभाव ही प्रतिभा है तथा कवि का यह स्वभाव तीन प्रकार का होता है- सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक। प्रो० त्रिपाठी ने प्रतिभा के दो भेद बतलाये हैं- संस्काररूपा और जागरिता। इनमें से प्रथम चिदंश भूत समस्त संसार में सर्वत्र व्याप्त है। यह प्रतिभा अविचारित रूप से व्यवहार करती हुई सभी जन्तुओं में विद्यमान है।

आचार्य का मत है कि काव्य घटनानुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति जागरण है। जागरण में हेतु होते हैं- गुरु उपदेश, लोकशास्त्र अवेक्षण, काव्याभ्यास,

---

प्रज्ञा सा प्रतिभा प्रोक्ता नवोन्मेषणशालिनी।
या स्फुरणात्मिकी भूत्वा व्यनक्ति तां चमत्कृतिम्।।
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः।
तदभावे च न भूयात्काव्यनिर्माणसम्भवः।।
शक्तिजाच्च चमत्कारात् सर्वोऽप्यर्थः प्रवर्तते।
एतत्सम्पर्कमासाद्य काव्यं काव्यमुदीर्यते।।
शक्तिव्युत्पत्त्यभावे यच्छब्दानां विनियोजनम्।
प्रक्लिष्यर्थकमेतन्न काव्यं सूरिभिरुच्यते।।
अव्युत्पत्तिभवा दोषःशक्त्यैवाव्रियते कवेः।
किन्त्वशक्तिकृतो दोषः शीघ्रमेव प्रतीयते।।
व्युत्पत्त्यभ्यासवैयर्थ्यं को लाभः शब्दलीलया।
काव्ये यदि मनाङ् नास्ति प्रतिभा सा चमत्करी।।
कविशक्त्याः समुद्भूतं कौतुकगन्धसमन्वितम्।
चमत्कारसमाकीर्णं काव्यं कस्मै न रोचते।।
सूक्तिर्गीतञ्च वाद्यं च लीलाश्च कान्तकान्तयोः।
काव्यास्वादकरं सर्वं प्रातिभी प्रस्तुतिर्यदि।।
चमत्कारमयीं वाचं तदन्वितञ्च रूपकम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न हृष्यन्ति काष्ठकुड्यनिभा जनाः।।
प्रतिभैव कवीनां साऽनर्घमाभरण मतम्।
तदयुक्तोऽकविः प्रोक्तस्तद्युक्तश्च महाकविः।।

चमत्कारविचारचर्चा-प्रथम विचार-कारिका-11-21

काव्यगोष्ठी, सहृदयों की सङ्गति, प्रसङ्गविशेष अथवा घटना विशेष। यह कवित्व शक्तिरूपा प्रतिभा काव्यानुकूल शब्दार्थ ज्ञान और अभ्यास को स्वयं आत्मसात करती है। कहीं तो प्रथम बीजभूता प्रतिभा के द्वारा भी काव्याङ्कुर की उत्पत्ति होती है। व्युत्पत्ति उसका पूरक है तथा अभ्यास के द्वारा उसका परिष्कार होता है।[1]

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने प्रतिभा को देवप्रदत्त बतलाया है। उनका मत है कि शक्ति रूपा चिरन्तनी प्रज्ञा ही कवित्व का बीज है, जो निर्मल एवं जन्मजन्मान्तरोपात्त संस्कारों का प्रसवभूत होती है। जैसे मिट्टी, जल तथा वायु के सद्भाव रहने पर भी, पृथ्वी के गर्भ में बिना बीज निक्षिप्त किये, अंकुर कभी उग नहीं पाता। ठीक उसी प्रकार निरन्तर, बार-बार अभ्यास करते रहने पर भी तथा सैकड़ों शाखाओं वाले अत्यन्त विस्तृत शास्त्रों का पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी, एक प्रज्ञा (प्रतिभा) के अभाव मे कवित्व का बीज अंकुरित नहीं हो पाता। विद्वानों के द्वारा बतलायी गयी यह सच्चाई पत्थर पर खिंची लकीर मान लेनी चाहिए। कविप्रतिभा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रो० मिश्र ने अपने द्वारा रचित ग्रन्थ अरण्यानी के पद्य को भी प्रस्तुत किया है, जिसमें वे कहते हैं कि मैं स्वयं कविता नहीं लिखता वस्तुतः स्वयं भगवती शारदा ही मेरी कविताई के बहाने अपने को इस संसार में प्रकाशित करती हैं। कमल पुष्प अपने व्यक्तिगत प्रभाव से परिमल नहीं बिखेरता है। वह सब तो बस, दिवसलक्ष्मी का

---

1. जागरिता प्रतिभा तस्य कारणम्।। 1/3/1
तस्य कारणं जागरिता प्रतिभा। जागरिता स्पन्दशीला। यद्यपि प्रतिभा सर्वजनीना, स्पन्दस्तु कविप्रतिभायाः स्वभावः। कविस्वभाव एव तत्प्रतिभा। स चायं कविस्वभावस्त्रिविधः-सुकुमारो, विचित्र उभयात्मकश्च। प्रतिभा द्विविधा भवति-संस्काररूपा, जागरिता च। संस्काररूपा प्रतिभा चिदंशभूता चराचरात्मके समस्तेऽपि जगति सर्वत्र व्याप्ता। इयं प्रतिभा अविचारितं व्यवहरन्ती सर्वेषु जन्तुषु विद्यमाना। काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिर्जागरणम्। जागरणे च हेतवोभवन्ति-गुरुपदेशः .... क्वचित्तु प्रथमं प्रतिभया वीजभूतया काव्याङ्कुरोत्पत्तिः, व्युत्पत्त्या तस्य पूर्तिरभ्यासेन च तत्परिष्कारः।
अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र- अधिकरण-1-अध्याय-3-सूत्र-1 तथा उसकी वृत्ति।

विस्फूर्जन है। प्रो० मिश्र का मानना है कि भगवती सरस्वती की कृपादृष्टि के बिना कवि काव्यरचना नहीं कर सकता। वह जो कुछ करता है उस सब का मूल कारण दैवीप्रसाद है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कवि ने बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते के एक पद्य को भी उद्धृत किया है, जिसमें कवि कह रहा है कि थोड़ा बहुत आगम वाङ्मय से परिचित लोग कविता लिखा करें, चिरपरिचित उन-उन भावों को नये-नये रूपों में ढालते हुए। परन्तु क्षीरसागर की लहरियों के समान स्निग्ध, द्राक्षामयी कविताझरी की रचना कराने के लिए तो हे मृडानी! तुम्हारी कृपादृष्टि ही समर्थ है।[1]

प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने काव्य के कारण पर अपना मत व्यक्त करते हुए बतलाया कि काव्य के उपयोगार्थ शब्द और अर्थ की प्रतिभामयी उपस्थिति, निपुणता तथा लोकशास्त्र आदि विधाओं का ज्ञान काव्यरचना में कारण हैं।[2]

इस प्रकार अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने अपने-अपने

---

1. प्रज्ञा बीजं कवित्वस्य शक्तिरूपा चिरन्तनी।
जन्मजन्मान्तरोपात्त संस्कार प्रसवाऽमला।।
मृत्तिकाजलवायूनां सद्भावेऽपि यथाङ्कुरः।
वीजेऽसति धरागर्भे नैव जातु प्ररोहति।।
तथैवाऽचरितेऽभ्यासे भूयोभूयोऽप्यनारतम्।
लब्धेऽपि शास्त्रपाण्डित्ये शतशाखेऽतिविस्तृते।।
प्रज्ञां बिना कवित्वस्य वीजं नैव प्ररोहति।
सत्यमेतद्दृषद्रेखाकल्पमूह्यं मनीषिभिः।।
नाहं करोमि कवितामिह शारदैव साऽऽत्मानमञ्जयति मत्कवनच्छलेन।
गन्धं तनोति जलजं न निजप्रभावाद् विस्फूर्जितं सकलमेव तदर्कलक्ष्म्याः।।
कवयतुतरां लोकः किञ्चित्कृतागमसञ्चरः
परिचितधरानर्थनेतान् नवानिव भावयन्।
जनयितुमलं स्निग्धां दुग्धाम्बुधेरिव वीचिका
शिवसति भवद्वीक्षा द्राक्षामयीं कविताझरीम्।।
अभिराजयशोभूषणम्-प्रथमोन्मेष-काव्यहेतु प्रकरण-पृ०-36-37
2. काव्योपयोगिशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभामयी।
नैपुण्यं लोकशास्त्राणां विधाज्ञानं च कारणम्।।
दूर्वा- द्वितीयोन्मेष (अप्रैल-मई-जून-2005)-पृ०-93

ग्रन्थों में काव्य के कारण पर विचार-विमर्श किया है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण हैं। इन्हीं तीनों का कथन प्राचीन परम्परा के आचार्यों ने किया है। इस शताब्दी के आचार्यों ने भी इन्हीं तीनों को ही काव्य का कारण माना है। परन्तु पूर्वाचार्यों की ही भाँति इन आचार्यों में भी किन्हीं ने प्रतिभा को मुख्य कारण मानकर व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका सहायक प्रतिपादित किया है तो किन्हीं ने तीनों की पारस्परिक आवश्यकता पर बल दिया है।

तृतीय अध्याय

काव्यस्वरूप, काव्यभेद एवं शब्दार्थशक्ति विवेचन

(1) काव्यस्वरूप

काव्य-समालोचना के आरम्भ से ही काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा काव्य की परिभाषा पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था। काव्यत्व का अधिवास किसमें सन्निहित है? इस तथ्य को दृष्टि में रखकर विभिन्न आचार्यों ने काव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। आचार्य भरत एवं भामह से लेकर अद्यतन काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार काव्यलक्षण प्रस्तुत किये हैं तथा प्रस्तुत कर रहे हैं।

काव्य क्या है? प्रस्तुत विषय को संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने दो प्रकार से समझाने का प्रयास किया है। प्रथमतः कविव्यापार की दृष्टि से तथा द्वितीय लक्षण निर्देश के माध्यम द्वारा। कविव्यापार दृष्ट्या काव्य की व्युपत्ति करते हुए काव्यमीमांसाकार राजशेखर कहते हैं-कवि शब्दस्य 'कवृ' वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणा रूपम्।[1] कवि शब्द की व्युत्पत्ति 'कवृ' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है-काव्यकर्म। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि कवनीयम् इति काव्यम्।[2] रचना-व्यापार ही काव्य है। आचार्य मम्मट ने कहा है कि लोकोत्तर वर्णनानिपुण कविकर्म काव्यम्।[3] लोकोत्तर आनन्द

---

1. काव्यमीमांसा-तृतीय अध्याय
2. अभिनवभारती के तीन अध्याय
3. काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास

की प्राप्ति कराने वाली कवि की भाषिक अभिव्यक्ति ही काव्य है। एकावलीकार आचार्य विद्याधर का कथन है कि कवयतीति कविः, तस्य कर्म काव्यम्।[1] काव्य-रचनाकार कवि कहलाता है। कविकर्म ही काव्य है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्टगोपाल ने काव्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि कौ इति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः। तस्य कर्म काव्यम्।[2] रस, भाव, व्यापार आदि को शब्दादि के माध्यम से जो व्यक्त करता है, उस कविकर्म को काव्य कहा जाता है।

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय आचार्यों की परम्परा द्वारा कविकर्म को काव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। कवि अपनी प्रतिभा द्वारा रस-गुण-अलङ्कारान्वित जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है, वह काव्य है।

(क) पारम्परिक मत

यद्यपि काव्यलक्षण के सन्दर्भ में सबसे प्राचीन अभिमत आचार्य भामह का माना गया है, परन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य के लक्षण की ओर संकेत करते हुए काव्यरचना के निमित्त मृदु ललित पद संयोग, क्लिष्ट शब्दों का अभाव, दृश्य के लिए सुखात्मक अर्थ प्रतीति एवं रसान्विति आदि तत्त्वों को परिगणित किया है। उन्होंने अक्षरशः काव्य की कोई परिभाषा नहीं प्रस्तुत की। अतः इस विषय को परिभाषित करने वाले प्रथम आचार्य भामह हैं। आचार्य भामह ने काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि "शब्द और अर्थ का सहभाव" ही काव्य है और वह गद्य तथा पद्य के भेद से दो प्रकार का होता है।[3] भामह के बाद आचार्य दण्डी ने काव्य का लक्षण करते हुए कहा कि दृष्ट या चमत्कृत अर्थ से पूर्ण पदावली काव्य का शरीर है। उनका मानना है कि मनोरम हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली-शब्द-समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य का

---

1. एकावली-प्रथम उन्मेष
2. भारतीय काव्यशास्त्र-योगेन्द्रप्रताप सिंह-पृ०-105 से उद्धृत
3. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
काव्यालङ्कार- प्रथम परिच्छेद - कारिका - 16

शरीर कहलाते हैं।[1] आचार्य वामन ने स्वतन्त्र रूपेण काव्य का लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु रीति विवेचन के सन्दर्भ में उन्होंने काव्य के लक्षण की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि काव्य अलङ्कार के ही कारण ग्रहणीय है और सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में यह सौन्दर्य दोष परिहार तथा गुण ग्रहणीयता के द्वारा समुत्पन्न होता है। गुण तथा अलङ्कार युक्त शब्दार्थ ही काव्य कहलाता है, यद्यपि गौण वृत्ति के कारण मात्र शब्दार्थ को ही भले काव्य की सञ्ज्ञा दे दी जाए।[2]

आचार्य रुद्रट ने शब्द और अर्थ को ही काव्य माना है।[3] आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तत्व ही काव्य का लक्षण है।[4] आचार्य जयदेव का मानना है कि पद ,पदांश, वाक्यार्थ और रसगत काव्यदोषों से रहित, वक्ष्यमाण लक्षणों से युक्त, पाञ्चाली, लाटी, गौडी, वैदर्भी नामक काव्य की रीतियों से विभूषित, शब्दार्थगत अलङ्कार से चमत्कृत, शृङ्गारादि रसों से सुशोभित तथा अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों से सम्बद्ध वाक्य को काव्य कहते हैं।[5] आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्द तथा अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न कविव्यापार से शोभित काव्यतत्त्वज्ञों को आनन्दित करने वाले काव्य में विशेष रूप से स्थित सहभाव से युक्त शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते

---

1. तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
   शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।।

   काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद - कारिका - 10
2. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।
   काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वतते।
   भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।।

   काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति- प्रथम अधिकरण - प्रथम अध्याय - सूत्र-1
3. शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालङ्कार-अध्याय-2- कारिका - 1
4. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।

   ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका 1 की वृत्ति
5. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
   सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।।

   चन्द्रालोक-प्रथम मयूख-कारिका - 7

हैं।[1] आचार्य भोज का मन्तव्य है कि दोष रहित, गुण समन्वित, अलङ्कारों से विभूषित तथा रसपेशल काव्य की रचना करता हुआ कवि यश, आनन्द तथा प्रीति को प्राप्त करता है।[2] आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि दोषों से रहित, गुणयुक्त, साधारणतः अलङ्कार सहित, परन्तु कहीं-कहीं अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य बतलाया है।[4] पण्डितराजजगन्नाथ का मानना है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध हो, वह शब्द काव्य कहा जाता है।[5]

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा के आचार्यों ने काव्यलक्षण के विवेचन में अपने-अपने अभिमतों को प्रस्तुत किया है। काव्यसमीक्षकों की इस पूर्व परम्परा के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई काव्यलक्षण की विवेचना को काव्यतत्वज्ञों द्वारा तीन वर्गों मे विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग, विशिष्ट शब्दार्थ युगल को काव्य मानने वाले भामह, वामन तथा मम्मट आदि का है। द्वितीय वर्ग में केवल शब्द को काव्य माना गया है, जो विशिष्ट अर्थ से सम्पन्न होता है। इसमें दण्डी तथा पं० राज जगन्नाथ प्रभृति आचार्य हैं। तृतीय वर्ग में रस से सम्भृत वाक्य को काव्य मानने वाले आचार्य हैं, जिनमें भोज, जयदेव तथा विश्वनाथादि आचार्यों को रखा गया है।

(ख) अर्वाचीन मत

जिस प्रकार इन पूर्वाचार्यों ने काव्यलक्षण के विवेचन में अपने-अपने

---

1. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।
   वक्रोक्तिजीवित-प्रथम उन्मेष-कारिका - 7
2. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।
   सरस्वती कण्ठाभरण - प्रथम परिच्छेद - कारिका - 4
3. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
   काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका - 4
4. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
   साहित्यदर्पण-प्रथम परिच्छेद- कारिका - 3
5. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगङ्गाधर-प्रथम आनन-कारिका - 7

मतों का प्रस्तुतीकरण किया है, उसी प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यस्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने भी अपनी-अपनी मौलिक काव्यशास्त्रीय कृतियों में काव्यलक्षण पर गम्भीरता पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। क्रमशः इन आचार्यों की अवधारणाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है।

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने आचार्य मम्मट प्रतिपादित काव्यलक्षण तद्दोषौशब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि तथा आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित वाक्यं रसात्मकं काव्यं का ही समर्थन किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपना कोई विचार नहीं प्रस्तुत किया है, प्रत्युत दोनों पूर्वाचार्यों के लक्षणों को अपनी कृति में उसी रूप में उद्धृत कर दिया है।[1] श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा ने समस्त पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षणों की समीक्षा करते हुए प्रतिपादित किया कि सहृदयहृदयाह्लादकारक शब्दार्थ काव्य कहलाता है। इन्होंने आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराजजगन्नाथ की परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने मत का प्रस्तुतीकरण किया है।[2]

सर्वेश्वर कवि विरचित साहित्यसार नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें आचार्य ने यद्यपि स्वतन्त्र रूप से काव्य का लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है तथापि सदैव मृदु पदों से न्यस्त, रस और अलङ्कार से समन्वित कवि की गिरा को ही काव्य बतलाया है।[3] आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने रमणीयता सम्पन्न शब्दार्थ युगल को काव्य माना है। उनका मत है कि न तो केवल कमनीयता पूर्ण शब्द ही काव्य हो सकता है और न केवल वाक्यार्थ चमत्कारी अर्थ ही।[4] इस प्रकार आचार्य ने अपने काव्यलक्षण प्रतिपादन में भामहाचार्य की परम्परा का परिपोष किया है।

---

1. साहित्यमञ्जरी – सामान्य प्रकरण
2. तस्मात् 'सहृदयाह्लादकरौ शब्दार्थौ' काव्यमिति लघुभूतं, निष्कृष्टञ्च।
   साहित्यविमर्श – द्वितीय परिच्छेद
3. सदा मृदुपदन्यासास्सालङ्कारा रसावहाः। प्रगल्भा इव कामिन्यो जयन्त्यादिकवेर्गिरः।।
   साहित्यसार–प्रथम प्रकाश–कारिका–1
4. रम्यं शब्दार्थ युगलं काव्यमस्माभिरिष्यते।
   रम्यताऽऽलौकिकाह्लाद–जनिका तत्र मन्यताम्।।
   साहित्यबिन्दु–प्रथम बिन्दु–कारिका–5

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यलक्षण पर अपनी सूक्ष्मेक्षिका प्रतिभा का परिचय देते हुए बतलाया कि यह जो पूर्णता (गुणों) से युक्त (संवित = चेतना) भावना नामक नववधू है, यही विच्छित्तिसम्पन्ना अर्थात् अलङ्कारयुक्ता होने पर कविता का रूप ग्रहण करती है। काव्य का जो प्रभाव सामाजिक की चेतना पर पड़ता है, वह रस होता है और वह काव्य का धर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि काव्य और सामाजिक ये दोनों भिन्न रूप वाले होते हैं। सामाजिक द्रव्य होता है जबकि काव्य है ज्ञान अर्थात गुण। तब किसी अन्य में रहने वाला धर्म उससे भिन्न अन्य का धर्म कैसे होगा? काव्य को ज्ञान रूप मानने पर उसके साथ रसयोग भी सम्भव सिद्ध होगा, क्योंकि रस भी ज्ञान के ही समान केवल चिदात्मा हुआ करता है। अतः कवि का मन्तव्य है कि ज्ञान को चित्तवृत्ति रूप मानने पर भी रसक्षति नहीं होगी, क्योंकि कुछ मम्मट आदि आचार्य चित्तवृत्ति को ही रस मान बैठे हैं।[1]

पुनः अग्रिम कारिकाओं में प्रो० द्विवेदी काव्य और रस के एकत्व को स्थापित करते हुए कहते हैं कि आत्मा है समुद्र, काव्य है मत्स्य, रस है जल। अतः रस को काव्य में आने से कौन रोक सकेगा, मत्स्य में जल के पहुँचने के समान। इसलिए ऐसा मानने पर काव्य और रस का धर्म-धर्मिभाव उलट जाएगा, रस में काव्य सिद्ध होगा, न कि काव्य में रस अर्थात् धर्मी रस बनेगा और धर्म बनेगा काव्य। अतः इससे बचने का कोई मार्ग नहीं होगा। इस प्रकार

---

1. या चैषा पूर्णता-युक्ता सम्वित्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्ति-सम्पन्ना काव्यभावं प्रपद्यते।।
प्रभावो यस्तु काव्यस्य सामाजिकचिति स्थितः।
स रसः, स न काव्यस्य धर्मतां प्रतिपद्यताम्।।
काव्यं सामाजिकश्चेति भिन्नरूपावुभावपि।
अन्य-स्थितस्य धर्मस्य कथं स्यादन्यधर्मता।।
काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे रसयोगोऽपि युज्यते।
ज्ञानस्यापि रसस्येव चिदात्मैकात्म्यदर्शनात्।।
ज्ञानस्य चित्तवृत्तित्वेऽप्यस्ति नैव रसक्षतिः।
रत्यादेश्चित्तवृत्तेर्हि रसत्वेनाऽभिमानतः।।
काव्यालङ्कारकारिका-एकादश अधिकरण- कारिका- 230-234

आचार्य द्विवेदी ने अपनी कारिकाओं में अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि काव्य ज्ञान है, अलंकार उसकी आत्मा है, उसमें बिना व्यभिचार के उपाधि बनती है मध्यमा संवित, किन्तु वाक्तत्त्व के ज्ञाता के लिये। इस प्रकार कवि ने काव्य को वृष्टि, कवि को मेघ, रस को फसल तथा सहृदयों को चातकचञ्चु बतलाते हुए कहा कि हमें वृष्टि के विज्ञान तक सीमित रहना चाहिए।[1] डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि शब्दार्थगत सत्य (वस्तु का स्थायी स्वरूप) के रमणीय प्रतिपादन को ही काव्य का लक्षण जानना चाहिये। यहाँ यह सत्य की विशेषता है।[2]

काव्यलक्षण विवेचन के प्रसङ्ग में पं० गिरिधरलाल व्यास शास्त्री जी ने समस्त पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित मतों को प्रस्तुत करते हुए गुण सहित तथा दोष रहित शब्दार्थ युगल को ही काव्य माना है। इस सन्दर्भ में इन्होंने काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं को स्वरचित कारिकाओं में निबद्ध कर काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है।[3]

---

1. आत्माऽब्धिः, शफरः काव्यं, रसश्चैव रसस्, ततः।
   शफरे जलवत् काव्ये रसः केन नु वार्यताम्।।
   एवं रसस्य धर्मित्वं जलस्येव प्रसज्यते।
   काव्यस्यैव च धर्मत्वं शफरस्येव, का गतिः।।

   ....

   ....

   काव्यं ज्ञानम्, अलङ्कारस्तस्यात्मा, मध्यमाभिधा।
   संविदव्यभिचारेण तत्रोपाधिश्च वाग्विदे।।
   वृष्टिः काव्यं, कविर मेघः, सस्य संपद् रसा इमे।
   वृष्टि-मात्रैक-विज्ञाने वयं चातक चञ्चवः।।

   काव्यालङ्कारकारिका-एकादश अधिकरण-कारिका-235-253

2. शब्दार्थवर्ति सत्यस्य, सुन्दरं प्रतिपादनम्।
   काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयम्, सत्यस्यात्र विशेषता।।

   काव्यसत्यालोक-पञ्चम उद्योत-कारिका-64

3. केच्छिब्दं प्रपुष्णन्ति शब्दार्थो चेति केचन। इत्थं काव्यशरीरेऽत्र विवदन्ति विपश्चितः।।
   तेषां तेषां मतान्येव समुद्धृत्य विलिख्यते। तत्र प्रथमो ब्रूते व्यासदेवोऽग्निसाक्षिकम्।।
   संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।। काव्यं स्फुरदलङ्कारगुणवद्दोषवर्जितम्।।

प्रो० शिवजी उपाध्याय ने काव्य का विवेचन करते हुए बतलाया कि 'कवृ धातु' से निष्पन्न काव्य शब्द कविकर्म से प्रसिद्ध है। कवि से अवच्छिन्न कविनिष्ठ कर्म ही काव्य है, यह उसका लक्षण है। उस काव्य में शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, वृत्तियाँ, औचित्य, रीति, वक्रोक्ति, आदि की उपस्थिति तथा दोष का अभाव रहता है। शब्दार्थरूपी शरीर वाले काव्य में किञ्चिद दोष की भी उपस्थिति होने पर वह काव्य ही कहा जाता है। औचित्य, रीति, वृत्ति रस आदि उस काव्य के कारक स्वरूप होते हैं।[1] इस प्रकार आचार्य ने अपने ग्रन्थ

पदावली प्रयोगेण शब्दे मुख्यत्वमिष्यते।। गुणत्वमर्थे चेष्यर्थव्यवच्छिन्ना प्रयोगतः।
किन्तु दोषा अलङ्कारा गुणाः शब्दार्थयोर्द्वयोः। सामान्येन भवन्तीति मुख्यत्वमुभयोः समम्।।

....

....

वस्त्वलङ्काररमात्रे च तथा लक्ष्यक्रमेऽपि च। नीरसेऽपि तदा काव्ये काव्यत्वं को निवारयेत्।।
यत्र काव्ये पुनः पूर्णं घटते काव्यलक्षणम्। काव्यत्वं तत्र नियतं पुरुषोत्तमसम्मतम्।।
गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। गद्यपद्योभयमयं काव्यं विद्याविनोदकृत।।
काव्यं हि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दकः। उक्तं पण्डितराजेन तत्परं काव्यलक्षणम्।
आसीद्यदत्र वक्तव्यं तत्पूर्वं प्रतिपादितम्। लौकिकव्यवहारादिप्रदर्शनपुरस्सरम्।।
तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वेऽच्युतोऽब्रवीत्। गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यस्यसामान्यलक्षणम्।।

अभिनवकाव्यप्रकाश-प्रथम उन्मेष-कारिका-32-122

1. कविकर्मतया ख्यातं काव्यं यत् कवृधातुजम्। तत्स्वरूपमथैकान्तं काव्यत्वमिति सुस्थिरम्।।
काव्यत्वे तत्र शब्दार्थगुणालङ्कारवृत्तयः। औचित्यरीतिवक्रोक्तिदोषाभावादिसंस्थितिः।
शरीरत्वेन शब्दार्थौ गुणालङ्कृत्यनन्यथा। काणत्वाद्यतथाभावाददोषत्वमुरीकृतम्।।
औचित्यरीतिवृत्याद्या उपस्कर्त्तुं च सङ्गताः। रसात्मत्वेन काव्यत्वे तद्धेतौ तत्स्वरूपता।।
शब्देऽप्यर्थेऽपि पार्थक्यादैक्याद् वा काव्यता मता। उपचारतया साऽस्तु न तत्र परमार्थता।।
शरीरेऽप्युपचारत्वाद यथाऽऽत्मत्वनिदर्शनम्। तथा शब्दार्थयोनिष्ठं काव्यत्वमुपचर्यते।।
यद् ब्रह्मानन्दसोदर्यसामरस्याद् रसात्मता। काव्यस्य प्रथिता तत्र विभावादिनिबन्धनम्।
आनन्दत्वेन तद्रूपो भावत्वेन च सोदरः। लौकिकालौकिकत्वेनोभयत्वं तद्रसात्मनः।।
यत्प्राधान्येन तद्रूपं जायते कविकर्मणा। तेन तद्व्यपदेशः स्याच्छब्दार्थोभयनिष्ठितः।।
शब्दः स्फोटात्मको नित्यस्तदर्थोऽनित्य उच्यते। नित्यानित्यतया काव्ये तद्द्वयापत्तिरिष्यते।।

....

तद्वल्लक्ष्यमिदं काव्यं स्वत्वेनैव परिस्फुरत्। लक्षणैर्लक्षितं सर्वैस्तत्तदंशाभावभासकम्।।
काव्यत्वं कविकर्मत्वे रसात्मत्वविशेषितम्। लक्ष्यत्वस्वार्थसार्थक्यात्स्वत एव प्रकाशते।।
नैरर्थक्यं न विज्ञेयं लक्षणानां पृथग्विधौ। यतो वस्तुगतज्ञाने तत्साह्यं प्रतिपद्यते।।

साहित्यसन्दर्भ-काव्यस्वरूपविमर्श-कारिका-1-25

साहित्यसन्दर्भ की 25 कारिकाओं में काव्य के स्वरूप पर विस्तृत विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है।

डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित का मत है कि वही काव्यरचना काव्य हो सकती है, जिसमें उक्तिवैशिष्ट्य हो और जो पाठक या श्रोता को विचार-प्रेरणा तथा आनुषाङ्गिक शास्त्र-शिल्पादि ज्ञान के सहित या उससे रहित आनन्द का अनुभव कराये। अतः काव्य वह उक्तिवैशिष्ट्य युक्त वाक्य है, जिसका पठन या श्रवण आनन्द का साधक हो और यदि वह सद्विचार प्रेरक भी हो तो भद्रतर होता है। आनन्दानुभव के साथ सदुपदेश-यही कान्तासम्मितोपदेश विधान है।

उक्तिवैशिष्ट्ययुक्त आह्लादक वाक्य काव्य होता है। काव्य गद्य और पद्य दोनों में समानतया सम्भव है, यद्यपि पद्यहेतुकी छन्दयोजना निस्संशय आह्लादवर्धिका होती है। शब्द काव्य है या अर्थ इस विवाद को वारित करने के लिए 'वाक्य' कहा गया है। पुनः एक पद को भी शब्द कहा जाता है। जैसे शब्द से उसके अर्थ का, वैसे ही वाक्य से उसके अर्थ का अभेद होता है।[1] डॉ० दीक्षित का मत है कि उक्तिवैशिष्ट्य दो प्रकार का होता है:- (1) अर्थालङ्कार रूप और (2) अर्थालङ्कारहीन। दोनों विधाओं में काव्य किया जा सकता है। किन्तु निरलङ्कार काव्य का विधान वस्तुरूपादिकों के यथातथ्य वर्णन से उसकी भावना में कठिनता होने से कठिन होता है। अतः इसका अल्पत्व होता है, यद्यपि इसके उदाहरण प्रचुरतया सुलभ हैं। उक्ति वक्रोक्ति अलङ्कार वर्ग की सञ्ज्ञा है। काव्य निरलङ्कार ही होता है। अतः काव्य को सालङ्कार नहीं कहा गया। गुण काव्यत्व के साधक नहीं होते। अतः सगुण नहीं कहा गया। किसी दोष के होने पर भी वाक्य काव्यात्मक हो सकता है। अतः निर्दोष नहीं कहा गया। डॉ० दीक्षित ने आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराजजगन्नाथ की काव्य परिभाषा का खण्डन करते हुए कहा कि वाक्य में उक्ति कैसी हो- यह

---

1. उक्तिवैशिष्ट्ययुक्तम् आह्लादकं वाक्यं काव्यम्। काव्यं गद्ये च पद्ये चोभयोः समानतया सम्भवति यद्यपि पद्यहेतुकी छन्द योजना निस्संशयं आह्लादं वर्धयति। शब्दः काव्यं अर्थो वा इति विवादं वारयितुं वाक्यमिति उक्तम्।.......... उक्तिवैशिष्ट्यम द्विविधं-अर्थालङ्कार रूपम, अर्थालङ्कारहीनं च। उभयोर्विधयोः काव्यं कर्तुं शक्यते।.. ....रसानुभूतिरुत्तमः काव्यानन्दः।

काव्यतत्त्वविमर्श-पृ०- 23 और काव्यात्मनिर्णय-पृ० 32-33

न बताने से दोनों की काव्य परिभाषाएँ व्यर्थ हैं। यदि उक्तिवैशिष्ट्य युक्त विचार प्रेरक वाक्यों का काव्यत्व नहीं स्वीकृत किया जायेगा तो भर्तृहरि, बिहारी इत्यादि कवियों के नीतिकाव्यों का और प्रसिद्ध प्रबन्धकाव्यों में सालङ्कार भी विचारवर्णनों का अकाव्यात्मकत्व आपन्न होगा। जहाँ वस्तुभावना के सम्पादन का यत्न होता है, वहाँ स्वयमेव उक्तिवैशिष्ट्य और आह्लादकत्व का सम्पादन होता है। उक्ति कैसी हो-यह ज्ञापित करने के लिए उक्तिवैशिष्ट्य युक्त कहा गया, वस्तुभावनात्मक नहीं। आह्लाद या आनन्द वस्तु के दृश्य रूप की कल्पना से, स्वाभाविक चेष्ट्य युक्त रूप की कल्पना से, आङ्गिक अनुभाव युक्त रूप की कल्पना से, उसके साथ कहीं मनोभाव के केवल अनुमान से, कहीं उसके पश्चात् रस रूप में उसके अनुभव से और कहीं विचार-प्रेरणा में उत्पन्न होता है। रसानुभूति उत्तम काव्यानन्द है।

डॉ० रमाशङ्कर तिवारी ने काव्य का लक्षण करते हुए कहा कि मन को प्रसन्न करने में समर्थ, ललित अभिव्यक्ति युक्त शब्दों में निबद्ध रचना को विद्वानों ने काव्य कहा है। क्योंकि काव्य की आत्मा व्यक्तिललित होती है। प्राचीन मतों से भिन्न मत तिरस्करणीय हैं। काव्य में अर्थ बिम्बवत् प्रस्तुत होता है तथा भावक के मानस पटल पर वह प्रकट होता है। इस प्रकार आचार्य ने बतलाया कि काव्य अर्थसंस्कार युक्त, व्यक्तिमुदा को धारण करने वाला तथा सर्वजनीनता को धारण करने वाला होता है।[1]

डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने शब्द और अर्थ के अविभाज्यरूप में चमत्कारी

---

1. मनः प्रसादनसमर्था ललिताभिव्यक्तिः। उच्यते काव्यं बुधैस्तु शब्दैर्निबद्धा।।
व्यक्तिललितं भवित काव्यात्मा हि नियतम्। तिरस्करणीयं मतं प्राच्यानां भिन्नम्।।
विम्बी क्रियन्ते निखिला ह्यर्थास्तु काव्ये। यदाधत्ते तल्लपनशीलचित्रस्य शीलम्।।
भवन्त्यर्था जटिलास्तु लोकस्य चरिते। इव कुञ्चनकेशाः प्रकीर्णकवर्याम्।।
परं समाश्रित्य काव्यं लभन्तेऽवश्यम्। स्वरूपं प्रभावं निसर्गश्च ज्ञेयम्।।
परिष्कारिण्यामर्थाश्च संशोध्यमानाः। प्रतिभायाः कवीनान्तु सवासनानाम्।।
स्थौल्येन न प्रविशन्ति विषयाः काव्यम्। प्रगृहयन्ते पथे न तु खलु भावनायाः।।
काव्यं धारयति व्यक्तित्वमुद्राम। यथा पत्रं वहति पत्रगृहस्य चिह्नम्।।
अथ दर्शनेतिहासबुद्धिविषयादयश्य। भवन्ति काव्यं व्यक्तित्वरागं भजन्तः।।
समश्नुते भवन्ति काव्यं व्यक्तिसृष्टं समष्टेः शीलम्। स्वीयाकर्षणे मानवानां तु काव्यम्।।
ऋषयो व्यास आद्यकविवाल्मीकिश्च। कविकुलगुरुकालिदासोऽन्ये च सकलाश्च।।
निबध्नन्ति तेषां नु नैजां प्रकलनाम्। परं तदाकर्षणं विद्यते सर्वकालम्।।
काव्यतत्त्वविवेक-कारिका संग्रह-काव्यनिरूपण-कारिका-1-12

होने को काव्य माना है। अर्थात् चमत्कारात्मक शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहा है। उनका मत है कि चमत्कार-रस, भाव, वस्तु, अलङ्कार आदि की स्थिति के रूप में अपनी अनेक उच्चावच कोटियाँ या श्रेणियाँ रखता है, अतः काव्य की भी उत्तम, मध्यम और अधम (अवर) जैसी कोटियाँ स्थापित हो जाती हैं। इस प्रकार आचार्य ने प्राचीन आचार्यों के काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए, उनके द्वारा प्रतिपादित, साम्प्रदायिक काव्यलक्षणों का समन्वय तथा पाश्चात्य विद्वानों के काव्यलक्षण का भी निरूपण किया है।[1]

प्रो० अमरनाथ पाण्डेय ने काव्यस्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा है कि शब्द, अर्थ-भाव, भाषा, रचना-प्रक्रिया तथा भावाभिव्यक्ति आदि से युक्त काव्य, लोक कल्याणकारी होता है।[2] प्रो० पाण्डेय ने काव्यसिद्धान्तकारिका की अनेक कारिकाओं में काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। प्रो० रामप्रताप

---

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम चमत्कार परायणौ। रसादीनां चमत्कारकोटिषु काव्यकोटयः।।
लक्षणं कृतपूर्वं यत् काव्यस्य बहुधा बुधैः। भोक्तुः स्थित्यैव तद्ज्ञेयं प्राधान्येन पञ्चधा।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यमित्याहुर्भामहादयः। तावेव कुन्तक प्राह वक्रव्यापारशालिनौ।
जगन्नाथोऽवदत् काव्यं शब्दं रम्यार्थवोधक। वाक्यं रसात्मकं काव्यं विश्वनाथेन लक्षितम्।।
काव्यमदोषौ शब्दार्थौ पुनः क्वाप्नलङ्कृति। सगुणौ च सहस्थौ च मम्मटचार्य उक्तवान्।।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यं रम्यार्थस्य प्रयोजकौ। रसध्वन्यादितत्त्वानां विच्छित्या विविधात्मनः।।
स्वनामाऽऽख्याततत्त्वस्य प्राधान्यात् साम्प्रदायिकाः। काव्यलक्षणमाख्यान्ति तत्र किं स्यादसाम्प्रतम्।।
बिना रागात्मिकां सत्तां सौन्दर्य नानुभूयते। सौन्दर्यानुभूतिश्च रसादौ पर्यवस्यति।।
द्वयोरन्योन्याश्रयता मात्रा भेदात्तु सिद्धयति। तदेव रागमुक्त्वात् सौन्दर्यस्य रसस्य च।
काव्ये रसादितत्त्वानामेकं नैकान्ततो महत्। कस्याप्येकस्य विच्छित्या प्राधान्यं केन वार्यते।।
विच्छित्तिस्तु चमत्कारः सौन्दर्यलक्षणो मतः। सौन्दर्यं यच्च तत्सर्वं रागादाकर्षणात्मकम्।।
सर्वेषां काव्यतत्त्वानां मध्यात् सौन्दर्यशालिनाम्। कस्याप्येकस्य तत्त्वस्य प्राधान्ये काव्यमुच्यते।।
सम्प्रदायैः कृतं तस्माद् विविधं काव्यलक्षणम्। तत्त्वतो न विभिद्येत सर्वस्वीकृतलक्षणात्।।
प्लेटोऽरस्तूप्रभृतयः पाश्चात्याः काव्यलक्षणम्। प्रकृत्यनुकृतिरूपं कविस्थित्यैव मेनिरे।।
ईश्वरीयाद्यरूपस्यानुकृतिः प्रकृतिः स्वयम्। अपूर्णा, तां जगद्रूपां कलाकारोऽनुवर्त्तते।।
इत्याद्युक्तं कविस्थित्यां पाश्चात्यं काव्यलक्षणम्। पारम्पर्येण वादानां व्यामिश्रमधुनावधि।।
अभिनवकाव्यशास्त्र-द्वितीय आयाम-काव्यप्रक्रिया-सूत्र-20-24, कारिका-68-94
2. शब्दाः समर्थाः खलु सर्जनायां, यदा गता योजनया प्रसादम्।
तदातिरम्यं विभवं प्रयोगैस्तन्वन्ति काव्यं जनमङ्गलाय।।

वेदालङ्कार ने काव्य का लक्षण करते हुए बतलाया कि गुणालङ्कारभूषित तथा चमत्कार से युक्त शब्दार्थ युगल, लोकोत्तरानन्ददायी काव्य प्राचीन काव्यविदों को प्रिय है। विशिष्ट शब्द रूप वाला, जिसकी आत्मा चमत्कार है और जहाँ शब्द की प्रधानता रहती है, इसे काव्यलक्षण का नव्यमत जानना चाहिए। यह काव्य ध्वनि तथा अलङ्कार से मण्डित, रसान्वित, अतिनव्य शब्दार्थयुक्त तथा चमत्कार का स्फुरण करने वाला होता है। ललित छन्दों में निबद्ध, भाषा सौन्दर्य से पूरित काव्य लोक में एक स्वरेण उत्तम कहा जाता है। कविवाङ्निर्मिति ही काव्य है, कवि का निपुण कर्म ही उस काव्य का बीज है। प्रतिभाशाली कवि की इस प्रकार चमत्कार से युक्त सरस रचना उत्तम होती है। रसभाव से चमत्कारी उत्तम प्राणपेशल, सुन्दर अलौकिक आनन्द सन्दर्भ युक्त शब्दार्थ काव्य होता है। जिस प्रकार उसमें गुण, अलङ्कार तथा प्रीति होती है उस प्रकार उसमें दोष नहीं होने चाहिए। रसवर्ण्यानुरूपा रचना में रीति उपकारिणी होती है। जो सहृदयों के हृदय को चाकचक्य अर्थात् आह्लादित कर दे वह चितिरूप चमत्कार काव्य का सर्वस्व कहा गया है।[1] अपनी प्रकाश्य कृति में पुनः प्रो० वेदालङ्कार ने काव्य का लक्षण करते हुए कहा है–

स्निग्धा विचित्रैरमितैरनूनैरर्थैर्गृहीता कविताहिताय।
लोकस्य कीर्त्यै स्फुरितप्रभाभिः प्रवर्ततेऽनन्तसभासुभासु।।
श्लिष्य विशेषैर्घटना पदानां चित्ते सतां प्रीतिमुदारगत्या।
प्रकाशयन्ती कविता विधानं सौन्दर्यमानं च पुरस्करोति।।

काव्यसिद्धान्तकारिका–कारिका–14,82,73 आदि।

1. काव्यस्य लक्षणं प्रोक्तं बहुभिः कोविदैः पुरा। चमत्कार पदं नैतत् लक्षणे तैः समाहितम्।।
सन्ति केचन विद्वांसश्चमत्कारपरायणाः। चमत्कार प्रधानं तैरूक्तं काव्यस्य लक्षणम्।।
बुधैर्निगदितं तावच्चमत्कारसमन्वितम्। त्रिप्रकारमेततु प्रोच्यते काव्यलक्षणम्।।
शब्दार्थौ सचमत्कारौ गुणालङ्कारभूषितौ। लोकोत्तरं तु तत् काव्यं प्राचां काव्यविदां प्रियम्।।
विशिष्ट शब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः। प्राधान्यं यत्र शब्दस्य मतं नव्यैरिदं स्मृतम्।।
काव्यं स्फुरच्चमत्कारं ध्वन्यलङ्कारमण्डितम्। रसान्वितं सशब्दार्थमतिनव्यैः प्रशस्यते।।
छन्दोभिर्ललितैर्बद्धं भाषासौन्दर्यपूरितम्। काव्यं तदुत्तमं लोकैः स्वरैक्येन निगद्यते।।
कविवाङ्निर्मितिः काव्यं निपुणं कविकर्म तत्। सबीजो हि कविर्ज्ञेयः सर्वागमकोविदः।।
सरसः प्रतिभाशाली यदि स्यादुत्तमस्तदा। भवित रचना त्वेषा चमत्कारेण समप्लुता।।

अखण्डोचितशब्दार्थं रसादितत्त्व मिश्रितम्।
चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं कविनियोजितम्।।[1]

काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने लोकानुकीर्तन को काव्य माना है। प्रो० त्रिपाठी का मत है केवल स्थावरजङ्गात्मक संसार ही लोक नहीं है, अपितु कवि चेतना के द्वारा विभाव्यमान समस्त भुवन ही लोक है। दिक्काल में प्रसृत समस्त सृष्टि तथा जो कुछ प्रतीतिगोचर होता है, वह लोक है।

इस प्रकार उन्होंने लोक के तीन रूप को उद्घाटित किया है- आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों रूप परस्पर सम्बद्ध हैं। इन तीनों का समग्र समुल्लास जीवन है और वह साहित्य में प्रतिफलित होता है। जीवन की भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जीवन के पुरुषार्थ (धर्मार्थकाम) से इनका सम्बन्ध है। जीवन एक व्यक्ति का ही नहीं, अपितु समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भी होता है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जीवन के इन तीनों रूपों में से केवल एक या दो में ही सर्वथा पर्यवसित काव्यरचना समग्र नहीं कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में त्रिपाठी जी का एक परिकर श्लोक दर्शनीय है -

साहित्ये जीवनं सर्वं सर्वाङ्गीणं नवं नवम्।
प्रतिबिम्बत्वमायाति समुल्लसति वर्धते।।
अद्भुतः प्रतिबिम्बोऽयं बिम्बमेव विभावयन्।
संस्कुर्वन जीवनं तस्मिन् समवेतो नवायते।।
जीवने चास्ति साहित्यं साहित्ये जीवनं तथा।
परस्परकृता सिद्धिरनयोः सम्प्रवर्तते।।[2]

रसभावचमत्कारान्युत्तमप्राणपेशलः। काव्यं शब्दार्थ सन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दरः।।
सगुणालंङ्कृतः प्रीत्यै यथा दोषैस्तथा न सः। रसवर्ण्यानुरूपा च रीतिस्तत्रोपकारिणी।।
चाकचक्यं विधत्ते यः सहृदयस्य चेतसि। चितिरूपश्चमत्कारः काव्यसर्वस्वमुच्यते।।
चमत्कारविचारचर्चा-तृतीय विचार-कारिका-102-113

1. प्रो० वेदालङ्कार से साक्षात्कार द्वारा श्रुत।
2. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-प्रथम अध्याय

वैदिक परम्परा में वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार रूप बतलाये गये हैं। काव्यरचना प्रक्रिया में नामान्तर से इनका विनियोग यहाँ स्वीकार किया गया है। अनून्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव तथा अनुव्याहरण के विनियोग से आधिभौतिक, आधिदैकि और आध्यात्मिक विश्व, काव्य में पूर्णरूप से व्यक्त होता है! अनुकीर्तन पद से महान निर्दुष्ट, सगुण, सालङ्कार तथा रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थ का संग्रहण किया गया है। इससे ही काव्य में पूर्णता आती है और यह ही अलङ्कार है। अतएव अलङ्कार ही काव्य है।[1] इस प्रकार आचार्य ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण से लोकानुकीर्तन ही काव्य है; इस लक्षण की युक्तियुक्तता प्रमाणित की है तथा अन्य आचार्यों के लक्षणों से भी उसकी अन्विति पर विचार किया है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने काव्यलक्षण प्रसङ्ग में अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों का खण्डन-मण्डन करते हुए अपने मत को उपन्यस्त किया है। अलङ्कारवादी आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के मत को अपने मत में आत्मसात कर, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा अभिमत लोकानुकीर्तनं काव्यं को परम्परा विरोधी (मतस्वातन्त्र्य) बताकर उसका खण्डन किया है। प्रो० शिवजी उपाध्याय डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा के मत को भी अपने ही मत की पुष्टि करता हुआ बतलाया तथा प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी द्वारा बतलाये गये काव्यलक्षण को स्वीकार किया है।

प्रो० मिश्र का मत है कि लोकोत्तर आख्यान ही काव्य है, जो रसगर्भ (रसात्मक) हो, स्वभावज हो तथा इहलोक-परलोक दोनों में सहज रूप से यशः प्राप्तिरूपी प्रयोजन वाला हो। शब्द एवं अर्थ की समष्टि से ही कुछ कहा (वर्णित किया) जा सकता है। इसलिए शब्द एवं अर्थ की समष्टि (साहचर्य, साहित्य) ही काव्य का पयार्य है। और फिर काव्य सञ्ज्ञा वाला वह शब्दार्थ साहित्य मन, वाणी एवं कर्म के स्तर पर लोकोत्तर एवं असंस्तुत (अपरिचित,

---

1. लोकानुकीर्तनं काव्यम्।। स लोकस्त्रिविधः। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिकश्च। अनुषक्त्वं चैतेषां त्रयाणांमपि। त्रयाणां च सकलः समुल्लासो जीवनम्। तच्च साहित्ये प्रतिफलति। अनुकीर्तनं चतुर्विधम्। तेनास्य पूर्णता। पूर्णता च अलङ्कारः। तेन अलङ्कार एव काव्यम्।

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-प्रथम अध्याय- पृ० - 1-7

विलक्षण) होना चाहिए। सगुणत्व (माधुर्यादि गुणों से युक्त होना), अदोषत्व (च्युत संस्कारादि दोषों से रहित होना), निष्प्रयास प्रयुक्त अलङ्कारों का सद्भाव तथा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा यही (काव्य की) लोकोत्तरता के कारण हैं।[1]

पुनश्च कारिकाओं पर स्वोपज्ञ वृत्ति में उसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रो० मिश्र बतलाते हैं कि शब्द एवं अर्थ की समष्टि द्वारा जो वर्णित किया जाए (आख्यात हो) उसे आख्यान कहते हैं। इस कथन में आचार्य भामह से लेकर मम्मट तक शब्दार्थ समष्टि को ही काव्य के रूप में अङ्गीकार करने की अविच्छिन्न परम्परा का अनुमोदन हो जाता है तथा पण्डितराजजगन्नाथ द्वारा कथित रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य है, वह भी प्रकारान्तर से शब्दार्थ समष्टि ही काव्य है, के भाव को प्रकट करता है। इस प्रकार का कोई शब्द नहीं है जो अर्थ रहित होता हो। न ही ऐसा कोई अर्थ है जो शब्द के बिना प्रवर्तित होता हो। दोनों में अविनाभाव है। तो फिर काव्यसंघटना के अंगभूत शब्दार्थ-युगल में से किसी एक के प्रति (कि मात्र शब्द ही काव्य है अथवा मात्र अर्थ ही काव्य है) स्वारस्य (पक्षपात) प्रदर्शित करना व्यर्थ है। वस्तुतः शब्दार्थ समष्टि ही काव्य सञ्ज्ञा को प्राप्त होती है, पृथग्भूत होकर नहीं। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है- सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्दार्थों की संघटना ही काव्य है। तो फिर काव्यत्व के प्रसङ्ग में शब्दार्थयुगल में से किसी एक के प्रति विवाद पैदा करने वाली प्रीति का प्रदर्शन उचित नहीं। इसलिए कहा जा रहा है कि आख्यान ही काव्य है। तो क्या, किसी भी प्रकार का आख्यान काव्य होता है या विशिष्ट कोटिक? ऐसी आशंका करके कहा

---

1. काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्।
   परत्रेह च निर्व्याजं यशोऽवाप्ति प्रयोजनम्।।
   शब्दार्थसङ्गमेनैव किञ्चिदाख्यातुमिष्यते।
   ततश्चोभयसाहित्यं काव्यपर्यायगोचरम्।।
   किञ्च, शब्दार्थ साहित्यं काव्यसञ्ज्ञं भवेत्पुनः।
   मनसा कर्मणा वाचा लोकोत्तरमसंस्तुतम्।।
   सगुणत्वंदोषत्वं निष्प्रयत्नाऽप्यलंकृतिः।
   प्रज्ञा चापि नवोन्मेषा लोकोत्तरत्वकारणम्।।

   अभिराजयशोभूषणम्- प्रथम अंश- परिचयोन्मेष-कारिका-34-37

गया–लोकोत्तर आख्यान ही काव्य है। लोकोत्तर कहने से काव्य में रमणीयता के पक्षधर पण्डितराजजगन्नाथ के मत का समर्थन हो जाता है।

वह लोकोत्तर आख्यान (काव्य) रस–सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तात्कालिक आनन्द प्रदान करने वाले रसोद्रेक से (वह काव्य) प्रत्यक्षर अनुविद्ध होता है। रससिद्ध शब्द के ग्रहण से आचार्य विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य काव्य है, का अनुमोदन हो जाता है। स्वतः स्फूर्त कोई भावोच्छलन ही काव्य होता है। क्योंकि वह सोच–सोच कर या डूब–डूब कर शास्त्रों की तरह आयास पूर्वक नहीं लिखा जाता। पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती आग्रहों से विनिर्मुक्त यह भावोच्छलन स्वतः स्फूर्त होने के कारण तथा लोकोत्तर होने के कारण स्वभावजन्य होता ही है। शास्त्र प्रभृति अन्यान्य वाङ्मयों की तरह यह काव्य कृत्रिम प्रयत्नों से साध्य नहीं होता।[1]

लोकोत्तरता का विवेचन करते हुए प्रो० मिश्र कहते हैं- सगुणत्व का तात्पर्य है-रसाभिव्यञ्जक माधुर्यादि गुणों का साहचर्य अदोषत्व का तात्पर्य है- काव्य के मुख्यार्थभूत रस के विनाश में पर्यवसित पद, वाक्य एवं रसादि के दोषों का अभाव होना। निष्प्रयत्न अर्थात् प्रयासरहित, स्वभावतः समागत अलंकार। नवोन्मेषा अर्थात् नूतन स्फुरणों वाली प्रज्ञा अथवा प्रतिभा। ये सब मिलकर ही लोकोत्तरता के कारण बनते हैं। अपने इन्हीं गुणों (सगुणत्व, अदोषत्व, सालङ्कारत्व तथा प्रतिभाजन्यत्व) के कारण काव्य सामान्य ग्राम्य कथन की तुलना में विलक्षण प्रतीत होता है। बतरस के स्रोतोभूत ग्राम्य कथनों में माधुर्यादि गुण नहीं होते हैं और न ही हृदयावर्जक शब्दों एवं अर्थों के

1. आख्यायते शब्दार्थ समष्ट्येत्याख्यानम्। अनेनाभामहान् मम्मटं यावच्छब्दार्थयोः काव्यत्वाङ्गीकरणस्याविच्छिन्नपरम्पराया अनुमोदनम्। ......किञ्च, रमणीयार्थ-प्रतिपादननपरस्याऽपि शब्दस्याङ्गीकारे शब्दार्थावेव काव्यमिति स्फुटं भवित। न कोऽप्येवंविधश्शब्दो योऽर्थविरहितः स्यात्। न चाऽप्यर्थः शब्दादृते सम्भवति। ...... तथा च ध्वनिकार आनन्दवर्धनः – सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यत्वमिति। तर्ह्यलं काव्यत्वप्रसङ्गे शब्दार्थयोरेकतरस्मिन् कस्मिन्नपि विवादजनयित्रीं प्रीतिं प्रदर्श्यं तस्मादुच्यते आख्यानमेव काव्यम्।....रससिद्ध शब्दग्रहणेन वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति स्थापनापराणां विश्वनाथमहापात्राणां भावानुमोदनम्। काव्यं तावत्स्वतः स्फूर्तं भावोच्छलनं किमपि।------नेदं शास्त्रप्रभृतिवाङ्मयान्तरमिव कृत्रिमप्रयत्नसाध्यम्।
अभिराजयशोभूषण–परिचयोन्मेष–प्रथम अंश–पृ०–38–40

अलङ्कार होते हैं और न ही उनमें श्रुतिकटु एवं नेयार्थादि दोषों का अभाव संभव हो पाता है। फिर उन ग्राम्य कथनों में तिलभर भी प्रतिभा-संस्पर्श का विलास कहाँ? तो फिर काव्य से भिन्न अभिव्यक्ति में लोकोत्तरता आये कैसे? इस प्रकार काव्य के लोकोत्तर अभिव्यक्ति बन पाने में-सगुणत्व, अदोषत्व, तथा सालङ्कारत्वादि आचार्य मम्मट अभिमत समस्त धर्मों का सद्भाव अपेक्षित है। इस प्रकार प्रो० मिश्र ने अपने काव्यलक्षण में आचार्य मम्मट के अभिमत को आत्मसात् कर लिया है।

प्रो० मिश्र ने रसात्मक, निसर्गजन्य, लोकोत्तराख्यानभूत, आचार्य बच्चूलाल अवस्थी के प्रस्तुत पद्य को उदाहरण के रूप में दिया है-

निलिम्पा लिम्पन्तु प्रसभमभिकाश्चन्दनघनं
सुरीणां स्वर्णद्यां निधुवनधुवित्रं विधुवतु।
सुराधानी गन्धैर्मदयतु मुहुर्नन्दनवनं
यदम्बाया अङ्कः प्रथयति सुखं तद् दिवि कुतः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में माधुर्यादि गुणों का सद्भाव तो प्रत्यक्ष दीख ही रहा है, प्रतिभा के परिपाक से परिणत लोकोत्तरता भी काव्यसौन्दर्य का पोषण कर रही है। सुराधानी अमरावती की गन्धमादकता का भी अतिशय कर रही है अम्बा की सुखमयी अंकपाली। यह कवि की लोकोत्तर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार प्रो० मिश्र ने स्वाभिमत काव्यलक्षण का विवेचन किया है। प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए बतलाया कि सहृदयों के हृदयाह्लादन एवं लोक के उद्बोधन में सङ्गत प्रतिभाशाली कवि की सद्वाक् (वाणी) ही काव्य कही जाती है।[2]

---

1. सम्प्रति काव्यस्य लोकोत्तरत्वं विवृणोति ग्रन्थकारः। सगुणत्वंरसाभिव्यञ्जकानां माधुर्यादिगुणानां साहचर्यम्।....... नवोन्मेषा नित्यस्फुरणा प्रज्ञा प्रतिभा। एतत्सर्वं सम्भूय काव्यलोकोत्तरत्वकारणम्। सामान्यग्राम्यकथनापेक्षया काव्यमेभिरेव गुणैरतिरिच्यते। .... मम्मटाचार्यस्याप्यभिप्रायो गृहीतः स्वोपज्ञकाव्यलक्षणे।

अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश-परिचयोन्मेष-पृ०-40-41

2. लोकोत्तरे हृदाह्लादे लोकोद्बोधे च सङ्गता।
प्रज्ञावतः कवेः सद्वाक् काव्यमित्यभिधीयते।।

नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा- दूर्वा-द्वितीयोन्मेष- (अप्रैल-मई-जून-2005), पृ०-93

इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने काव्यस्वरूप निर्धारण में अपनी–अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए काव्यलक्षण का परिष्कार किया है। शब्द और अर्थ की समष्टि पर ही पूर्वाचार्यों के भी अपने–अपने मत काव्यशास्त्र में विवेचित हैं। इसी शब्द और अर्थ के साम्य से ही किसी सार्थक वाक्य को कहा जा सकता है और उसी से कोई सार्थक सरस अर्थाभिव्यक्ति होती है, जिससे सहृदयजनों को रसानुभूति जन्य आनन्द या अन्य पदार्थों का बोध होता है। इस शब्द और अर्थ की समष्टि के काव्यत्व पर ही सभी आचार्यों ने अपनी–अपनी वाणी को काव्यबद्ध किया है। प्रो॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने काव्यलक्षणों को परम्परा से हट कर प्रवर्तित किया है। यद्यपि उनके प्रयोजन ज्ञानात्मक हैं, परन्तु शब्दार्थसाहित्य की परिभाषा की अभिव्यक्ति से इतर हैं।

(ii) काव्यभेद –

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्यलक्षण का निरूपण करने के अनन्तर उसके भेदों का भी वर्गीकरण किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण के मुख्य रूप से दो आधार हैं–

(i) काव्य के बाह्य रूप अर्थात् विधा के आधार पर

(ii) काव्यार्थ के आधार पर।

आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में प्रमुख रूप से दृश्य काव्य (रूपकों) का वर्गीकरण किया है। उनके पश्चात् भामह, दण्डी, तथा वामन आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के वर्गीकरण को विशदता के साथ प्रस्तुत किया। इन आचार्यों के उपरान्त आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में काव्य की विभिन्न विधाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार काव्य के प्रमुख रूप से दो भेद होते हैं – (i) दृश्य और (ii) श्रव्य।[1] इन्हीं दोनों काव्यों के पुनः अनेक भेद होते हैं।

---

1. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
   दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।।

   साहित्यदर्पण–षष्ठ परिच्छेद–कारिका–1

काव्यविधा के आधार पर काव्य का वर्गीकरण

(1) दृश्य काव्य- यह काव्य अभिनेय होता है और इसको रूपक कहा जाता है। इसके भी दो प्रकार होते हैं-रूपक और उपरूपक। आचार्य भरत ने सर्वप्रथम रूपकों के भेदों का कथन किया। उन्होंने 10 प्रकार के रूपक तथा 11वीं नाटिका का लक्षण किया था। आचार्य भरत के अनुसार 10 प्रकार के रूपक निम्न हैं- (i) नाटक (ii) प्रकरण (iii) अङ्क (iv) व्यायोग (v) भाण (vi) समवकार (vii) वीथी (viii) प्रहसन (ix) डिम और (x) इहामृग।[1]

भरतमुनि के पश्चात् रूपकों के भेदों का विस्तार से निरूपण नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने किया। उन्होंने रूपकों के 12 भेदों की गणना की, जिनमें 11 भेद तो नाटिका सहित भरतमुनि के ही सदृश हैं और 12वाँ भेद प्रकरणी अतिरिक्त है।[2] रूपकों के इन भेदों के अतिरिक्त नाट्यदर्पणकार ने 13 और भेद परिगणित किये हैं, जो इस प्रकार हैं- सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, शम्या (लास्य), प्रेक्षणक, रासक,नाट्य-रासक, काव्य, भाण और भाणिका।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने रूपकों के दो विभाग किये हैं- रूपक और उपरूपक। उन्होंने रूपको के दश भेद बतलाये- नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन तथा उपरूपकों के 18 भेद बतलाये जो इस प्रकार हैं- नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान,

---

1. नाटकं सप्रकरणमङ्कोव्यायोग एव च। भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः।।
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशम नाट्यलक्षणम्। एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।।
नाट्यशास्त्र-अध्याय-20 कारिका-2-3

2. नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः।
अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः।
त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ कैशिकीपरिवर्जनात्।।
नाट्यदर्पण-प्रथम विवेक-सूत्र 3, कारिका-3-4

3. वही, पृ०-404-408

उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश तथा भाणिका।[1]

(2) श्रव्यकाव्य– श्रव्यकाव्य के मुख्यतः तीन भेद बतलाये गये हैं– (i) गद्यकाव्य, (ii) पद्यकाव्य और (iii)गद्य-पद्यमय (चम्पू) काव्य।[2]

(i) गद्यकाव्य- जो रचना छन्दोबद्ध नहीं होती, उसको गद्य कहा जाता है। इसके मुख्यतः दो भेदों का कथन किया गया है- कथा और आख्यायिका। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में गद्यकाव्य के पाँच भेदों का कथन है।[3] पं० अम्बिकादत्त व्यास ने गद्यकाव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में इसके नव (9) भेदों का कथन किया है- कथा, कथानिका, कथन, आलाप, आख्यान, आख्यायिका, खण्डकथा, परिकथा और सङ्कीर्ण।[4]

आचार्य विश्वनाथ का मत है कि जिसमें छन्द लेशमात्र भी न हो उसे गद्य कहा जाता है, वह चार प्रकार का होता है- मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय तथा चूर्णक। इनमें क्रमशः प्रथम समासरहित, द्वितीय छन्दांशयुक्त, तृतीय दीर्घसमास वाला तथा चतुर्थ अल्पसमास वाला होता है।[5]

---

1. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः। ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।।
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्। प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका। दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः। विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।।
साहित्यदर्पण–षष्ठ परिच्छेद–कारिका–3–6
2. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।।
काव्यादर्श–दण्डी–प्रथम परिच्छेद–कारिका–11
3. आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा।।
अग्निपुराण–अध्याय–337–कारिका–12
4. पं० अम्बिकादत्त व्यास- एक अध्ययन - पृ०–38 (अलंकार शास्त्र का इतिहास–डॉ० कृष्ण कुमार पृ०–375 से उद्धृत)।
5. वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं, मुक्तकं वृत्तगन्धि च। भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।
आद्यं समासरहितं, वृत्तभागयुतं परम्। अन्यदीर्घसमासाढ्यं, तुर्यं चाल्पसमासकम्।।
साहित्यदर्पण–षष्ठ परिच्छेद–कारिका–330–331

(ii) पद्यकाव्य - पद्यकाव्य को भी दो भागों में विभाजित किया गया है- (अ) अनिबद्धकाव्य और (आ) प्रबन्धकाव्य।

(अ) अनिबद्धकाव्य - अनिबद्ध काव्य वे हैं, जिनमें किसी सुनियोजित कथाबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के काव्य में एक, दो या कुछ अधिक श्लोकों में अन्य श्लोकों से सम्बन्ध हुए बिना काव्यत्व निहित होता है। सामान्यतः इस प्रकार के काव्य को मुक्तक कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने एक, दो, तीन, चार एवं पाँच श्लोकों की परस्पर सम्बद्धता की दृष्टि से मुक्तककाव्य के पाँच भेद बतलाये हैं। उनका मत है पद्यान्तर की अपेक्षा न रखने वाले एक पद्य को मुक्तक, परस्पर सापेक्ष दो पद्यों को युग्मक, परस्पर तीन पद्यों से सन्दानितक, चार पद्यों से कलापक एवं पाँच पद्यों से परस्पर सम्बद्ध रचना को कुलक कहा जाता है।[1]

(आ) प्रबन्धकाव्य- जिस काव्य में किसी सुनियोजित लम्बी कथा का वर्णन किया जाता है, उसे प्रबन्धकाव्य कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं- महाकाव्य और खण्डकाव्य। इसमें महाकाव्य का कथानक अति विस्तृत होता है और इसका विभाजन सर्ग, परिच्छेद आख्यान आदि में किया जाता है। इसकी विस्तृत व्याख्या भामह, दण्डी, रुद्रट तथा विश्वनाथादि आचार्यों ने की है। खण्डकाव्य का स्वरूप तो महाकाव्य सदृश ही होता है, परन्तु इसका कथानक छोटा होता है और यह स्वल्पकाय होता है। आचार्य विश्वनाथ ने दोनों का लक्षण करते हुए कहा है कि सर्गबद्ध रचना महाकाव्य तथा काव्य के एक देश (एकभाग) का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने पद्य काव्य के एक अतिरिक्त भेद कोष का कथन किया है। इसमें एक ही विषय से सम्बद्ध परस्पर अनपेक्ष श्लोकों का (व्रज्या क्रम में =

---

1. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
   द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।।
   कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।।
   साहित्यदर्पण-षष्ठ परिच्छेद-कारिका-314
2. सर्गबन्धोमहाकाव्यं तथा खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।
   साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद-कारिका-315-324 तथा कारिका- 328 1/2

सजातीय पद्यों का एकत्र सन्निवेश) संग्रह होता है। सूक्तिमुक्तावली आदि काव्य इसी कोटि के हैं।[1]

(iii) गद्य-पद्यमयकाव्य- गद्य-पद्य मिश्रित काव्य को चम्पू कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने इसके विरुद और करम्भक नामक दो भेद किये हैं। गद्यपद्यमयी राजस्तुति को विरुद तथा विविध भाषाओं में विरचित काव्य को करम्भक कहते हैं।[2]

काव्यार्थ के आधार पर काव्य का वर्गीकरण

ध्वनिवादी आचार्यों ने अर्थ के आधार पर भी काव्य का विभाजन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में दो प्रकार के अर्थों को बतलाया है- वाच्य और प्रतीयमान।[3] इन अर्थों की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य के तीन भेदो का निरूपण किया। वे हैं- (क) ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य), (ख) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य (मध्यमकाव्य) और (ग) चित्रकाव्य (अवरकाव्य)।

(क) ध्वनिकाव्य- वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होने पर ध्वनि काव्य होता है। इसको आचार्य मम्मट ने उत्तम काव्य बतलाया है।[4] इसका विवेचन ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण तथा रसगङ्गाधर आदि ग्रन्थों में भी विस्तार के साथ किया गया है।

---

1. कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।
   व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः।।
   साहित्यदर्पण-षष्ठ परिच्छेद-कारिका-329
2. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्याभिधीयते।
   गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।
   करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्।।
   वही कारिका-336-337
3. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-2
4. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।
   काव्यप्रकाश - प्रथम उल्लास-कारिका-4

(ख) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य - वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अतिशायी न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यमकाव्य) होता है।[1] आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने इसके आठ भेद बतलाये हैं- (i) अगूढव्यङ्ग्य (ii) अपरस्याङ्गव्यङ्ग्य (iii) वाच्यसिद्धयङ्ग (iv) अस्फुट (v) सन्दिग्धप्राधान्य (vi) तुल्यप्राधान्य (vii) काक्वाक्षिप्त और (viii) असुन्दर।[2]

(ग) चित्रकाव्य - जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की विवक्षा न हो, किन्तु कवि अलङ्कारों के चमत्कार को प्रदर्शित करने के लिए काव्य की योजना करता है, वह चित्र काव्य कहा गया है। इसको अधम (अवर) काव्य कहा गया है। मम्मट ने इसके दो भेदों का कथन किया है- शब्दचित्र और अर्थचित्र।[3] आनन्दवर्धनाचार्य ने भी इसके द्विविध भेद शब्दचित्र और अर्थ चित्र का कथन किया है।[4]

(क) शब्दचित्र – जिस काव्य में शब्दालङ्कार द्वारा काव्य चमत्कृत होता है, वह शब्दचित्र काव्य कहलाता है।

(ख) अर्थचित्र – जिस काव्य में अर्थालङ्कार द्वारा काव्य चमत्कृत होता है, वह अर्थचित्र काव्य कहलाता है।

काव्य के इन दो वर्गीकरणों के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने भाषा के आधार पर भी काव्य को वर्गीकृत किया है, परन्तु उसका महत्त्व अधिक नहीं

---

1. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्। काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-5 का पूर्वार्द्ध
2. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम्।
   सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।
   व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदः स्मृताः।।
   काव्यप्रकाश-पञ्चम उल्लास-कारिका-45-46 तथा साहित्यदर्पण-चतुर्थ परिच्छेद-कारिका-13-14
3. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।
   वही - प्रथम उल्लास- कारिका-5
4. चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
   तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।।
   ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत - कारिका - 43

है। आचार्य दण्डी ने काव्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र इन चार वर्गों में व्यवस्थित किया है।[1] रुद्रट के अनुसार भाषा की दृष्टि से काव्य छः प्रकार का हो सकता है- संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाच, शूरसेन और अपभ्रंश। हेमचन्द्र ने भाषा की दृष्टि से काव्य के चार भेद बतलाये है- संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश।

उपर्युक्त विवेचित समस्त काव्य भेदों में विधा तथा काव्यार्थ के आधार पर किये गये वर्गीकरण ही मान्य हैं। भाषा के आधार पर काव्य के दोनों प्रकारों (भेदों) का विभाजन असम्भव है। अतः इसे आचार्यों ने स्वीकृति नहीं प्रदान की।

(ख) अर्वाचीन मत

काव्यार्थ पर आधारित काव्यभेद

जिस प्रकार काव्यशास्त्रीय परम्परा के पूर्वाचार्यों ने काव्यार्थ के आधार पर काव्य के त्रिविध (उत्तम, मध्यम और अधम) और चर्तुविध - (उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम) भेद किये हैं, उसी प्रकार अर्वाचीन आचार्यों ने भी अपनी-अपनी कृतियों में काव्यभेद सम्बन्धी अपनी मौलिक उद्भावनाओं को प्रस्तुत किया है। इस सदी के कतिपय आचार्यों ने तो पूर्वाचार्यों के ही मत में अपने मत का समाहार किया है, परन्तु उदाहरण उन्होंने अपने दिये हैं। प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने काव्य के तीन भेद तथा प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने काव्य के चार भेद बतलाये हैं। इस शताब्दी के आचार्यों के मतों को क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने काव्यभेद विवेचन के सन्दर्भ में भी आचार्य मम्मट के द्वारा प्रतिपादित त्रिविध काव्यभेदों का ही समर्थन किया है किन्तु उदाहरण उन्होंने अपने दिये हैं। उन्होंने काव्य के उत्तम, मध्यम और

---

1. तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
   अप्रभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराचार्याश्चतुर्विधम्।।
   काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद - कारिका - 32

अधम भेदों का ही कथन किया है।[1] आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने आनन्दवर्धन तथा मम्मट के ही अनुसार काव्य के तीन भेदों का कथन किया है। शास्त्री जी का मत है कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गुणीभूत करके किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करें, वह ध्वनि काव्य कहलाता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं।[2] जिस काव्य में वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक हो, उसे (मध्यमकाव्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य कहते हैं।[3] तथा जहाँ अर्थ की अपेक्षा शब्द का और शब्द की अपेक्षा अर्थ का चमत्कार प्रधान होता है वहाँ क्रम से शब्दचित्र और अर्थचित्र दो काव्य ध्वनिकार के अनुसार माने जाते है।[4] शास्त्री जी ने पुनः काव्यव्युत्पत्ति के आधार पर काव्य के विधा पर आधारित दो भेदों-दृश्य और श्रव्य का भी कथन किया है।[5]

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने भी काव्य के तीन ही भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु उन्होंने अन्य आचार्यों की तरह काव्यपरिभाषा को नहीं प्रस्तुत किया है। उनका मत है- काव्य की आत्मा सत्यानुभूति है। अतः काव्य में प्रतिपाद्य सत्य के आधार पर काव्य के तीन भेद होते हैं- उत्तम, मध्यम और अधम।[6] इनके

---

1. उत्तममध्यमावर भेदेन तच्च त्रिविधं। वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये।
   अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमं। शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं मतं।
   साहित्यमञ्जरी - सामान्यप्रकरण- पृ० 1-2
2. यत्रशब्दस्तथैवार्थो गौणभावामुपाश्रितौ।
   कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तत्काव्यं ध्वनिरुत्तमम्।।
   साहित्यविन्दु- प्रथमविन्दु - कारिका - 12
3. यत्र वाच्यचमत्कारो व्यङ्ग्यार्थापेक्षया पुनः।
   तद्वदन्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यन्तु मध्यमम्।। वही - कारिका - 12
4. शब्दार्थयोः चमत्कारः परस्परमपेक्षया।
   प्रधानं यत्र तज्ज्ञेयमधमं चित्रसञ्ज्ञकम्।। वही कारिका - 13
5. पुनस्तस्यैव काव्यस्य द्वैविध्यमिह दर्श्यते।
   दृश्यश्रव्यत्व भेदाच्च काव्यव्युत्पत्तिहेतवे।। वही कारिका - 14
6. त्रिप्रकारं मतं काव्यम्, उत्तममध्यमाधमम्। सत्यं कारणमुत्कर्षे, तस्य च जगति स्थितिः।।
   कर्मक्षेत्रं जगत्क्षेत्रम, कर्मणो योग उत्तमे। अन्यदलौकिकं क्षेत्रम्, मध्यमे तस्य योजनम्।।
   काव्यसत्यालोक- पञ्चम उद्योत - कारिका 65-66

अनुसार उत्तमकाव्य वह है, जिसमें लोकगत सत्य का सूक्ष्म वर्णन होता है। क्योंकि लोक कर्मक्षेत्र है, अतः इसमें कर्म का योग भी अपेक्षित है। डॉ० शर्मा का कथन है कि रामायण और महाभारत में कर्म का सविशेष योग है, इसलिये ये दोनों उत्तमकाव्य हैं। मध्यमकाव्य का निरूपण करते हुए आचार्य शर्मा बतलाते हैं कि जिस काव्य का प्रतिपाद्य अलौकिक होता है, वह मध्यम काव्य है। इस काव्य के प्रतिपाद्य में अलौकिक वस्तु, पात्र और भावों का समावेश होता है। यहाँ वस्तु के अतिप्राकृत होने के कारण सहृदयों में प्रायः विश्वास का अभाव होता है, यही इस काव्य का मध्यम कोटित्व है। चूँकि अलौकिक पात्रों का आचरण लोकवाह्य होता है। इसलिए इसकी अवतारणा में लोकसत्य का अभाव होने से हृद्यत्वाभाव होता है। इसी प्रकार अलौकिक भावों का लोक में अभाव अथवा विरलता होती है। अतः इसके चित्रण से काव्य में मध्यमकोटित्व आ जाता है।[1] काव्य में जो सत्य प्रतिष्ठित रहता है उसकी अनुभूतिरूपता तथा इससे भिन्न ज्ञान का योग, जिस काव्य में होता है उसको डॉ० शर्मा ने अधमकाव्य बतलाया है।[2] अधमकाव्य के अन्तर्गत बौद्धिक सिद्धान्तों की प्राधान्यता तथा काव्याङ्गों की आभासरूपता होती है।

अभिनवकाव्यप्रकाशकार पं० गिरिधर लाल व्यास शास्त्री ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित काव्यों का ही कथन कर आचार्य मम्मट प्रतिपादित काव्य के तीन भेदों को ही अपनी कारिकाओं में प्रस्तुत किया है।[3]

---

1. उत्तम काव्यम्-अत्र लोकगतस्य सत्यस्य सूक्ष्मं वर्णनम्।....मध्यनं काव्यम्-अत्र प्रतिपाद्यमलौकिकम्। अस्मिन प्रतिपाद्ये वस्तुपात्र भावानां समावेशः। अलौकिकानां पात्राणामाचरणं लोकवाह्यमित्येषामवतारणे लोकसत्यत्वाभावेन हृद्यत्वाभावः।... अलौकिकानां भावानां लोकेऽभावा विरलता वेत्येषां चित्रणे काव्यस्य मध्यम कोटित्वम्।.. अपरश्चास्माकं समाजगता प्रवृत्तिर्न हि शमादिमूला अपितु अर्थादिमूलेत्येषां चित्रणे सामाजिकस्य सत्यस्याभावः।

   काव्यसत्यालोक- वृत्तिभाग - पृ० 73-74
2. काव्ये तिष्ठति यत्यसत्यम्, तस्यानुभूतिरूपता। इतो भिन्नं मतं ज्ञानम्, अधमे तस्य योजनम्।।

   वही- कारिका - 67
3. काव्यस्य भेद विषये सन्ति भिन्नविचारकाः। द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा काव्यं भवन्ति तन्मते।।
   पुराणपुरुषा नूनमलंङ्कृतिपरायणाः। विभजन्ति काव्यदेहं द्विधा शब्दार्थ भेदतः।।
   प्रधान गुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थितेः। काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते।।

डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित ने भी परम्परा का ही अनुसरण करते हुए काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद बतलायें है। उनका मत है कि शब्दसौन्दर्य और विभावरूप कल्पना के साथ वाच्यार्थबोध से रस के अथवा केवल शब्दसौन्दर्य के साथ सद्विचार प्रेरणा के आनन्द का निष्पादक उत्तमकाव्य होता है। मध्यमकाव्य वह है, जो शब्दसौन्दर्य के साथ वस्तु के केवल रूप या स्वभाव की कल्पना से अथवा भावानुमान से या रसाभास से अथवा देशकाल-सीमा-बद्धता के कारण असद्विचार प्रेरणा से मध्यम कोटि के आनन्द का अनुभावक हो। अधमकाव्य वह है, जिससे रूपादिकों की अव्यवस्थित कल्पना या अनुचित भावानुमान या अनुचित विचार के बोध से अधम आनन्द की प्रतीति हो।[1] डॉ० दीक्षित का मत है कि यदि काव्य की कोटियाँ हैं तो आनन्द की भी कोटियाँ अवश्य होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने आनन्द के आधार पर काव्य के भेद का निरूपण किया है।

प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने चमत्कार आश्रित काव्य के तीन भेद माने हैं। उन्होंने चमत्कार को काव्य की आत्मा माना है। उनका मत है शब्दार्थ रूप उस काव्य को आचार्य विश्वेश्वर तथा विश्वनाथदेव आदि काव्यविदों ने भी निरूपित किया है। यह चमत्कार त्रिविध रूप वाला है- चमत्कारि, चमत्कारितर तथा चमत्कारितम। शब्दचारुत्व तात्पर्य में चमत्कार कहा जाता है, वाच्यचारुत्व तात्पर्य में चमत्कारितर तथा प्रत्येयार्थचारुत्व के सन्दर्भ में चमकारितम कहा जाता है। यह सम्पूर्ण रूप से गद्य-पद्य तथा मिश्रित रूप में जाना जाता है।[2]

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किञ्चिछब्दचित्रमर्थचित्रमतः परम्।
इत्यानन्दामृतं पीत्वा मम्मटोऽपि प्रवर्धते।। काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यमव्यङ्ग्यमित्यपि।
शब्दार्थचित्रमव्यङ्ग्यं द्विधा काव्यमुदाहृतम्।। गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः।
त्रैविध्यं तस्य प्रथममध्यमाधमरूपतः। अङ्गीकृत्य प्रकाशेऽपि चातुर्विध्यमसूचयत्।।
अभिनवकाव्यप्रकाश उन्मेष - कारिका 320-375

1. काव्यात्मा- (डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित)-पृ०-322
2. त्रयो भेदास्तु काव्यस्य चमत्कारसमाश्रिताः। विश्वेश्वरेण देवेन विश्वनाथेन च स्मृताः।।
शब्दार्थरूप काव्यं तत् तावच्छब्दार्थकोविदैः। त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं यथा।।
चमत्कारितमं चेति प्रविविच्य निदर्शितम्। शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।।
वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्। व्यङ्ग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः।
प्रत्येयार्थचारुत्वे चमत्कारितमं मतम्। गद्यं पद्यं च मिश्रञ्चेत्येतत्सर्वं त्रिधा स्मृतम्।।
चमत्कारविचारचर्चा- तृतीय विचार- कारिका - 114-18

प्रो० वेदालङ्कार का मत है कि जहाँ व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य से अधिकतर होता है, उसे ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) कहा गया है। जहाँ वाच्य अधिक चमत्कारि, व्यङ्ग्य भासित नहीं होता, उसे कवियों ने मध्यम काव्य माना है और जहाँ अलङ्कारकृत आनन्दसन्दोह की प्राप्ति होती है, वह शब्दार्थ भेद से चित्रकाव्य दो प्रकार का कहा गया है। शब्दा तथा अर्थालङ्कार चमत्कार से संयुक्त होते हैं, ये ही यमक, रूपक आदि काव्यपद को प्राप्त होते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने दशविध चमत्कार प्रतिपादित किये हैं, जो विषय दृष्टि से कवियों के कण्ठभूषण बनते हैं।[1]

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने काव्य के चार भेद बतलाये हैं- उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और (अवर) अधम। सर्वाङ्गीण जीवन का निर्देश करने वाला महावाक्य उत्तमोत्तम, जीवन के एक देश को निर्दिष्ट करने वाला उत्तम, वस्तुविशेष अथवा मनः स्थिति विशेष का प्रकाशन करने वाला मध्यम तथा पदार्थमात्र में पर्यवसित काव्य अवर सञ्ज्ञक होता है। नानादिक्काल अवच्छिन्न वाक्यों का पुरुषार्थ प्रर्वतक समूह महावाक्य है।[2] प्रो० त्रिपाठी का मत है कि कविगत समाधि निष्यन्दभूत, विविध विद्यावदात, सकलशास्त्र-तत्त्व समन्वित, जीवन के सर्वाङ्गीण रूप को निर्दिष्ट करता हुआ जगत् की नानावस्थाओं के परिज्ञान में प्रमाणभूत अभिनवकल्पनाभिराम काव्य उत्तमोत्तम होता है। जीवन के एक पक्ष और शास्त्रैकदेश को निर्दिष्ट करने वाला और दशा विशेष तथा

---

1. यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्याधिकतरो भवेत्। ध्वनिकाव्यमिदं प्राहुः पारिभाषिकमुत्तमम्।।
वाच्याधिकचमत्कारि व्यङ्ग्यं यत्र न भासते। तदेव मध्यमं काव्यं कविवृन्दैर्निगद्यते।।
अलङ्कारकृतानन्दसन्दोहो यत्र जायते। चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विधा तत् परिकीर्ततम्।।
शब्दार्थयोरलङ्काराश्चमत्कारेण संयुताः। काव्यपदं समायान्ति यमकरूपकादयः।।
दशविधश्चमत्कारः क्षेमेन्द्रप्रतिपादितः। दृष्थिविषयतां याति कवीनां कण्ठभूषणे।।
प्रदर्शितानि लक्ष्यानि तेन तत्र चमत्कृतेः। तस्या अलौकिकं सर्वं स्वरूपं विशदीकृतम्।।
चमत्कारविचारचर्चा-तृतीय विचार-कारिका-119-124

2. चतुर्विधं तत्। उत्तमोत्तम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अवरञ्च। सर्वाङ्गीणं जीवनं निर्दिशत् महावाक्यं प्रथमम्, जीवनस्यैकदेशं निर्दिशद् द्वितीयम, वस्तुविशेषं मनः स्थितिविशेषं वा प्रकाशयन्मध्यमम, पदार्थमात्रपर्यवसितं त्ववरम्। नानादिक्कालावच्छिन्नानां वाक्यानां पुरुषार्थप्रवर्तकः समूहो महावाक्यम्।
अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-चतुर्थ अध्याय-पृ०-20

प्रसङ्गविशेष का निरूपण करने वाला कमनीय कल्पना विलास मनोहर काव्य उत्तम होता है। जैसे- भारवि, माघ, श्री हर्ष और रत्नाकर आदि आचार्यों के महाकाव्य। हिन्दी में प्रसादकवि का कामायनी महाकाव्य, रेवाप्रसाद द्विवेदी का उत्तरसीताचरित तथा अभिराजराजेन्द्र मिश्र का जानकीजीवन महाकाव्य। पदार्थ-विशेष वैचित्र्य निदर्शक, मनोदशामात्र का प्रकाशक मध्यम काव्य होता है। जैसे - भल्लट प्रभृति के अन्योक्ति काव्य। शब्दाडम्बर युक्त, प्रतिभादारिद्र्य से दैन्य, अतिस्वल्प सुभाषित काव्य अवर होता है। यह किसी एक पदार्थ या वस्तु के वर्णन में पर्यवसित होता है। जैसे- आचार्य मम्मट के चित्रकाव्य का यह पद्य-स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटादीनि। आचार्य त्रिपाठी ने काव्य के इन चतुर्विध आधार पर ही चार प्रकार के कवि तथा समीक्षकों का भी विवेचन किया है। उत्तमोत्तम काव्य का रचयिता सिद्धकवि, उत्तम का साधक, मध्यम का आभ्यासिक तथा अवरकाव्य का रचनाकार घटक कवि कहलाता है। इसी प्रकार चार प्रकार के समीक्षक क्रमशः तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठ, विषयिनिष्ठ और सतृणाभ्यवहारी होते हैं।[1] प्रो० त्रिपाठी ने काव्य के पौरुषेय और अपौरुषेय द्विविध अतिरिक्त भेदों का भी कथन किया है। अपौरुषेय साक्षात्क्रियमाण हैं- यथा- वेद, जो पुरुष आयास जन्य नहीं हैं। पौरुषेय नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के प्रभाव से ग्रथित लोकोत्तरवर्णना निपुण कवि का कर्म होता है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने काव्यभेद के प्रसङ्ग में परम्परा द्वारा प्रतिपादित काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों से इतर काव्यभेद का निरूपण किया है। आचार्य का मत है कि काव्य सहृदयास्वाद्य, कोविदास्वाद्य तथा लोकास्वाद्य, इन तीन रूपों में प्रतिष्ठित होता है। यदि पवित्र सारस्वती सृष्टि (शब्दार्थ

---

1. अङ्गाङ्गि भावः प्राधान्यमेकस्याऽन्यस्य लाघवम्। काव्यस्योत्तमतां ज्ञातुं न प्रामाण्यमर्हति।।
उत्तमोत्तममादौ स्यादुत्तमं तदनन्तरम्। मध्यमं चावरं चैवमित्थं काव्यं चतुर्विधम्।।
सिद्धश्च साधकश्चैव ह्याभ्यासिकस्तथाऽवरः। काव्यभेदानुसारेण कवयोऽपि चतुर्विधाः।।
रचनाप्रवृत्तिदृष्ट्या तत् सूक्ष्मरूपेण भिद्यते। पौरूषेयं तथा चैवापौरुषेयमथो द्विधा।।
चतुर्विधः समीक्षकः- तत्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठः, विषयिनिष्ठः, सतृणाभ्यवहारी चेति।
अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-चतुर्थ अध्याय-परिकर श्लोक तथा वृत्ति-पृष्ठ-20-28

समष्टिमयी कविता) को अधम एवं मध्यम कहा जाता है तो मैं समझता हूँ कि वाणी के गौरव का हनन ही हो गया। चूँकि सहृदय बुधजन व्यङ्ग्यार्थ के अवगम में समर्थ होते हैं, पण्डित लोग भी लक्ष्यार्थ एवं सामान्य जन वाच्यार्थ के प्रति समादरभाव रखते हैं। अतएव काव्य का प्रथम (विभाजित) स्वरूप है- सहृदयास्वाद्य। जो कि परिस्फुरित होते हुए व्यङ्ग्यार्थरूपी प्राणतत्त्व वाला, रमणीय तथा प्रीततम होता है। अब यही सहृदयास्वाद्य काव्य यदि (अन्य आचार्यों की दृष्टि में) उत्तम अथवा उत्तमोत्तमकोटिक हो तो फिर उसमें न मेरी कोई आपत्ति है और न ही मतवैषम्य।[1]

वस्तुतः काव्य की इस त्रिविधता में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय क्रम से आये हुए सहृदय, कोविद एवं लोक का प्राधान्य ही निर्णायक तत्त्व है। जो सहृदय हैं, वे कोविद (पण्डित) नहीं हैं- ऐसा नहीं है। जो पण्डित हैं, वे सहृदय नहीं हैं-ऐसा भी नहीं है। प्रो० मिश्र का मानना है कि कोविदत्व (पाण्डित्य) के रहते हुए भी जिनमें सहृदयता सर्वोपरि होती है, वही सहृदय हैं, उन्हीं के द्वारा आस्वाद्य काव्य को उत्तमकोटिक सहृदयास्वाद्य काव्य कहा गया है। इसी प्रकार सहृदय की अपेक्षा जिन पाठकों में पाण्डित्य का ही प्राधान्य होता है, वे कोविद होते हैं और उन्हीं के द्वारा आस्वाद्य काव्य कोविदास्वाद्य काव्य है। सहृदयत्व एवं कोविदत्व के परिपाक से वञ्चित सामान्य मनीषा वाले लोक के द्वारा आस्वाद्य काव्य को लोकास्वाद्य काव्य कहते हैं। उनका मत है कि काव्य होते हुए भी यदि कोई अभिव्यक्ति मध्यम एवं अधम नामों से जानी जाती है तो फिर पामरों (अधमों) का वार्तालाप ही अच्छा है, न कि काव्य। वस्तुतः काव्यत्व की गरिमा से श्रीमण्डित होता हुआ ही कोई वाक्प्रसार उत्तम बन जाता है।

---

1. काव्यं सहृदयास्वाद्यं कोविदास्वाद्यमेव च। लोकास्वाद्यमिति ख्यातं त्रिविधं रोचते मम्।।
सृष्टिस्सारस्वती पूता प्रोच्यते यदि वाऽधमा। मध्यमा चेति तन्मन्ये वाङ्मयं गौरवं हतम्।।
व्यङ्ग्यार्थाऽवगमे शक्ता यतस्सहृदया बुधाः। पण्डिताश्चापि लक्ष्यार्थे वाच्ये लोकाः समादृताः।।
ततस्सहृदयास्वाद्यमाद्यं काव्यविभाजनम्। भाति प्रीतितमं हृद्यं स्फुरद्व्यङ्ग्यार्थजीवितम्।।
उत्तमं यदि चेदं स्याद्यदि वाऽप्युत्तमोत्तमम्। न तत्र काचिदापत्तिर्वैषम्यं न मतस्य वा।।
अभिराजयशोभूषण–प्रथम अंश–परिचयोन्मेष–कारिका–38–42 तथा वृत्ति।

प्रो० मिश्र ने काव्य के प्रथम भेद सहृदयास्वाद्य काव्य के उदाहरण के रूप में तीन पद्य प्रस्तुत किये हैं। इनमें से प्रथम वेङ्कटरामराघव का दूसरा प्रो० रसिक बिहारी जोशी का तथा तीसरा स्वयं लेखक का है। क्रमशः तीनों को उदाहृत किया जा रहा है। प्रथम पद्य यथा–

> वृन्ते यान्ति पिपीलिकाः कतिपया रोहावरोहश्रमं
> कीटाः केचन मूढमेव च दले स्वापं समातन्वते।
> केऽप्यन्ये शलभा विधूय वदनैस्ताम्यन्ति किञ्जल्कका-
> नेकः केवलमेष सून! मधुपो लेढि त्वदीयं मधु।।[1]

प्रस्तुत पद्य में सारूप्य निबन्धना अन्योक्ति विद्यमान है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव है। आचार्य मिश्र का मानना है कि पण्डितराजजगन्नाथ भी इस प्रकार के पद्यों में निःसन्देह ध्वनितत्त्व की उपस्थिति को स्वीकार करते थे। इस कविता में गुणग्रहणशील किसी विवेक सम्पन्न महापुरुष का प्रकरणोपात्त वर्णन व्यङ्ग्यमुखेन किया गया है। अप्रस्तुतभूत यहाँ वाच्यमुखेन उपस्थित किया गया है। द्वितीय पद्य प्रो० रसिक बिहारी जोशी का है जो इस प्रकार है–

> तीक्ष्णा सा बडिशी तवास्ति नयनं मीनाननच्छेदने
> राधे! कामशरानुविद्धहृदयो मत्स्यो यया बध्यते।
> श्रीकृष्णस्य मनोझषः स्मरजलस्पन्दी यथाऽऽकृष्यते
> तद्वन्मे स्मरतन्त्रचित्तशफरः शीघ्रं तयाऽऽकृष्यताम्।।[2]

इस पद्य में कवि की देवविषयिणी रति का पल्लवन है। उसमें भी वंशी (कटिया) तथा मत्स्यादि के संविधानक की महिमा से, अतिशय दैन्य समर्पित करने वाले कवि की महीयसी भक्तिभावना, कुछ विलक्षण कोटिक ही शोभा उत्पन्न कर रही है। तीसरा पद्य स्वयं प्रो० मिश्र कृत जानकीजीवनम् महाकाव्य का है–

> पल्यङ्कतल्पशयितो रघुवंशभानुः पूर्वप्रतीतिवशगस्तनुजौ स्वपार्श्वे।
> सम्मार्गयन् निशि न तौ समवाप्य विद्ध उन्निद्र एव रजनीं क्षपयाञ्चकार।।[3]

---

1. अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश-परिचयोन्मेष-पृ०-52
2. अभिराजयशोभूषणम्- पृ०-52-53
3. वही-पृ०-53

प्रस्तुत पद्य में अङ्कित व्यभिचारी भाव का निदर्शन है। इसमें शिक्षाग्रहण के लिए वाल्मीकि आश्रम में गये हुए अपने पुत्रों लव तथा कुश की अनुपस्थिति में, वात्सल्य-परिपूर्ण हृदयवाले पिता श्रीराम का, पूर्व प्रतीतिवश पलंग पर बिछी शय्या पर अपने आस-पास बच्चों को खोजने का प्रयास और प्रयास के व्यर्थ हो जाने पर, उचटी हुई नींद वाली खुली आँखों से ही रात को बिता देना। इस वर्णन से चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव का व्यञ्जनावृत्ति से बोध होता है। इस पद्य में बिद्ध तथा उन्निद्र पदों द्वारा उस ताप एवं शून्यता की सम्यक् रूप में अभिव्यक्ति हो रही है।

काव्य के द्वितीय भेद कोविदास्वाद्य काव्य के उदाहरण में प्रो० मिश्र ने चार पद्यों को उदाहृत किया है, जिनमें प्रथम पद्य स्वयं कवि द्वारा प्रणीत धारामाण्डवीयकाव्य का है। दूसरा पद्य प्रो० रसिक बिहारी जोशी का तथा तीसरे और चौथे पद्य आचार्य बच्चूलाल अवस्थी के हैं।

प्रथम पद्य यथा -

धत्ते यो वारिधारां तमिह सविनयं मन्महे भोजमेघं
धत्ते यो वाऽरिधारां सविनयं मन्महे भोजभूपम्।
धत्तेऽयोवारिधारां तमिह सविनयं मन्महे भोजखड्गं
धत्ते यो वा रिधारां तमिह सविनयं मन्महे भोजदेशम्।।[1]

प्रस्तुत पद्य में जलधारा धारण करते भोज मेघ की अरिधारा अर्थात् शत्रु-सैन्य का विदलन करते भोज भूप की, अयोवारिधारा (तलवार की धार का पानी) धारण करते भोज के खड्ग की तथा नर्मदा के जल प्रवाह को धारण करते भोज के देश की परिकल्पना के कारण सभङ्ग एवं अभङ्ग श्लेष की सुन्दरतावश कोई विशिष्टकोटिक कोविदानन्द हो रहा है। द्वितीय पद्य प्रो० जोशी का है-

रागो मे जाङ्गमीतान्ननु भजनविधौ निर्विकल्पे समाधौ
कामो जाहातु वृत्तिं न च विषयविषे मन्मनो बम्भ्रमीतात्।
प्रज्ञा रंरन्तु शास्त्रे मयि विमलकृपा सर्वतो लालसीतात्
कृष्णो राधा प्रियो मां भवजलधिनिधेः किम्पचं तातरीतात्।।[2]

---

1. अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश-परिचयोन्मेष-पृ०-53
2. वही-पृ०-55

इस पद्य में भी यङ्लुगन्त क्रियापदों के समुचित प्रयोग से, कोविदों को आकृष्ट करने वाली कुछ विलक्षण ही साहित्यसुषमा उत्पन्न हो रही है।

प्रो० मिश्र का मत है कि जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का समप्राधान्य हो वहाँ पर भी कोविदास्वाद्यता ही मानना चाहिए। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने आचार्य बच्चूलाल अवस्थी के दो पद्यों को उदाहृत किया है। प्रथम पद्य यथा–

> पश्यन्त्या हृदयं निविश्य सहसा घोरन् मनश्चोरयन्
> को व्याधिस्तव भामिनीति सहसं पृच्छन् स्पृशन नाडिकाम्।
> जिज्ञासुर्मनसो गतिं हृदि करं कृत्वा कचानामृशन्
> मुग्धाया दयितो दयामिव दधद् गोपीविटः पातु वः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में रतिभाव के व्यङ्ग्य होते हुए भी, सम्पूर्ण संविधानक के कल्पनाश्रित मात्र होने के कारण काव्यसौन्दर्य उसके वाच्यार्थमात्र में सीमित दिखाई पड़ता है। मुग्धाङ्गनागोपी का सम्पूर्ण रति–रसायन का अनुभव काल्पनिक ही है न कि यथार्थ।

द्वितीय पद्य इस प्रकार है –

> चाणूरं प्रणिहत्य वेगमहितश्चोत्पत्य मञ्चाद् द्रुतं
> कंसं शोणितकर्दमे क्षितितले सम्पात्य मृद्नन् मुहुः।
> यावत्प्राणवियोजनं स्मितमुखो निश्चयोतयन् पीडयन्
> रङ्गस्थैरभिनन्दितः स भगवानव्यादभव्याशयात्।।[2]

इस पद्य में भी शौर्य, पराक्रम एवं उत्साहाधिक्य के व्यङ्ग्य होते हुए भी सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य रङ्ग द्वारा अभिनन्दित तथा शत्रु मर्दन में जुटे श्रीकृष्ण के ऊपर उछलने, नीचे कूदने, मर्दन, निचोड़ने, पीड़न तथा प्राणवियोजनादि कृत्यों में ही प्रतिबिम्बवत् हो रहा है, जो कि वाच्यार्थ के माध्यम से प्रकट है। अतः इस पद्य में वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ समप्राधान्य स्थिति में हैं।

काव्य के तृतीय भेद लोकास्वाद्य काव्य के उदाहरणस्वरूप प्रो० मिश्र ने प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत लहरीदशकम् के दो पद्यों को उदाहृत किया है। प्रथम पद्य यथा–

---

1. अभिराजयशोभूषण–प्रथम अंश–परिचयोन्मेष–पृ०–55
2. वही–पृ०–56

धम्मिल्लं स्वं घनवनगतं सस्मितं धुन्वती सा
स्कन्धे धृत्वा हरितहरितं शाद्वलानां दुकूलम्।
प्रातः काले जलधिजपयश्चुल्लुके स्वे प्रगृह्य
माताऽऽयाता तनयवदनक्षालनार्थं समीपम्।।[1]

प्रस्तुत पद्य धरित्रीदर्शनलहरी का है। इसमें जर्मनी देश की धरती का लोकोत्तर वर्णन सभी को बरबस आकृष्ट कर लेता है, अतः यह लोकास्वाद्य कोटिक काव्य है। दूसरा पद्य भी लोकास्वाद्य काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें कवि ने गाय के जीवन की विवशता के सदृश भारतीय जनता के प्रतिबिम्ब को चित्रित किया है –

वत्सत्वेऽतिबुभुक्षितां स्वजननीं दूरस्थितामीक्षते
याऽऽपीनं विनिपीड्य दोहनपरैर्दोदुह्यते यौवने।
वार्द्धक्ये बहुखेदिता च वधिकैः सूनागृहं नीयते
सैषा गौरिव भारतीयजनता व्याहन्यते निर्दयम्।।[2]

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने काव्य के तीन नूतन भेदों को लक्षणोदाहरणपूर्वक प्रस्तुत कर पुनः उसके निष्कर्ष का विवेचन किया है। काव्यों की उपर्युक्त विवेचित कोटियों के विषय में प्रो० मिश्र का मानना है कि सहृदयास्वाद्य-काव्य भले ही व्यङ्ग्यार्थ से मण्डित हो और उसी प्रकार कोविदास्वाद्य काव्य भी भले ही पाण्डित्य के परिपाक से समुद्भूत हो तथापि भू-मण्डल में सहृदयों तथा पण्डितों की सङ्ख्या निश्चित रूप से अल्पीयसी होने के कारण सत्काव्य लोकास्वाद्य की ही प्रतिष्ठा है। लोकास्वाद्य प्रदान करने वाली कवितारूपी नवयौवनानर्तकी निश्चित रूप से अपनी स्वभावोक्तियों द्वारा रसज्ञों के चित्त को आकृष्ट कर नृत्य करती है। माधुर्यादि गुणों से गुम्फित तथा अतिशय उदात्त वर्णनों से भङ्गिमा को प्राप्त जो लोक (समाज) का यथेष्ट अनुरञ्जन करती है, मेरी (कवि की) दृष्टि में वही कविता 'कविता' है।[3]

1. अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश-परिचयोन्मेष-पृ०-57
2. वही-पृ० 57
3. कामं सहृदयाऽस्वाद्यं काव्यं व्यङ्ग्यार्थमण्डितम्। तथैव कोविदास्वाद्यं पाण्डितीपरिपाकजम्।।
निश्चप्रचं धराऽभोगेऽल्पसङ्ख्यत्वात्सचेतसाम्। कोविदानाञ्च सत्काव्यं लोकास्वाद्यं महीयते।।
लोकास्वादवती नूनं कवितानर्तकी नवा। स्वभावोक्त्या रसज्ञानां चित्तमाकृष्य नृत्यति।।
या वक्राऽतिशयोदात्तैर्वर्णनैर्गुणगुम्फितैः। लोकं रञ्जयति प्राज्यं सा कविता मता मम्।।
अभिराजयशोभूषणम्-पृ०-58, कारिका - 43-46

इसलिए मात्र व्यङ्ग्यार्थ-संवलित कविता ही कवि के लिए श्रेयष्करी नहीं होती और न ही मात्र लक्ष्यार्थ से युक्त कविता प्रशंसनीय होती है, अपितु भगवती सरस्वती की सत्कृपा से प्राप्त, नूतनाभिप्रायो से ओत-प्रोत सरल पदबन्धों वाली, लोकवृत्तों के संस्पर्श से जीवन्त, मनोरम संवेदना वाली उच्चकोटिक लोकास्वाद्य कविता भी पाठकों के हृदय की गहराई में उतर जाती है, तथापि बावड़ी-नदी-कूप एवं सागर समूहों के होते हुए भी जिसकी प्यास जहाँ बुझ जाय वहीं उसका जीवन है।[1]

अतः काव्य केवल सहृदयों एवं पण्डितों के लिए नहीं होता। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाये तो उनकी परिमित सङ्ख्या होने के कारण, काव्य का क्षेत्र ही अत्यन्त सङ्कुचित हो जायेगा। वस्तुतः यह काव्य तो समस्त लोक का ही अनुरञ्जन करता है। उसमें भी मुख्यता लोक (साधारण समाज, जनता जनार्दन) की ही है। क्योंकि वह सहृदयों की तरह व्यङ्ग्यार्थ मात्र से अथवा पण्डितों की तरह पाण्डित्य मात्र से आह्लादित नहीं होता है। लोक स्वभावोक्ति श्रवण-कातर होता है जो माधुर्यादि गुणों से गुम्फित भङ्गीभणितियों तथा अतिशय उदात्त वर्णनों से ही मुग्ध होता है। वक्रादि पदों द्वारा प्रो० मिश्र ने वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति तथा उदात्तादि अलकारों की ओर संकेत किया है तथा बतलाया कि ये समस्त अलंकार लोकास्वाद्य काव्य के प्राणतत्त्व हैं।[2]

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने अपनी अद्भुत प्रतिभा परिपक्वता का परिचय देते हुए काव्य के तीन नूतनोद्भूत भेदों का सम्यक् निरूपण किया है, जो वास्तव में सहृदय तथा कोविद जनों द्वारा ही नहीं अपितु समस्त जनसाधारण जनों द्वारा भी समादृत करने योग्य हैं, क्योंकि इन काव्य भेदों में उन्हें पढ़कर या श्रवणकर सहज ही रसानुभूति हो सकती है। काव्य के विवेचित इन तीन भेदों

---

1. न व्यङ्ग्यार्थवती तस्मात्केवलं श्रेयसे कवेः। न चापि कविता श्लाघ्या केवलं भक्तियोगिनी।।
शारदासत्कृपावाप्ता नवाभिप्रायमेदुरा। अक्लिष्टपदबन्धाऽढ्या लोकसंस्पर्शचिन्मयी।।
लोकास्वाद्याऽपि कविता संवेदनमनोरमा। गाहते हृदयं गाढं पाठकानामनुत्तमा।।
किञ्च, वापीसरित्कूपसागरौघेषु सत्स्वपि। यस्य यत्र तृषा शाम्येत्तस्य तत्रैव जीवनम्।।
अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश-परिचयोन्मेष-कारिका-47-50
2. अभिराजयशोभूषण-प्रथम अंश, पृ०-59-वृत्तिभाग

यथा–सहृदयास्वाद्य, कोविदास्वाद्य तथा लोकास्वाद्य में भी कवि ने लोकास्वाद्य काव्य को श्रेयष्कर बतलाया है। उनका मानना है कि लोक में सहृदय तथा कोविद जनों की सङ्ख्या सीमित है तथा जनसाधारण की कोई सीमा नहीं है। इसलिए कवियों द्वारा निर्मित, स्वभावोक्तियों, माधुर्यादिगुणों एवं श्रवणानन्दोक्तियों से युक्त लोकास्वाद्यकाव्य श्रेष्ठतम है। आचार्य मिश्र ने इन त्रिविध भेदों को काव्यशाखा बतलाकर, इसका विवेचन अभिराजयशोभूषणम् के काव्यशाखाप्रकरण के अन्तर्गत परिचयोन्मेष नामक प्रथम खण्ड में किया है।

विधा पर आधारित काव्य भेद : अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक अर्वाचीन आचार्यों ने काव्य की समस्त विधाओं यथा–नाटक, महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, रूपक, एकाङ्की, आदि में काव्यसर्जन किया है। जिस प्रकार काव्यरचनाकारों ने प्राचीन एवं अर्वाचीन सन्दर्भों का संग्रह कर रचनाएँ की हैं, उसी प्रकार किञ्चिद् आचार्यों ने इनके स्वरूप का भी निर्धारण किया है। संस्कृत के कतिपय कवियों ने विदेशी काव्य विधा यथा–विल्वपत्र (हाईकू) काव्य, तान्काकाव्य (जापानी विधा); सीजोकाव्य विधा (दक्षिण कोरिया) में भी काव्य रचनाएँ की हैं। आचार्यों ने उनके भी स्वरूप (लक्षण) का निर्धारण किया है। इन कवियों में प्रो० राजेन्द्र मिश्र, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, श्रीनिवासरथ तथा प्रो० हर्षदेव माधव आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राचीन सन्दर्भों के ग्रहणीय विषयों को उपस्कृत करते हुए अर्वाचीन इन आचार्यों ने काव्य के समस्त भेदों को आधुनिक सन्दर्भों के अनुरूप प्रस्तुत किया है। प्राचीन महाकाव्यों के नायक जहाँ राजादि हुआ करते थे, वहीं राजतन्त्र की परिसमाप्ति के अनन्तर जनतन्त्र का प्रादुर्भाव होने से, आचार्यों ने प्रचुर मात्रा में जनतन्त्र नायकों को उद्देश्य करके महाकाव्यों का प्रणयन किया है। इनमें स्त्री–पुरुष दोनों का प्राधान्य है। इस सदी के कई महाकाव्यों की प्रमुख नायिकाएँ स्त्रियाँ भी हैं। इनमें से जवाहरलालनेहरूचरितम्– (अमीर चन्द्र शास्त्री), इन्दिराजीवनम्–(वलभद्रप्रसाद शास्त्री), झाँसीश्वरी चरितम्–(सुबोधचन्द्र पन्त), तिलकयशोऽर्णवः–(माधव हरि अणे), नेहरू– चरितम् और गान्धिचरितम् (ब्रह्मानन्द शुक्ल), सुभाषचरितम्– (विश्वनाथकेशवछत्रे) आदि आधुनिक नायक–नायिका प्रधान प्रमुख महाकाव्य हैं। इन्हीं सब के आधार पर इस सदी

के तीन आचार्यों- प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो० राजेन्द्र मिश्र और प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी ने महाकाव्य, नाटक तथा अन्यान्य काव्यविधाओं के लक्षणों को प्रस्तुत किया है। इनका विवेचन क्रमशः किया जा रहा है।

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने सर्वप्रथम काव्य के दो भेदों को बतलाया है- पाठ्य और दृश्य[1] । इसके अनन्तर भाषा, अर्थचमत्कृति, कविदृष्टि, बन्ध, रीति और इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर काव्य के भेदों को बतलाया है।

काव्यविधाविभाजन

भाषार्थचमत्कृति-कविदृष्टि-बन्ध-रीतिन्द्रियाणि आधृत्य काव्यविधा-विभाजनम्-

प्रो० त्रिपाठी के अनुसार भाषा के आधार पर काव्य- भेद की द्विविध सञ्ज्ञा होती है। संस्कृत महाकाव्य और आङ्गलनाटक। अर्थोपलब्धि की दृष्टि से (i) उत्तमोत्तम (ii) उत्तम और (iii) मध्यम। कवि की दृष्टि से काव्य के दो प्रकार हैं- विषय प्रधान और विषयिप्रधान। इनमें प्रथम वहिर्मुखता तथा दूसरा अन्तर्मुखता के कारण होता है। महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि विधा विषय प्रधान हैं। मुक्तक, गजल, गीति आदि प्रायः विषयि प्रधान होते हैं। बन्ध की दृष्टि से भी दृश्य-श्रव्यात्मक काव्य दो प्रकार का होता है- निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध में प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य, खण्डकाव्य नाटकादि अाते हैं तथा अनिबद्ध में मुक्तक, गीत, गजल, गीति इत्यादि की गणना की जाती है। रीति के आश्रित श्रव्यकाव्य के ही तीन भेद आते हैं- गद्य, पद्य और चम्पू। उपर्युक्त विवेचित समस्त काव्य, पद्य काव्य भेद हैं तथा गद्य के अन्तर्गत-निबन्ध, आलोचना, कथा, उपन्यास, संस्मरण, जीवनचरित, आत्मकथा, रेखाचित्र, यात्रावृत्तान्त, दैनन्दिनी, वार्ता और साक्षात्कार आदि भेद आते हैं । इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर दृश्य और श्रव्य दो भेद होते हैं।[2]

---

1. द्विविधं तत्-पाठ्यं दृश्यं च।
अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण-काव्यविशेषविमर्श-सूत्र-3-1-1
2. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण-पृ०-146, सूत्र-3-1-2

महाकाव्य का लक्षण और भेद–पद्यात्मकं समग्रजीवननिरूपणपरं महाकाव्यम्। गीतैतिह्य पुराण लोककथाभेदादस्य नानात्वम्– पद्यात्मक समग्र जीवन निरूपण युक्त, महाकाव्य होता है। गीत, इतिहास–पुराण, लोक–कथा आदि भेद से यह अनेक प्रकार का होता है।[1]

प्रो० त्रिपाठी ने व्यासकृत श्रीमद्भगवद्गीता को भी महाकाव्य बतलाया है। इस सदी के संस्कृत साहित्य में अनेक महाकाव्य गीता का अनुसरण कर लिखे गये हैं। यथा–पण्डिता क्षमारावकृत सत्याग्रहगीता और उत्तरसत्याग्रहगीता तथा स्वयं प्रो० त्रिपाठी ने भी सत्यानन्दगीता की रचना की है। अतः उन्होंने प्रथमतः गीतामहाकाव्य के लक्षण को अधोलिखित पद्यों में उपस्थापित किया है–

गीतामहाकाव्यलक्षण

संघर्षे तुमुले द्वन्द्वे युगीने समुपस्थिते।
देशजातिसमाजानामवस्थां निर्दिशत् क्रमात्।।
वर्णयत् तत्प्रसङ्गेन महापुरुष जीवनम्
विश्वरूपं वैश्विकं वाऽपि दर्शनं कर्मणां गतिम्।।
कर्मयोगस्य तत्त्वं च सकलं समुदाहरत्।
गीतानाम महाकाव्यभेदो ज्ञेयो बुधैरसौ।।
सर्गा अष्टादशप्राया भवन्त्यध्यायसंज्ञकाः।।[2]

इसके अतिरिक्त प्रो० त्रिपाठी ने इतिहास, कथा–आश्रित महाकाव्य को ऐतिहासिक महाकाव्य बतलाया है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने रघुवंश अथवा लेनिनामृत महाकाव्य को प्रस्तुत किया है। पौराणिक वृत्त को लेकर रचित महाकाव्य पौराणिक होता है। यथा– किरातार्जुनीयम् अथवा शिशुपालबधम्। लोककथा आश्रित महाकाव्यों में बृहत्कथा अथवा कथासरित्सागर की गणना की है।

जीवनस्यैकदेशनिरूपकं खण्डकाव्यम् – जीवन के एक देश (भाग) का निरूपण करने वाला खण्डकाव्य होता है। प्रो० त्रिपाठी ने इसके उदाहरण

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र–पृ० 146, सूत्र–3–1–3
2. वही–तृतीय अधिकरण, पृ० 147

स्वरूप मेघदूत को बतलाया है।[1] संघात, स्तोत्रकाव्य, लहरीकाव्य, सन्देशकाव्य, अन्यापदेशकाव्य, नीतिकाव्य, गीतिकाव्य और रागकाव्य आदि इसके भेद होते हैं। लहरीकाव्य का लक्षण प्रो० त्रिपाठी ने इस प्रकार बतलाया है–

लहरीकाव्यलक्षण

पारावरे चेतसि उद्गच्छन्ति च मुहुः संघट्टन्ति।
भावतरङ्गास्तेषां व्यक्तीकरणं भवेल्लहरी।।[2]

चित्त की गहाराई में जो भाव तरङ्गे उठती हैं, उनका व्यक्तीकरण लहरी काव्य कहा जाता है।

गीतलक्षण

तदेवान्त्यानुप्रासध्रुवकान्वितं गीतम्– अन्त्यानुप्रास अलङ्कार ही ध्रुवक से अन्वित होने पर गीत कहा जाता है।[3] यथा– तदेवगगनं सैव धरा। इस सम्बन्ध में अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है–

संक्षिप्तिर्भावमयता रागो व्यक्तिगतस्तथा।
तानवं तानवान्मुक्तिरिमे गीतगता गुणाः।।

रागकाव्यलक्षण

विविधै रागैर्गेयं ध्रुवकान्वितगीतिसंयुतं रागकाव्यम्– विविध रागों में गेय, ध्रुवक से अन्वित तथा गीति संयुत रागकाव्य होता है।[4] यथा– गीतगोविन्द तथा स्वयं प्रो० त्रिपाठी विरचित गीतधीवरम्।

मुक्तककाव्यलक्षण–अनिबद्धं तु मुक्तकम्-मुक्तक अनिबद्ध होता है।[5] अथात् जो पद्य पूर्वापर रूप से निरपेक्ष होते हुए भी रसचर्वणा करता है, वह मुक्तक कहलाता है।

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण-सूत्र-3-1-4
2. वही-पृ०-147
3. वही-पृ०-148- सूत्र-3-1-5
4. वही-पृ०-148-सूत्र-3-1-6
5. वही-पृ०-148-सूत्र-3-1-7

मुक्तच्छन्दकाव्यलक्षण– अन्त्यानुप्रासादिविहीनं परिमुक्तपैङ्गलं लयान्वितं काव्यं मुक्तच्छन्दम्– अन्त्यानुप्रासादि विहीन, छन्दमुक्त तथा लय से अन्वित काव्य मुक्तछन्द होता है।[1]

गजलगीतिलक्षण– द्विपदिकाभिर्निबद्धा गीतिर्गजलमुच्यते– दो पादों (द्विपदिका–पादयुगल) में निबद्ध गीति को गजल कहा जाता है। इसके प्रत्येक पाद युगल को शेर कहा जाता है। अथवा इसे मतला भी कहते हैं और दो पद्यों के एक चरण को मिसरा कहते हैं। गजल में पाँच या पाँच से अधिक पाद युगल होते हैं। इसमें अन्त्यश्रुति को रदीफ तथा उपान्त्यश्रुति को काफिया कहा जाता है। अन्तिम पाद युगल को मक्ता कहा जाता है।[2]

समस्याकाव्यलक्षण– प्रदत्तपदावल्याः पूर्तौ समस्या– प्रदत्त पदावली की पूर्ति समस्याकाव्य है। इसे समस्यापूर्ति भी कहते हैं। गजल, गीति के सदृश यह भी द्विविध होता है। एक अभिप्राय अन्वित और विभिन्न अभिप्राय अन्वित। प्रथम समस्त पद्यों में विषय एक ही होता है और द्वितीय में प्रतिपद्य का विषय भिन्न होता है।[3]

गद्यभेद– निबन्ध, कथा, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा, रेखाचित्र, जीवनचरित और यात्रावृत्त आदि गद्यकाव्य के भेद कहे गये हैं।

निबन्धलक्षण– विचार विशेषस्य भावविशेषस्यगद्येन बन्धो निबन्धः– विचार–विशेष, भाव–विशेष का गद्य में निबन्धन निबन्ध है। यह विषयप्रधान और विषयिप्रधान से द्विविध भेद वाला होता है। विषय प्रधान में विचार, चिन्तन की प्रधानता होती है। विवरणात्मक, वर्णनात्मक तथा विचारात्मक भेद से यह तीन प्रकार का होता है। विषयिप्रधान में वैयक्तिभाव का प्राधान्य होता है। यह दो प्रकार का होता है– भावात्मक और ललित–निबन्ध।[4]

कथा–लक्षण–जीवनस्यैकदेशनिरूपणपरमाख्यानं कथा– जीवन के एकदेश का निरूपण करने वाले आख्यान को कथा कहा जाता है। इसमें साक्ष्य, द्वन्द्व अलङ्कारों का विशिष्यापेक्ष्य होता है।[5] भट्टमथुरानाथ

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र–तृतीय अधिकरण–पृ०–149–सूत्र–3–1–8
2. वही–पृ०–150–सूत्र–3–1–9
3. वही–पृ०–150–सूत्र–3–1–10
4. वही–सूत्र–3–1–11
5. वही–पृ०–152–सूत्र–3–1–12

शास्त्री, पण्डिताक्षमाराव तथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र कृत कथाएँ इसके उदाहरण हैं।

उपन्यासलक्षण-गद्यबद्ध उपन्यासो महाकाव्यमयी कथा- गद्य में निबद्ध महाकाव्यमयी कथा को उपन्यास कहते हैं। इसमें उदात्त अलङ्कार अवश्य होता है। उपन्यास में कथारम्भ, संघर्ष, आरोह और अवसान चार अवस्थाएँ होती हैं। घटना-प्रधान, सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आञ्चलिक तथा जीवनचरितात्मक आदि उपन्यास के भेद होते हैं।[1]

संस्मरणलक्षण- यथावृत्तस्य स्मृत्या आख्यानं संस्मरणम्- स्मृत वृत्त का यथावत् आख्यान (कथन) करना संस्मरण कहा जाता है। इसका स्पष्टीकरण प्रो० त्रिपाठी ने अधोलिखित पद्य में किया है-

संस्मरणे तु प्राधान्यं स्मृतेः स्यादलङ्कृतेः।
घटनाश्च प्रसङ्गाश्च व्यक्तयो जातयस्तथा।।
यथा साक्षात्कृताः पूर्वं तथैव स्युर्निरूपिताः।।
साक्ष्यनामा ह्यलङ्कारः पूर्वं यः परिभाषितः।
संस्मरणाख्ये काव्येऽसौ सविशेषं स्मृतिसङ्गतः।।
अलङ्कारास्तथा चान्ये प्रेम, नर्म, विषादनम्।
अङ्गभावमिमे प्राप्ता व्यङ्ग्यं छायादयोऽपि वा।।[2]

रेखाचित्रलक्षण- शब्दैर्घटनाया व्यक्तेश्चित्रमिव निर्मितं रेखाचित्रम्- शब्दों के द्वारा व्यक्ति के चित्र सदृश घटनाओं का वर्णन रेखाचित्र कहा जाता है। इसमें स्वभावोक्ति अथवा जाति अलङ्कार का सर्वथा प्राधान्य होता है। रेखाचित्र विषय प्रधान होता है और संस्मरण विषयिप्रधान।[3]

जीवनचरितलक्षण- कस्यचिन्महापुरुषस्य प्रेरणाप्रदं चरितनिरूपणं जीवनचरितम्- किसी महापुरुष का प्रेरणाप्रद चरित निरूपित करने वाला जीवनचरित होता है। यह कहीं पद्यात्मक भी होता है। यथा- पण्डिताक्षमाराव कृत शङ्करजीवनाख्यानम्।[4]

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण--पृ०-153-सूत्र-3-1-13
2. वही-पृ०-152-सूत्र-3-1-14
3. वही-पृ०-152-सूत्र-3-1-15
4. वही-सूत्र-3-1-16

आत्मकथालक्षण-जीवनचरितस्यैव प्रकार विशेष आत्मकथा- जीवनचरित के ही प्रकार विशेष को आत्मकथा कहा जाता है। इसमें कवि अथवा प्रणेता स्वयं अपने चरित का वर्णन करता है। अहङ्कार और साक्ष्य अलङ्कार इसके सौन्दर्यवर्धक होते हैं।[1] आंग्लभाषा में वर्टेण्डरसल महोदय, विंस्टनचर्चिल तथा संस्कृत में महात्मागाँधी और पंडित नेहरू आदि की आत्म कथाएँ इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

यात्रावृत्तलक्षण- यात्राया यथानुभूतं वर्णनं यात्रावृत्तम्- कवि द्वारा कृत यात्रा का यथानुभूत यथादृष्ट वर्णन यात्रा वृत्त कहा जाता है। स्थल विशेष का भौगोलिक, सांस्कृतिक और समग्र वैशिष्ट्य इसमें विशदता के साथ प्रतिभासित होता है।[2]

दृश्यकाव्यलक्षण- दृश्यं तु रूपकम्। तच्च द्विविधं-एकाङ्कं नाटकं च- दृश्य रूपक होता है और वह एकाङ्क और नाटक के भेद से द्विविध होता है। एकाङ्क प्रहसन होता है। भाणादि का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है और नाटक में प्रकरणादि का। एकाङ्क में प्रसङ्ग विशेष वाली एक ही घटना का निरूपण होता है तथा नाटक में एकाधिक अङ्कों में समग्र जीवन का।[3]

प्रो० राजेन्द्र मिश्र का मत है कि शब्दार्थ रूपी शरीर वाला यह रसात्मक काव्य अभिरुचि एवं रूप (आकार-प्रकार) के भेद से निर्मिति दृष्ट्या भिन्न होता है। जिस प्रकार कुम्भकार अपनी अभिरुचि के अनुसार घूमते हुए चक्र पर विविध आकृति वाले पात्रों का निर्माण करता है, परन्तु अभिरुचि भेद के कारण उसमें भिन्नता आ जाती है, उसी प्रकार कवि की प्रीति के कारण यह काव्य भी पृथक्-पृथक् रूप वाला होता है। रूप की दृष्टि से भी काव्य आपस में भिन्न होते हैं। गद्य, पद्य एवं मिश्र, काव्य के ये तीन रूप पूर्वाचार्यों द्वारा बतलाये गये हैं। इन तीनों भेदों के भी अनेक प्रभेद हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा एतद्विषयक पुष्कल सामग्री निरूपित की जा चुकी है, फिर भी उस सामग्री के साथ अधुनातन पक्ष मेरे (प्रो० मिश्र) द्वारा जोड़ा जा रहा है। काव्य के जो विशिष्ट भेद पहले राजा को दृष्टि में रखकर कल्पित किये गये थे, वे राजतन्त्र की समाप्ति के साथ कालातीत हो गये तथा लोकतन्त्र के प्रतिष्ठित होने से सद्गुणों

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण-पृ०-पृ०-153-सूत्र-3-1-17
2. वही-पृ०-153-सूत्र-3-1-18
3. वही-153-54-सूत्र-3-1-19-20

के आधार नये प्रकार के मुखिया लोग लोकनायक बने हैं। अतः इन प्रशस्तचरित वाले लोगों को आश्रय बनाकर श्रेष्ठ कविजनों द्वारा (आज) काव्य लिखे जा रहे हैं।[1]

इसके अतिरिक्त प्रो० मिश्र ने संस्कृत के उन भारतीय कवियों की प्रशंसा की है, जिन्होंने विदेशी विधाओं में काव्य रचनाएँ की हैं। उनका मत है कि दूसरी (देशी अथवा विदेशी) भाषाओं में प्रयुक्त काव्य की कुछ विधाएँ जो कि भाव संवेदन में समर्थ हैं तथा लोकप्रियता अर्जित कर चुकी हैं। ऐसी हाइकू, तान्का आदि विधाएँ आजकल संस्कृत रचनाकारों द्वारा आत्मतुष्टि के लिए भावाभिव्यक्ति हेतु ग्रहण की जा रही हैं। प्रो० मिश्र का कहना है कि मैं सचमुच उसे अनुचित नहीं मानता; क्योंकि उससे कवि की अपनी अभिरुचि का पोषण होता है। काव्यविधाओं के कल्पितत्त्व के कारण भी मैं उन्हें अनुचित नहीं मानता। समस्त कवि, शास्त्रकार एवं पण्डित सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होते हैं। बबर शेर की भाँति वे भला बने बनाये मार्ग पर कैसे चल सकते हैं? अतएव विषम चित्तवृत्ति वाले उन कवियों के मतभेदों की जय हो, जिनकी महिमा से ही काव्यशास्त्र का अतिशय विस्तार हो चुका है। प्रो० मिश्र का मानना है कि जिस प्रकार विधाता की (पिण्डज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज) चतुर्विध यह सृष्टि उनके रुचि वैचित्र्य पर आधारित है, ठीक उसी प्रकार प्रभूत विस्तार वाला वाङ्मय भी कवियों के रुचिवैषम्य से विकसित हुआ है। इसलिये यह

---

1. काव्यं रसात्मकं चेदं शब्दार्थैककलेवरम्। भिद्यते खलु निर्मित्या रुचिरूपप्रभेदतः।।
कुलालो हि भ्रमच्चक्रे स्वरुचिं पोषयन्यथा। विविधाकृतिपात्राणि निर्मात्येव निरन्तरम्।।
कुलालरुचिभेदाद्धि पात्रभेदः प्रजायते। यथा, तथा कवेः प्रीत्या काव्यमेतत्पृथक्पृथक्।।
रूपदृष्ट्यापि काव्यानि भिद्यन्ते हि परस्परम्। गद्यं पद्यञ्च मिश्रञ्च त्रयमेतदुदाहृतम्।।
प्रभेदा बह्वस्तत्र सन्ति गद्यादिषु त्रिषु। सविस्तरञ्च तत्सर्वं मया सम्प्रति तन्यते।।
पुष्कला खलु सामग्री पूर्वाचार्यैर्निरूपिता। संयोज्यते तया सार्धं स्वपक्षोऽप्यधुनातनः।।
काव्यस्य ये प्रभेदाः प्राग्भूपदृष्ट्यैव कल्पिताः। समाप्ते राजन्त्रे ते कालातीता अथाऽभवन्।।
नूतनाश्चापि धौरेया लोकतन्त्रे प्रतिष्ठिते। सञ्जाताः सद्गुणाधारा लोकनायकताङ्गता।।
तादृग्गुणविशिष्यन्वै प्रशस्तचरिताश्रयान्। समालम्ब्यापि काव्यानि प्रणीयन्ते कवीश्वरैः।।
अभिराजयशोभूषणम्-निर्मितितत्वोन्मेष-चतुर्थ अंश-कारिका 1-9

प्रशंसनीय तथा सृष्टिबीजभूत वैषम्य समस्त क्षेत्रों में अभिनन्दन योग्य है, ऐसा मेरा (कवि का) विचार है।[1]

पुनश्च प्रो० मिश्र का कथन है कि प्राचीन जो कुछ भी आज के युग में उपादेय है, प्रासंगिक है, उत्तमकोटिक है, ताजा है, अपरिहार्य है तथा नये रचनाकारों के लिए पथप्रदर्शक है, उसे विवेक-पूर्वक ग्रहण कर, तटस्थता (पूर्वाग्रहमुक्तता) का सहारा लेकर, काव्यकारों के कल्याणार्थ, मैं (कवि मिश्र) काव्य प्रकारों का निरूपण कर रहा हूँ, जिसे दृश्य एवं श्रव्य प्रकारों के माध्यम से सर्वप्रथम दो प्रकार का बतलाया गया है।

1. दृश्य काव्य

दृश्य काव्य की कुछ और भी सञ्ज्ञाएँ हैं- रूप, रूपक तथा नाट्य। दृश्यता (दर्शनेन्द्रियता) के कारण दृश्य काव्य को रूप कहते हैं, अङ्गोपाङ्ग का सञ्चालन होने के कारण उसे नाट्य कहते हैं तथा नटों के ऊपर रामादि पात्रों के रूप का आरोप होने के कारण उसे रूपक कहते हैं। काव्य के दोनों भेदों में दृश्यकाव्य प्रयोगकर्मी अभिनेताओं द्वारा रङ्गमञ्चाभिनेय तथा अवस्थाओं के अनुकरण से युक्त, नेत्रों एवं कर्णों के लिए रसायन कल्प होता है। जो प्राचीन कथावस्तु को निस्संदेह समक्ष उपस्थित कर दे, वही अभिनय कहा जाता है तथा वह विद्वज्जनों द्वारा चार प्रकार का (आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक) बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक अपने स्थान (सन्दर्भ) पर प्रमुख होने के कारण महनीय होता है। यह दृश्य काव्य पुनः आचार्यों द्वारा द्विधा विभक्त किया गया है- (1) रूपक (2) उपरूपक। नाटक, प्रकरण, भाण,

---

1. केचित्काव्यप्रकाराश्च भाषान्तरप्रयोजिताः। ये हि लोकप्रियाः सन्ति भावसंवेदनक्षमाः।।
आत्मतुष्ट्यर्थमद्यत्वे हाईकू-तानकादयः। संस्कृतरचनाकारैरभिव्यक्त्यर्थमाहताः।।
तच्च नाऽनुचितं मन्ये नूनं स्वरुचिपोषणात्। कल्पितत्वात्प्रकाराणां काव्यस्यापि सुनिश्चितम्।।
स्वतन्त्राः कवयस्सर्वे शास्त्रकाराश्च पण्डिताः। निर्मितेन पथा यान्ति क्व ते कण्ठीरवा इव।।
जयन्तु मतभेदास्ते तेषां विषमचेतसाम्। यन्महिम्नैव सञ्जातं काव्यशास्त्रं वृहत्तमम्।।
रुचिवैचित्र्यमूलैव सृष्टिरेषा चतुर्विधा। रुचिवैषम्यमूलञ्च वाङ्मयं भूरिविस्तरम्।।
ततश्चेदं नु वैषम्यं सृष्टिबीजमनिन्दितम्। अभिनन्द्यं हि सर्वेषु क्षेत्रेष्विति मतिर्मम।।
अभिराजयशोभूषणम्- निर्मितितत्वोन्मेष-चतुर्थ अंश-कारिका-10-16, पृ० 196-97

प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, वीथी तथा अंक- ये दश रूपक के भेद बतलाये गये हैं। जहाँ जैसा उचित है इनके नायक देव अथवा मानवकोटिक होते हैं।[1]

नाटक, भाणिका, गोष्ठी, दुर्मल्ली (दुर्मल्लिका), विलासिका, त्रोटक, सट्टक, काव्य, रासक, नाट्यरासक, संलापक, श्रीगदित, प्रेङ्खण (प्रेक्षणक), शिल्पक, हल्लीश, प्रकरणी, प्रस्थान तथा उल्लाप्यक- ये 18 भेद नाट्याचार्यों द्वारा उपरूपक के बतलाये गये हैं जो प्रायेण एकाङ्की कोटिक हैं। इनके लक्षण तथा उदाहरण पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं। इनमें लोकप्रियता को प्राप्त नाटक आज भी पुष्कल मात्रा में लिखा जा रहा है। अतः प्रो० मिश्र ने इन काव्य-प्रकारों का जो युगानुकूल नवीन लक्षण किया है, उसको प्रस्तुत किया जा रहा है-

नाटक का लक्षण

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
पञ्चभिः सप्तभिश्चाङ्कैर्दशभिर्वा प्रपञ्चितम्।।
धीरोदात्तो भवेन्नेता प्रतापैश्वर्यमण्डितः।
देवो भूपोऽथवा कश्चिद् गुणवाँल्लोकनायकः।।
नायकस्थापने यत्र लिङ्गभेदो न गण्यते।
महिलापि ततो नेता स्यादौदात्यमहीयसी।।

---

1. प्रत्नं यच्चाप्युपादेयं प्रासङ्गिकमथोत्तमम्। प्रत्यग्रमपरिहार्यं नवानां मार्गदर्शकम्।।
तदादाय विवेकेन ताटस्थ्यञ्च समाश्रयन्। करोमि काव्यकृद्भूत्यै काव्यभेदनिरूपणम्।।
दृश्यश्रव्यप्रकाराभ्यामादौ काव्यं द्विधा मतम्। रूपरूपकनाट्यानि दृश्यनामान्तराणि च।।
रूपं दृश्यतयाऽऽख्यातं नाट्यमङ्गप्रचालनात्। नटे रामादिरूपाणामारोपादथ रूपकम्।।
दृश्यं तत्राभिनेयं स्यादधिमञ्चं प्रयोक्तृभिः। अवस्थानुकरणाद्यं नेत्रश्रुतिरसायनम्।।
यो हि प्रत्नं कथावस्तु समक्षमानयेद् ध्रुवम्। स एवाभिनयः ख्यातः प्रेक्षावद्भिश्चतुर्विधः।।
आङ्गिकवाचिकाहार्यः सात्त्विकश्चान्तिमो मतः। प्रत्येकमेषां स्वस्थाने प्रामुख्येण महीयते।।
दृश्यकाव्यमिदं भूयो विभक्तं सूरिभिर्द्विधा। रूपकं प्रथमं तत्र द्वितीयमुपरूपकम्।
नाटकं च प्रकरणं भाणः प्रहसनं तथा। व्यायोग समवकारौ डिमेहामृगवीथयः।।
अङ्कश्चेत्युपदिष्यनि रूपकाणि पुनर्दश। यथोचितं गृहीतानि देवमानवनायकैः।।
अभिराजयशोभूषणम्- निर्मितितत्वोन्मेष-चतुर्थ अंश-कारिका-17-26

शृङ्गारः करुणो वीरश्शान्तो वाङ्गी रसो भवेत्।
शेषा यान्तु तदङ्गत्वं स्यान्निर्वहणमद्भुतम्।।
राष्ट्रोदयं गुणैश्वर्यं लोकजीवनमङ्गलम्।
न्यायसत्यदयाधर्मसौजन्यादिसृतेर्जयम् ।।
स्थापयेन्नाटकं नूनं लक्ष्यीकृत्य यथोचितम् ।
येन लोकस्सदाचारोच्छ्रितमार्गं समाश्रयेत् ।।
उद्वेगाऽमङ्गलव्रीडारक्तपातादिसंश्रितम् ।
दृश्यं न चित्रयेन्नाट्ये रङ्गविक्षोभकारकम्।।
यच्च सत्यं शिवं भूयात्सुन्दरञ्च सुखावहम्।
जनानुरागवर्धिष्णु तत्परिकल्प्य वर्णयेत्।।[1]

प्रो० मिश्र का मत है नाटक के अतिरिक्त प्रकरण आदि (दशरूपक भेदों) का इतिवृत्त जैसा साहित्यदर्पण में व्यवस्थित है, वैसा ही ग्रहण करना चाहिये। उस विषय में मेरा (कवि का) कोई वैमत्य नहीं है। उपरूपकों के लक्षण को भी रचनाकारों को साहित्यदर्पण से ही ग्रहण कर, रचना करनी चाहिए।[2] इस युग में विशेषकर रूपकों में केवल नाटक ही प्रचुर रूप से लिखा जा रहा है तथा उपरूपकों में नाटिका की रचना की जा रही है। इस युग के अनेक आचार्यों ने प्रहसन भी लिखे हैं, परन्तु इसके लक्षण में एकरूपता लेखकों ने नहीं वरती है। रूपक तथा उपरूपक के अन्यान्य भेद प्रायः नहीं ही रचे गये हैं। उदाहरणार्थ नाटकों में राष्ट्रोदय पर लिखित नाटक यथा- मूलशङ्करयाज्ञिक कृत प्रतापविजय एवं छत्रपतिसाम्राज्यम्, मथुरानाथ दीक्षित प्रणीत वीरप्रतापम् तथा भारतविजयम्। गुणैश्वर्य पर आधारित मथुरानाथ दीक्षित कृत ही भक्तसुदर्शनम्, वेङ्कटराघव कृत लक्ष्मीस्वयम्बरम्, हरिदास सिद्धान्तवागीश कृत शिवाजीचरितम् आदि हैं।

---

1. अभिराजयशोभूषणम्- निर्मितितत्वोन्मेष-चतुर्थ अंश - कारिका- 30-37, पृ०-200
2. वृत्तं प्रकरणादीनां यथा साहित्यदर्पणे।
   व्यवस्थितं तथा ग्राह्यं विमतिर्नात्र कापि मे।।
   लक्षणोऽप्युपरूपाणां ननु साहित्यदर्पणः।
   प्रमाणमेकमात्रं तन्निर्मितिभावितात्मनाम्।।
   अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश- कारिका - 38-39 तथा वृत्ति, पृ० 202-03

लोकमङ्गलपरक नाटक जैसे- गोपालशास्त्री कृत-नारीजागरणम्, यतीन्द्र विमल चौधरी कृत-भारतलक्ष्मी, सदाशिवतीर्थ कृत सनातनधर्मसर्वस्वम्, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कृत तण्डुलप्रस्थीयम् तथा स्वयं प्रो० मिश्र कृत प्रशान्तराघवम् एवं लीलाभोजराजम् आदि हैं। प्रकरण के उदाहरणस्वरूप प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत तण्डुलप्रस्थीयम् ही है तथा भाण की कोटि में स्वयं प्रो० मिश्र प्रणीत फण्टूसचरितम् है। प्रहसनों की अनेक आचार्यों ने रचना की है तथा स्वयं प्रो० मिश्र जी द्वारा प्रणीत ही 62 प्रहसन हैं। यथा- नवरसप्रहसन, स्वप्नाज्जागरणंवरम्, इन्द्रजालम् आदि। इन सब का विस्तृत विवरण प्रो० मिश्र प्रणीत ग्रन्थ 'विंशशताब्दीसंस्कृतग्रन्थसूचीपत्रम्' में देखा जा सकता है। प्रकृत ग्रन्थ में केवल स्फुट उदाहरण ही प्रस्तुत किये गये हैं।

एकाङ्कीलक्षण

हिन्दीप्रभृतिभाषासु भारतीयासु साम्प्रतम्।
लघुनाट्यं यदेकाङ्कि सर्वाभीष्टं महीयते।।
देववाच्यपि तन्नूनं तद्वदेव प्रतिष्ठितम्।
नियन्त्रितं न तज्ज्ञेयमुपरूपकलक्षणैः।।
नायकोऽत्र भवेद्भूपः पण्डितः पामरोऽथवा।
दिव्योऽदिव्योऽथवाऽन्योऽपि शिक्षकोभिक्षुको यतिः।।
योऽपि कश्चिद् भवेन्नेता पुरुषो महिलाऽपि वा।
यादृशञ्चापि वृत्तं स्यान्नाट्यकृत्प्रतिभाश्रितम्।।
एकाहचरितञ्चैव लघुनाट्ये प्रयोजयेत्।
संवादबहुला भाषा व्यङ्ग्यगर्भात्र सम्मता।।
रसः कोऽपि भवेदङ्गी नाट्यवृत्ताऽनुगुण्यतः।
लक्ष्यमेकं परं तस्य भवेद्रङ्गप्रसादनम्।।
नाट्यशिल्पादिसम्बद्धं वैलक्षण्यं नवं नवम्।
एकाङ्केऽस्मिन्प्रयोक्तव्यं नाट्यकर्त्ता यथामति।।
स्त्रीप्राया चतुरङ्का स्यान्नाटिका यदुदाहृता।
पूर्ववर्तिभिराचार्यैस्तन्महामपि रोचते।।
भूपेतरोऽपि नेता स्यात्पुरुषः किञ्च सम्मता।

दिव्यसद्गुणसम्भारभूषिता कापि भामिनी।।
अन्यन्निखिलवैशिष्ट्यं दशरूपकवर्णितम्।
नाटिकारचनायान्तु ग्राह्यमेव यथायथम्।।[1]

एकाङ्की के सन्दर्भ में प्रो० मिश्र का मन्तव्य है कि पूर्वाचार्यों का यह कथन कि नाटिका स्त्रीपात्र बहुल तथा चतुरङ्किका होनी चाहिए, वह मुझे (कवि को) भी अभीष्ट है, परन्तु भूपेतर पुरुष के अतिरिक्त इसकी नायिका दिव्य सद्गुणों से विभूषित लोकवन्द्य पुरन्ध्री (प्रौढ़ विवाहिता स्त्री) भी हो सकती है। नाटिका के अन्य वैशिष्ट्य, इसकी रचना करने वालों को पूर्वग्रन्थों से जैसे का तैसा ग्रहण करना चाहिए। विद्युन्माला, पद्मावती, रहस्यमयी, सावित्री, बेला, उर्वशी, चाण्डालिका, आम्रपाली तथा कादम्बरी आदि नाटिका कोटिक रचनाएँ भिन्न नायक व्यवस्था के उदाहरणस्वरूप हैं। प्रो० हरिदत्त शर्मा प्रणीत त्रिपथगा (तीन रूपक) और आक्रन्दनम् (चार रूपक) इसी कोटि के उत्तम उदाहरण हैं।

2. श्रव्यकाव्य

प्रो० मिश्र का मत है सहृदयों को कर्णेन्द्रिय-ग्राह्य आनन्द प्रदान कराने वाला श्रव्यकाव्य होता है और वह गद्य, पद्य तथा मिश्र भेद से तीन प्रकार का होता है। पदों अर्थात् चार चरणों द्वारा नियमित होने के कारण 'पद्य' को पद्य कहते हैं तथा प्रातिभ कथन के कारण 'गद्य' को गद्य कहते हैं। गद्य एवं पद्य से समन्वित दोनों (शैलियों) का मिश्रण मिश्र कहा जाता है। किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने उसे चम्पू भी कहा है। आचार्य भरत ने पद्य को नियताक्षर तथा गद्य को अनियताक्षर कहा है। सम अथवा विषम चार चरणों में व्यवस्थित यह पद्य क्रमशः समवृत्त तथा विषमवृत्त कहा जाता है। जब प्रथम चरण तृतीय के सामान हो तथा द्वितीय चतुर्थ के तो (उस तीसरे भेद को) अर्ध समवृत्त कहते हैं।[2] रचना, बन्ध तथा शय्या ये समस्त शब्द पर्यायवाची हैं। जो निबद्ध किया

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश-कारिका - 40-49, पृ०-203-06
2. श्रव्यकाव्यमथेदानीं प्राप्तक्रमं निरूप्यते। गृह्यते हि यदानन्दो रसिकैः श्रुतिसङ्गतः।।
पद्यगद्यमयं श्रव्यं मिश्रञ्चेति त्रिधास्थितम्। पदैर्नियमितं पद्यं गद्यं यद्धि निगद्यते।।
उभयोर्मिश्रणं मिश्रं गद्यपद्यसमन्वितम्। प्राक्तनैः कैश्चनाचार्यैश्चम्पूरित्यपि कथ्यते।।

जाय उसे बन्ध कहते हैं। वह भी दो प्रकार का होता है- पद्यबन्ध और गद्यबन्ध। दोनों के सम्मिश्रण को मिश्रबन्ध (चम्पू) कहते हैं।

पद्य

पूर्वाचार्यों द्वारा पद्य को पुनः दो रूपों में व्याख्यात किया गया है। प्रथम मुक्तकादि (अर्थात् युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक तथा शतकादि) तथा द्वितीय प्रबन्ध।[1] प्रो० मिश्र ने तदनुरूप अर्वाचीन सन्दर्भों को लेकर उनके लक्षणों को प्रस्तुत किया है। क्रमशः इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है-

मुक्तककाव्यलक्षण

प्रो० मिश्र ने मुक्तककाव्य का लक्षण करते हुए बतलाया है कि-

पूर्वाऽपरसन्दर्भाभ्यां मुक्तं पद्यं तु मुक्तकम्।
द्वाभ्यां मिथोऽवसक्ताभ्यां युग्मकं जायते पुनः।।
पद्यत्रयेण सन्दृब्धं सन्दानितकमुच्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।।
सप्तकं चाष्टकं ख्यातं दशकं विंशतिस्तथा।
पञ्चाशिका शती यद्वा शतकं त्रिशती पुनः।।
ततः पञ्चशती ख्याता सप्तशती तथा।
सहस्रकमपि ख्यातं समवाप्तपरम्परम्।।[2]

पूर्व एवं पर सन्दर्भों से मुक्त पद्य को मुक्तक कहा जाता है। दो पद्यों का

नियताक्षरमाख्यातं नाट्यशास्त्रकृता पुनः। पद्यं, गद्यं तथैवेदं घुष्टमनियताक्षरम्।।
चतुर्भिश्च समैः पादैर्विषमैर्वा नियम्यते। समवृत्तं क्रमेणेदं विषमञ्च समुच्यते।।
आदि पादस्तृतीयेन चतुर्थेन द्वितीयकः। यत्र साम्यं भजेदर्धसमवृत्तं तदुच्यते।।
अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश- कारिका - 50-55, पृ०-206-207

1. पद्यं पुनर्द्विधा ख्यातं प्रायशः पूर्वसूरिभिः।
मुक्तकादि प्रबन्धाभ्यां तदिदानीं प्रतन्यते।।
वही-कारिका - 56, पृ०-210

2. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश- पृ०-213-17

सन्दर्भ यदि परस्पर मिला हुआ हो तो उसे युग्मक कहते हैं। तीन पद्यों का सन्दर्भ परस्पर समन्वित होने पर सन्दानितक कहा जाता है तथा चार और पाँच पद्यों का सन्दर्भ समन्वित होने पर क्रमशः कलापक तथा कुलक कहा जाता है। इसी प्रकार (सन्दर्भ की एकता के आधार पर) सप्तक, अष्टक, दशक, विंशतिका, पञ्चाशिका, शती अथवा शतक तथा त्रिशती भी प्रख्यात हैं। इसके बाद पञ्चशती तथा सप्तशती की ख्याति है। सहस्रकम् भी प्रसिद्ध है, जिसकी परम्परा (संस्कृत कविता में) प्राप्त होती है।

प्रस्तुत पद्य काव्यभेदों के उदाहरण प्रो० मिश्र ने अपने ग्रन्थों, विशेषतः वामनावतरण महाकाव्य से प्रस्तुत किये हैं तथा प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी एवं अन्य अर्वाचीन आचार्यों के पद्यों के दिये हैं। विस्तार भय से यहाँ समस्त उदाहरणों को प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। वे अभिराजयशोभूषणम् ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य हैं।[1]

प्रबन्धकाव्य

प्रो० मिश्र ने प्रबन्धकाव्य को परिभाषित करते हुए बतलाया है कि जैसे मुक्तक पद्य (पूर्व एवं पर) पद्यान्तर से निरपेक्ष होता है, उसी प्रकार पूर्व एवं परकथापेक्षी प्रबन्धकाव्य होता है। यह प्रबन्धकाव्य यदि किसी नायक के जीवन का आद्यन्त वर्णन करता है तो सर्गों में विभक्त उसे महाकाव्य कहते हैं। यदि किसी पुरुषार्थ-विशेष की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा की जाय तो उसे भी महाकाव्य कहते हैं, ऐसा कुछेक श्रेष्ठ विद्वानों का मन्तव्य है। परन्तु यदि किसी नायक के जीवन का अंशमात्र वर्णित किया जाय तो निश्चय ही सर्गविहीन तथा लघु-कलेवर युक्त वह रचना खण्डकाव्य होती है। नायक के जीवन का पुरुषार्थ-विशेष भी (अर्थ, धर्म एवं काम) यदि अंशतः वर्णित किया जाय तो भी वह रचना खण्डकाव्य होती है।[2] प्रो० मिश्र ने युगानुरूप महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है –

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश- पृ०-213-17
2. पद्यान्तरनिरपेक्षं यथा भवति मुक्तकम्। पूर्वाऽपरकथापेक्षं प्रबन्धं प्रोच्यते तथा।।
   प्रबन्धकाव्यमेतद्धि नायकाद्यन्तजीवनम्। वर्णयेच्चेन्महाकाव्यं सर्गबद्धं समुच्यते।।
   कस्यचित्पुरुषार्थस्य साङ्गोपाङ्ग समीक्षणम्। तच्चाप्यस्ति महाकाव्यमित्येके बुधतल्लजाः।।

सर्गबन्धो महाकाव्यं लोकवन्द्यजनाश्रयम्।
ख्यापयद्विश्वबन्धुत्वं स्थापयद्विश्वमङ्गलम्।।
नायकस्तत्र देवः स्यात्प्रजाबन्धुरथो नृपः।
चारुचर्योऽथवा कोऽपि सज्जनश्चरितोज्ज्वलः।।
प्रातस्सन्ध्यानिशीथेन्दुभास्करोदयतारकाः।
वनोद्याननदीसिन्धुप्रपाताद्रिबलाहकाः।।
ग्रामाश्रमपुराऽरामदुर्गसैन्यरणोद्यमाः।
पुत्रजन्मादिवृत्तान्ताः पामरावाससङ्कथा।।
इतिवृत्तानुरोधात्तु वर्णनीया न चाऽन्यथा।
प्रसह्य वर्णने तेषां न च तृप्तिर्न वा यशः।।
यच्छिवं यच्च सत्यं स्यादथवा लोकमङ्गलम्।
वर्णनीयं प्रकल्प्यापि कथांशीकृत्य सादरम्।।
सर्गा अष्टाधिकाः सन्तु कथाविस्तृतिसम्मताः।
अष्टत्रिगुणतां यावत्सर्गसङ्ख्या प्रथीयसी।।
नोद्वेगः कविना कार्यः पाठकानां रसात्मनाम्।
सर्गसङ्ख्यादिविस्तारैर्वर्णनैर्वाऽनपेक्षितैः।।
लोकवृत्तं न हातव्यं मूलवृत्तोपकारकम्।
लोकचित्रणगर्भं हि महाकाव्यं महीयते।।
त्रयाणां पुरुषार्थानां कश्चिदेको भवेद्ध्रुवम्।
महाकाव्यफलं रम्यं धर्मकामार्थसम्मतम्।।
शृङ्गारवीरशान्तानां कश्चिदन्यतमो रसः।
सयत्नमङ्गीकर्तव्यः कविना प्रतिभावता।।
छन्दोऽलङ्कार सन्दर्भा भूरिवैविध्यमण्डिताः।
महाकाव्ये प्रयोक्तव्या भावुकानां प्रतुष्टये।।

वर्ण्यते किन्तु चेन्नेतुर्जीवनांशो हि केवलम्। खण्डकाव्यं भवेन्नूनं तदसर्गं लघुक्रमम्।।
पुरुषार्थविशेषस्याप्यांशिकं यद्धि वर्णनम्। नेतुस्तु कस्यचिन्नूनं खण्डकाव्यं तदुच्यते।।
अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश-कारिका - 61-65, पृ०-218

लोकोत्तरगुणादर्शः पुरुषो नायको भवेत्।
महीयसी पुरन्ध्री वा नाऽत्र कार्या विचारणा।।
कथावैशिष्ट्यमालक्ष्य समज्ञां नायकस्य वा।
करणीयं महाकाव्यस्याभिधानं यशस्करम्।।
प्रतिष्ठापयितुं नूत्नं महाकाव्ये स्वयं कविः।
आचार्यप्रतिभो नूनं यदि वा भवति क्षमः।।[1]

इस प्रकार कवि ने वर्तमान युग के अनुरूप महाकाव्य के लक्षण को उपस्थापित किया है। आचार्य ने अपने बतलाये लक्षण के अनुरूप उदाहरणस्वरूप अनेक अर्वाचीन महाकाव्यों को प्रस्तुत भी किया है। इनमें लोकवन्द्यजनाश्रय वाले महाकाव्य हैं- झाँसीश्वरी, तिलक, गाँधी, बल्लभ, सुभाष, जवाहर, विवेकानन्द, टॉल्सटाय, लेनिन, दयानन्द तथा इन्दिरा गाँधी आदि पर रचित महाकाव्य, विश्वमङ्गलाश्रय वाले महाकाव्य जैसे- माधवभट्ट राई प्रणीत सत्यसाईचरितम्, पण्डिता क्षमाराव कृत तुकारामचरितम् आदि। महिला नायक वाले महाकाव्य जैसे - विष्णुदत्त शर्मा कृत सौलोचनीयम्, आत्मारामशास्त्रि विरचित सावित्रीचरितम्, सुबोधचन्द्रपन्त कृत झाँसीश्वरीचरितम्, स्वयं प्रो० मिश्र प्रणीत जानकीजीवनम्, वल्लभद्र शास्त्रि प्रणीत-इन्दिराजीवनम् तथा प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी विरचित उत्तरसीताचरितम् आदि। इसके अतिरिक्त अष्टसर्गात्मक महाकाव्य हैं- प्रो० श्रीनिवास रथ प्रणीत-बलदेवचरितम्, 42 सर्गात्मक-प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत स्वातन्त्र्यसम्भवम् तथा सर्ग सङ्ख्या विस्तार वाला महाकाव्य है-परीक्षित शर्म प्रणीत-श्रीमत्प्रतापराणायनम्-इसमें 80 सर्ग हैं।

खण्डकाव्यलक्षण

प्रो० मिश्र ने खण्डकाव्य का लक्षण करते हुए बतलाया है कि किसी पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ तथा काम) का जो आंशिक (अ-साङ्गोपाङ्ग) वर्णन होता है अथवा नायक के (आद्यन्त) जीवन का जो खण्डवर्णन होता है, उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यही खण्डकाव्य अपने इतिवृत्त के अनुरोधवश, पृथक् अर्थ वाले विविध नामों (सञ्ज्ञाओं) को धारण करता है। क्रमशः इसका लक्षण प्रस्तुत करते हुए प्रो० मिश्र कहते हैं-

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश-कारिका - 66-80, पृ०-218-22

कस्यचित्पुरूषार्थस्य वर्णनन्तु यदांशिकम्।
जीवनस्याथवा नेतुः खण्डकाव्यं तदुच्यते।।
खण्डकाव्यमिदञ्चैव स्वेतिवृत्तानुरोधतः।
विविधान्यभिधानानि पृथगर्थानि गच्छति।।
दूतकाव्यमिदं प्रोक्तं दौत्यकर्मप्रसङ्गतः।
सन्देशप्रेषणव्याजैरस्य सन्देशकाव्यता।।
मेघो दूतीकृतो यस्मान्मेघदूतं ततोऽन्विदम्।
अन्यच्च हंससंदेशस्तत्र तस्यैव चित्रणात्।।
अन्यापदेशकाव्यं तत्प्रवृत्त्याऽन्योक्तिनिष्ठया।
गीतिकाव्यं तदेवोक्तं गीततत्त्वप्रयोगतः।।
देवस्तुतिप्रवृत्त्या च स्तोत्रकाव्यं तदुच्यते।
पद्यानां शतसंख्यत्वाच्छतकाख्यं तदेव हि।।
सम्पादनाच्च नीतीनां नीतिकाव्यं नु तत्पुनः।
ख्यातं प्रहेलिकाकाव्यं तासामेव निरूपणात्।।
विमानयात्रानुभवैः समृद्धमधुनातनम्।
विमानकाव्यमित्याख्यं साम्प्रतं हि महीयते।।
यात्राकाव्यं नर्मकाव्यं रागकाव्यं तथैव च।
एवमेवाऽभिधाऽप्यन्या तत्तद् वृत्यनुरोधतः।।
लहरीकाव्यमप्येतत् खण्डकाव्यं समुच्यते।
प्रतिपाद्यं यदा काव्ये लहरीसन्निभं भवेत्।।
परस्परं समासक्ता लहर्यो जलधौ यथा।
भङ्गिव्रजं जनयन्त्यो यान्त्यद्वैतस्वरूपताम्।।
भक्तिश्रृङ्गारसन्दर्भाः काव्येऽन्येऽपि तथा यदा।
भिन्नाः सन्तोऽपि पुष्णन्ति मूलभावं पुनः पुनः।।
लहरीसन्निभा भाषाविच्छतिं जनयन्ति च।
नयनाऽसेचनं भूरि वितन्वन्ति निरन्तरम्।।
तदा तलहरीकाव्यं कोविदैर्विनिगद्यते।
अभिराजमतञ्चैतन्निश्चितं बुधतोषणम्।।[1]

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश-कारिका-81-94

प्रो० मिश्र ने इन काव्यों के उदाहरण भी नवीन रचित ग्रन्थों के ही दिये हैं। दूतकाव्य जैसे- प्रो० मिश्र कृत मृगाङ्कदूतम्, रामचन्द्र अम्बिकादत्त शाण्डिल्य प्रणीत कामदूतम्, कृपाराम त्रिपाठी कृत तरङ्गदूतम् आदि। सन्देशकाव्य- यथा- प्रो० कुटुम्ब शास्त्रि कृत- इन्दुसन्देश, कुञ्चन नम्बूदरीप्रणीत चातकसन्देश आदि। अन्यापदेशकाव्य यथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र प्रणीत आर्यान्योक्तिशतकम्, मृगमृगेन्द्रन्योक्तिशतकम् तथा बदरीनाथ शर्मा प्रणीत अन्योक्तिसाहस्त्री आदि। गीतकाव्य यथा- प्रो० मिश्र प्रणीत- गीतभारतम्, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कृत गीतधीवरम्, प्रो० पुष्पादीक्षित प्रणीत अग्निशिखा तथा प्रो० हरिदत्त शर्मा प्रणीत गीतकन्दलिका एवं लसल्लतिका आदि। स्तोत्रकाव्य यथा- प्रो० राजेन्द्र मिश्र प्रणीत पराम्बाशतकम् एवं शनिशतकम्, कृष्णदत्तशास्त्री प्रणीत रामराघवस्तवनम् आदि। प्रहेलिकाकाव्य यथा-प्रो० रामाशीष पाण्डेय कृत प्रहेलिकाशतकम्। नर्मकाव्य यथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र प्रणीत सुभाषितोद्धारशतकम् तथा वागीश शास्त्री कृत नर्मशप्तशती आदि। लहरीकाव्य यथा- प्रो० मिश्र प्रणीत ही विस्मयलहरी, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत लहरीदशकम्, एस० वी० वेलणकर प्रणीत विरहलहरी तथा भास्कर पिल्ले प्रणीत प्रेमलहरी आदि।

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने नवीन काव्यों के सन्दर्भों को संग्रहीत कर काव्यविधा के नवीन लक्षणों का उपस्थापन किया है। इन काव्यलक्षणों में जो पूर्वाचार्यों द्वारा बतलाये जा चुके है, प्रो० मिश्र का उनसे वैमत्य नहीं है, परन्तु प्रो. मिश्र ने उनमें आज के परिप्रेक्ष्यानुसार परिवर्तन जरूर कियें हैं। प्रो० मिश्र ने उनके सैद्धान्तिक पक्ष, जो आज भी प्रासङ्गिक हैं, उनको यथावत् ही स्वीकार करते हुए काव्य की जो नवीन विधाएँ हैं, उनका लक्षण प्रस्तुत किया है तथा अर्वाचीन युग में रचित तत्तत् प्रकार के काव्यों को उदाहृत भी किया है।

गद्यकाव्यलक्षण

प्रो० मिश्र का मत है कि आचार्य भरत अभिमत अनियताक्षर अपरनाम वाले चूर्णबन्ध को ही परवर्ती युग में गद्य कहा गया। इसका लक्षण बतलाते हुए वे कहते हैं-

गद्यं चतुर्विधं प्रोक्तं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
ततश्चोत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्चान्तिमं मतम्।।
असमस्तपदं मुक्तं पद्यांशि वृत्तगन्धि च
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं चूर्णमल्पसमासकम्।।[1]

गद्य चार प्रकार का बतलाया गया है- (i) मुक्तक (ii) वृत्तगन्धि (iii) उत्कलिकाप्राय तथा (iv) चूर्णक। इनमें समासहीन पदों वाला गद्य मुक्तक, पद्यों से युक्त अथवा पद्य जैसी प्रतीति वाला वृतगन्धि, दीर्घसमासों से ओतप्रोत उत्कलिकाप्राय तथा अल्पसमासों से युक्त गद्य चूर्णक होता है। मुक्तक तथा वृत्तगन्धि के उदाहरण प्रो० मिश्र की ही कथा कृति इक्षुगन्धा में द्रष्टव्य हैं। उत्कलिकाप्राय के उदाहरण मोहनलाल शर्मा (पाण्डेय) प्रणीत उपन्यास पद्मिनी में द्रष्टव्य तथा चूर्णक के उदाहरण प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत विक्रमचरित में दर्शनीय हैं।

कथालक्षण-कथा का लक्षण करते हुए प्रो० मिश्र बतलाते हैं कि पूर्वाचार्यों ने प्रबन्धात्मक गद्य का कथा और आख्यायिका रूप में दो भेद किये हैं। इसका लक्षण करते हुए वे कहते हैं-

प्रबन्धात्मकगद्यस्य रूपद्वयमुदाहृतम्।
कथेति प्रथमं तत्राऽख्यायिकेत्यपरं मतम्।।
कथा तत्र भवेद्रम्या सरसा कल्पनाश्रिता।।
दिव्याऽदिव्येतिवृत्तांशा विविधानुभवैर्युता।।
आदौ तत्र नमस्कारः खलादिचरितं तथा।
कथाकर्तुरभिप्रायोऽखिलं पद्यमयं भवेत्।।
तत्र क्वचिद्भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
क्वचिच्चाप्यात्मसंस्पर्शः प्रतिभाशिल्पमण्डितः।।[2]

इस कथा के उदाहरणस्वरूप अर्वाचीन ग्रन्थ हैं-जगगूबकुलभूषण प्रणीत जयन्तिका, जयनारायण यात्री प्रणीत मधुमती, प्रो० रामकरणशर्मा प्रणीत

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश-कारिक-95-96
2. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश कारिका- कारिका-97-100

रयीशः तथा सीमा, केशवचन्द्र दाश कृत उर्मिचूडा तथा श्रीनिवास शास्त्री कृत चन्द्रमहीपति आदि।

आख्यायिकालक्षण- प्रो० मिश्र आख्यायिका का लक्षण करते हुए बतलाते हैं -

आख्यायिकोपलब्धार्था तस्मादैतिह्यसम्मता।
आश्वासैः संविभक्ता स्यादार्याप्रभृतिमण्डिता।।
वर्णिता स्यादियं नेतृमुखेनैवेति केचन।
नैवमित्यपरे तस्मादुभयं भाति सम्मतम्।।
आर्यावक्त्रापवक्त्रैश्च ननु भाव्यर्थसूचनम्।
अन्यापदेशपद्धत्याऽश्वासारम्भे विधीयते।।
युज्यते च समारम्भे कविवंशानुकीर्तनम्।
कविवृत्तान्तरश्चापि परपद्यं क्वचित्क्वचित्।।[1]

अर्वाचीन आख्यायिका रचनाएँ हैं-कृष्णाचार्य प्रणीत-चन्द्रगुप्तः, हरिनारायण दीक्षित कृत- श्रीमदप्पय्यदीक्षितचरितम् तथा मोहनलाल शर्मा (पाण्डेय) कृत पद्मिनी तथा श्रीनाथ हसूरकर प्रणीत सिन्धुकन्या, चेन्नमा एवं अजातशत्रु आदि।

उपन्यासलक्षण - उपन्यास का लक्षण करते हुए प्रो० मिश्र का कथन है -

कथाऽऽख्यायिकयोः कश्चिन्मिश्रभेदोऽपि साम्प्रतम्।
उपन्यास इति ख्यातो भाषान्तरप्रतिष्ठितः।।
कालखण्डविशेषस्य समग्रं जनजीवनम्।
प्रतिविम्ब इवादर्शे न्यस्यतेऽत्र सविस्तरम्।।
क्वचित्सामाजिकी क्रान्तिः सर्वोदयसमर्थिनी।
रूढ़िपाखण्डविध्वंसो नवाचारः क्वचित्पुनः।।
महाकाव्यवदेवायमुपन्यासोऽपि वस्तुतः।
साङ्गोपाङ्गं समग्रञ्च नेतृजीवनचित्रणम्।।

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश कारिका-101-104

धर्मराजनयार्थानां नैव वृत्तं हि तादृशम्।
यदुपन्यासनिर्माणे नोपयोज्यं भवेत्पुनः।।
विविधाः सन्त्युपन्यासाः इतिवृत्तानुरोधतः।
कथाप्रस्तुतिभेदाच्च कविप्रतिभयाश्रिताः।।[1]

उपन्यास के अर्वाचीन उदाहरण हैं- प्रो० रामकरण शर्मा कृत सीमा और रयीशः, केशवचन्द्रदाश प्रणीत दिशाविदिशा, पताका, निकषा आदि तथा डॉ० रामजी उपाध्याय प्रणीत द्वासुपर्णा इत्यादि। वस्तुतः गद्यमय श्रव्यकाव्य ही गद्यकाव्य है और इसे ही उपन्यास नाम से भी जाना जाता है। यथा-कादम्बरी अथवा प्रो० मिश्र प्रणीत शिवराजविजय। अम्बिकादत्तव्यास ने अपनी कृति गद्यकाव्यमीमांसा में उपन्यास को कथा और आख्यायिका से बहुत भिन्न नहीं माना है; फिर भी इसमें जो सूक्ष्म अन्तर है, उसको प्रो० मिश्र ने उपर्युक्त लक्षण में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि कथा और आख्यायिका का मिला-जुला कोई भेद ही उपन्यास नाम से जाना जाता है।

कथानिका (कहानी) लक्षण - प्रो० मिश्र ने इसका लक्षण करते हुए कहा है -

प्रतिष्ठाधुरमध्यास्ते कथाभेदो हि कश्चन।
अभीष्टा सर्वभाषासु प्रोच्यते सा कथानिका।
गृहीत्वा किमप्युद्देश्यं लोकाभ्युदयकारकम्।
चित्रणेन चरित्राणां सरत्यग्रे कथानिका।।
क्वचित्पात्रमुखेनैव क्वचिल्लेखकभाषया।
क्वचित्संवादपद्धत्या पूर्वोन्मेषदिशा क्वचित्।।
शिल्पान्तरैरनेकैश्च निबद्धेयं कथानिका।
लघ्वी दीर्घेति भेदाभ्यां द्विविधैव महीयते।।[2]

अर्वाचीन कहानियों के उदाहरण जैसे- प्रो० मिश्र की ही- इक्षुगन्धा तथा राङ्कडा, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत उपाख्यानमालिका- (दीर्घकथा), प्रशस्यमित्र शास्त्री प्रणीत अनाघ्रातंपुष्पम्, वनमाली विश्वाल प्रणीत नीरवस्वनः,

---

1. अभिराजयशोभूषनम्-चतुर्थ-अंश-कारिका-105-10
2. वही-कारिका-111-14

प्रमोदभारतीय प्रणीत सहपाठिनी, प्रभुनाथ द्विवेदी कृत श्वेतादूर्वा, वीणापाणि पाटनी कृत अपराजिता तथा नलिनी शुक्ल प्रणीत कथासप्तकम् आदि हैं। यही कथा जब अनेक खण्डों में समाप्त होती है तो दीर्घकथा कही जाती है। इसका उदाहरण प्रो० मिश्र की ही कथा प्रणयीप्रीतिकूटस्थ तथा राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत उपाख्यानमालिका है।

लघुकथालक्षण- लघुकथा का लक्षण करते हुए प्रो० मिश्र ने कहा है कि-

नातिविस्तृतसन्दर्भा विद्युदुन्मेषसन्निभा।
नूनं लघुकथेयं स्यादेकपात्रावसायिनी।।
अकस्माद्धि परीहारश्चिरसंस्तुतवर्त्मनः।
असंस्तुतसरणेश्चाऽप्यङ्गीकारो ह्यतर्कितम्।।
सुग्रहणमग्राह्यस्य गृहीतस्याप्युपेक्षणम्।
कस्यचन सङ्कल्पस्य झटित्येव समुद्भवः।।
भावोन्मेषो विवर्तो वा भावानां समयोचितः।
चिररूढमनोभावस्यापि द्राक्परिवर्तनम्।।
उल्कापिण्डसदृक्षाभा हृत्तन्त्रीझङ्कृतिक्षमा।
अल्पाक्षराऽल्पपात्रापि कथालघ्वी महीयते।।[1]

अर्वाचीन लघुकथा के उदाहरण जैसे- प्रो० मिश्र प्रणीत ही लघुकथासंग्रह चित्रपर्णी, कृष्णदत्त शास्त्री कृत शुष्कोवृक्षः, इच्छाराम द्विवेदी प्रणीत एकादशी तथा केशवचन्द्र द्वारा प्रणीत उर्मिचूडा आदि।

उपर्युक्त विवेचित काव्यप्रभेदों के अतिरिक्त पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने कुछ अन्य प्रभेदों यथा- पर्यायबन्ध, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा की भी चर्चा की है तथा बतलाया है कि वसन्त वर्णनादि जैसे एक विषय का वर्णन करने वाला प्रकरण पर्यायबन्ध, पुरुषार्थ चतुष्टय में से किसी एक के सम्बन्ध में बहुत सी कथाओं का संग्रह परिकथा, फलपर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्ति की कथा सकलकथा तथा किसी बड़ी कथा के एक देश का वर्णन करने वाली कथा खण्डकथा कहलाती है।[2] काव्य प्रभेदों के इन सिद्धान्तों को

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश कारिका-115-19
2. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका 7 की वृत्ति

प्रो० मिश्र ने यथावत् स्वीकार किया है तथा पूर्व की खण्डकथा को वर्तमान युग की लघुकथा तथा सकलकथा को आज की दीर्घकथा के रूप में सम्मति प्रदान की है।[1] इनके उदाहरण इनके लक्षण प्रसङ्ग में दर्शाये जा चुके हैं।

चम्पूकाव्यलक्षण – प्रो० मिश्र ने चम्पूकाव्य का लक्षण करते हुए कहा है –

मिश्रकाव्यमिति प्रोक्तं गद्यपद्यविमिश्रणात्।
तदेव कैश्चनाचार्यैश्चम्पूकाव्यमपि स्मृतम्।।
कथायां नाटके चापि मिश्रणं गद्यपद्ययोः।
दृश्यते चेत्ततः कस्माच्चम्पूस्तदतिरिच्यते।।
कथाया नाटकस्यापि प्रकृतिर्गद्यसंश्रया।
वृत्तवर्णनप्राचुर्यात्संवादानाञ्च योगतः।।
स्वाभाविकं न कुत्रापि पद्यबन्धस्य मेलनम्।
पूर्वाग्रहवशादेव कविना तद् विधीयते।।
कथायां कमप्यादर्शं सत्यं यद्वा चिरन्तनम्।
प्रतिष्ठापयितुं पद्यं प्रसङ्गोचितमङ्ग्यते।।
संवादप्रचुरे नाट्येऽप्यकस्मादृतुवर्णने।
नायिकारूपलावण्य व्यवहारादिचित्रणे।।
विच्छित्तिमतुलां स्रष्टुं कर्तुमाकर्षणं महत्।
गद्यसंवादजनितं चित्तोद्वेगं व्यपोहितुम।।

---

1. एकमेव समुद्दिश्य पुरुषार्थ प्रवर्तकाः।
याश्च प्रकारवैचित्र्यैस्ता वै परिकथाः स्मृताः।
खण्डकाव्यसदृक्षैव याऽप्येकदेशवर्णना।
सैव खण्डकथा ख्याता ह्च्चमत्कारकारिणी।।
आनन्दवर्धनोद्दिष्य सेयं खण्डकथा पुनः।
मान्या लघुकथैवेति त्रिवेणीकविसम्मतिः।।
योऽपि दीर्घकथा प्रभेदो मया पूर्वं निरूपितः।
सकल कथा पर्यायः सोऽपि मान्योऽस्तु कोविदैः।।
अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश कारिका-120-23

प्रयुङ्क्ते नाट्यकारोऽसौ पद्यबन्धं रसोल्बणम्।
नाट्यप्रकृतिभिन्नं यत्तदभिन्नं प्रतीयते।।
मिश्रणं किन्तु चम्प्वां तत्सहजं गद्यपद्ययोः।
तयोरेकतरस्यापि प्रयोगे न दुराग्रहः।।
पथिको हि यथा कश्चित् स्वेच्छया प्रचलन्पाथि।
विश्राम्येत्तरुसंस्थाने विश्रम्याथ पुनश्चलेत्।।
नैव पूर्वाग्रहः कोऽपि न च लक्ष्यं विलक्षणम्।
प्रमाणं स्वरुचिश्चैव तस्य विश्रमयात्रयोः।।
चम्प्वामपि तथा कर्त्रा गद्यं पद्यं प्रयुज्यते।
यथारुचि यथामात्रं पर्यायेण यथायथम्।।
स्वाभाविकं ततश्चम्प्वां गद्यपद्यविमिश्रणम्।
चम्पूप्रकृतिरेवैतन्मिश्रणं गद्यपद्ययोः।।
साङ्काऽप्यथ च सोच्छ्वासा भवेच्चम्पूरियम्पुनः।
उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भशून्यापीति च केचन।।
प्रबन्धमुक्तकाभ्याञ्च चम्पूरपि मता द्विधा।
करम्भकञ्च विरुदं मुक्तकं जयघोषणा।।[1]

प्रबन्ध और मुक्तक भेदों की दृष्टि से चम्पू दो प्रकार का होता है। मुक्तक कोटिक उदाहरण हैं- करम्भक, विरुद तथा जयघोषणा आदि। इनमें करम्भक विविध भाषाओं में निर्मित होता है, ऐसा साहित्यदर्पणकार का मत है। इसका उदाहरण आचार्य विश्वनाथ की कृति प्रशस्तिरत्नावली है, जो सोलह भाषाओं के सम्मिश्रण से रची गई है। गद्यपद्यमिश्रित राजस्तुति को विरुद कहते हैं। इसका भी उदाहरण विश्वनाथ कृत विरुदमणिमाला है।[2] जयघोषणादि के उदाहरण अब तक उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य विश्वनाथ के मत का ही समर्थन प्रो० मिश्र ने भी इस सन्दर्भ में किया है। प्रबन्धात्मक चम्पू के उदाहरणस्वरूप नलचम्पू, मदालसाचम्पू आदि प्राक् उदाहरण हैं। अर्वाचीन उदाहरणों में प्रो० मिश्र प्रणीत अभिराजचम्पू, राघवेन्द्राचार्य पञ्चमुखि प्रणीत

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-चतुर्थ अंश - कारिका-124-38
2. साहित्यदर्पण-षष्ठ परिच्छेद-कारिका- 336-37

विरूपाक्षवसन्तोत्सवचम्पू, विट्ठलोपाध्याय कृत प्रह्लादचम्पू, रुद्रदेव त्रिपाठी कृत चतुर्वेदचरितचम्पू, मोहनचरितचम्पू एवं राजेन्द्रचन्द्रोदयचम्पू तथा वनेश्वरविद्यालङ्कार कृत चित्रचम्पू आदि हैं।[1]

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी तथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र की ही भाँति प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने भी अर्वाचीन सन्दर्भों के अनुरूप काव्य भेद-प्रभेदों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रो० मिश्र और प्रो० त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत काव्य-प्रभेदों के लक्षणों से अतिरिक्त अन्यान्य भारतीय एवं वैदेशिक विधाओं, जिन्हें संस्कृत के आचार्यों नें अङ्गीकृत कर काव्यरचनाएँ की हैं, उन प्रभेदों के लक्षणों से अतिरिक्त काव्य-प्रभेदों के लक्षणों को भी प्रो० द्विवेदी ने प्रस्तुत किया है। क्रमशः इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है–

महाकाव्यलक्षण – प्रो० द्विवेदी ने महाकाव्य का लक्षण करते हुए बतलाया है –

सर्गैर्वृत्तैश्च बद्धं सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थरम्यं
संवादैश्चोच्चशिल्पैः सततरसमयं ग्रन्थिमुक्तं समृद्धम्।
पात्रं स्याद् यस्य मुख्यं परमगुणयुतं लोकविख्यातवृत्तं
भव्यं लोकस्वभावं महदपि महतां तन्महाकाव्यमास्ते।।

रागकाव्यलक्षण

लोकोत्तराह्लादमयं प्रसन्नं सङ्गेयतालध्रुवकानुबद्धम्।
रागात्मकं नाट्यकृतेऽपि युक्तं नृत्यत्पदाङ्कं किल रागकाव्यम्।।

विमानकाव्यलक्षण

विमानस्य गतिस्तस्मिन् स्थितस्यानुभवस्ततः।
धरावलोकनं चारु विमानाख्यतेऽभिवर्ण्यते।।[2]

---

1. अभिराजयशोभूषणम् – चतुर्थोन्मेष – पृ० 242-47
2. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-(अप्रैल-मई-जून-2005) पृ० 93

दूतकाव्यलक्षण

दूतं कृत्वा निसर्गाङ्गं नरं वा पक्षिणं पशुम्।
स्वप्रियं प्रति सन्देशः प्रेष्यते दूतसञ्ज्ञके।।
अवाचोऽव्यक्तवाचोऽपि वर्ण्यन्तां दूतरूपिणः।
न प्रयान्तु न सन्देशं प्रियार्थं श्रावयन्तु ते।।
मेघदूते भवेन्नाम दूतो मेघो न किन्तु सः।
निः शब्दो यक्षिणीं वक्ति कालिदासस्य वर्णने।।
विप्रलम्भात्मकान्येव प्रायेणैतानि चासते।
भुवो रागश्च राष्ट्रस्य भक्तिर्विन्यस्यतेऽधुना।।

लहरीकाव्यलक्षण

देवे देशे निसर्गे वा प्रिये वस्तुनि भक्तिमान्।
कविर्यत्कुरुते काव्यं लहरीत्यभिधीयते।।
स्वतोऽपि पूर्णपद्यानि चैकस्मिन् विषयेऽन्वितिम्।
दधते तानि काव्येऽस्मिन् कल्लोला इव वारिधौ।।

उपन्यासलक्षण

गद्यकाव्यवृहद्बन्ध उपन्यासोऽभिधीयते।
अस्मिन् युगोचितं वस्तु पात्रं कविसमीहितम्।।
देशकालोचितं चित्रं गद्यशिल्पं मनोहरम्।
कल्पितं चापि तत्सर्वं यथार्थं सत् प्रतीयते।।

लघुकथा (कथनिका) - लक्षण

उपन्यासस्य चैकांशः चारुगद्यसमन्वितः।
प्रायशः कल्पितं वृत्तं समाश्रित्य प्रवर्तते।।
स्थाने काले क्रियायाञ्च यत्रैक्यं तथ्यगर्भितम्।
प्रेरणादायि सोद्देश्यं यस्या लघुकथा च सा।।[1]

---

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-(अप्रैल-मई-जून-2005)-पृ०--94

प्रगतिशील काव्यलक्षण

समस्या नूतना व्याप्ता जनतायाश्च चेतना।
राष्ट्रस्य चेतना भक्तिर्नारीजागरणं नवम्।।
जातिधर्मादिसंघर्षो जननेतुः प्रवृत्तयः।
संस्कृतिः सर्वहाराणां श्रमिकाणां च शोषणम्।।
इत्यादीनि च वर्ण्यन्ते काव्येऽस्मिन् प्रगतिश्रिते।।

सौन्दर्यविधानलक्षण

रम्याकृतेः स्वरूपाद् यत् तत्त्वमास्वाद्यमस्ति तत्।
तद्विदाह्लादने युक्तं सौन्दर्यमभिधीयते।।

विम्बविधानलक्षण

काव्यसृष्टिक्षणे कर्तुश्चित्ते नानानुभूतयः।
कल्पनामधिरोहन्त्यो वैखरीव्यक्तिविम्बिताः।।
भावकेन्द्रियसंस्काराता भावावेष्टितास्तथा।
प्रत्यक्षमिव दृश्यन्ते, काव्यविम्बः स कथ्यते।।
स वाह्याभ्यन्तराभ्यां च करणाभ्यां द्विधा मतः।
वाह्ये दृश्यं ध्वनिः स्पर्शो गन्धास्वादौ च पञ्चधा।।
आभ्यान्तरे स्थितो भावः, प्रज्ञा चेति द्विधा कृतः।
प्रत्येकं बहवो भेदाः सङ्करैकलभेदतः।।

प्रतीकविधानलक्षण

सम्बन्धात्साहचर्याद्वाऽऽपाततो या समानता।
प्रतीयते वा प्रत्येति भिन्नोयोर्हि पदार्थयोः।।
व्यनक्त्यप्रस्तुतं यत्र पदार्थः प्रतुतो यदा।
प्रस्तुतोऽयं च सङ्केतः प्रतीकः काव्यगो भवेत्।।[1]

---

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष (अप्रैल-मई-जून-2005), पृ० 94-95

स्तोत्रकाव्यलक्षण

इष्टदेवरतिं स्वीयां व्यक्तीकुर्वन् कविः पराम्।
देवभक्तिमयं काव्यं कुरुते स्तोत्रसञ्ज्ञकम्।।
प्रायो गेयं भवेत्येतत् क्वचिच्चैतद् ध्रुवान्वितम्।
अष्टकं शतकं वाऽपि वह्वाकारं च दृश्यते।।

शतककाव्यलक्षण

शतपद्यैः कृतं काव्यं शतकं कथ्यते बुधैः।
एकस्मिन् विषये प्रायः काव्यमेतद् विरच्यते।।

समस्यापूर्तिकाव्यलक्षण

एकं शब्दं च वाक्यं वा पादं पद्यान्तिमं कविः।
पूर्वप्राप्तं समायोज्य समस्यापूर्तिमङ्क्ते।।

नभोनाट्य (रेडियोरूपक) काव्यलक्षण

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं नेदं दृश्यतयोच्यते।
वस्तुतः श्रव्यमेवैतद् यतो न प्रेक्ष्यते जनैः।।
प्रसारणेऽस्य चोच्चारेऽभिनेतुः केवलं ध्वनिः।
श्रोतृभिर्व्योमवाणीतः श्रूयतेऽभिनयात्मकः।।
प्रयोगश्चास्य मञ्चेऽपि क्वचित्सम्भाव्यते ह्यतः।
दृश्यश्रव्यमयं चैतन्नभोनाट्यं प्रकीर्तितम्।।
शब्दप्रत्यक्षतालिङ्गेनात्र दृश्यानुमानता।
अर्थापत्तिरपि क्वापि तदिदं त्रिप्रमाणकम्।।

गीतकाव्यलक्षण

रागलक्षणसंयुक्तं गेयं गीतं ध्रुवान्वितम्।
एकस्मिन् विषये रागे गीतानां तु समुच्चयः।।
किन्तु गीतं भवेन्मुक्तं स्वयं पूर्णं स्वकथ्यतः।
प्रायशः कविगोष्ठीषु गीतमेव प्रशस्यते।।[1]

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष (अप्रैल-मई-जून-2005) , पृ०-96

अनुकृतिकाव्यलक्षण

पूर्वसूरिप्रणीतानां काव्यानामर्थशब्दयोः।
क्रियतेऽनुकृतिर्यत्र कृतिस्साऽनुकृतिर्मता।।
द्व्यर्थी शब्दो भवेदस्यामर्थोन्मेषोऽपि नूतनः।
समशब्दात्मकं व्यङ्ग्यं समश्लोकि च दृश्यते।।

हास्य-व्यङ्ग्य-काव्यलक्षण

नेदं हास्यरसः पूर्वो न व्यङ्ग्यं व्यञ्जनाश्रितम्।
हास्यं चाद्य विनोदार्थं व्यङ्ग्यं विकृतिसूचकम्।।
एतदर्थं प्रयुज्यन्ते सर्वाः शब्दस्य शक्तयः।
प्रायशोऽभिधयैवैतद् गद्यं पद्यं च लिख्यते।।
स्वार्थिनां धूर्त्तनेतृणां धार्मिकानां च वृत्तयः।
हास्यव्यङ्ग्यविधानेऽस्मिन् वर्ण्यन्ते प्रेरणात्मिकाः।।

अन्योक्तिकाव्यलक्षण

अन्यमुद्दिश्य यद्वाच्यं सोद्देश्यं व्यङ्ग्यगर्भितम्।
सोत्प्रासमर्थगम्भीरं काव्यमन्योक्तिसञ्ज्ञकम्।।

बिल्वपत्र (हाइकू) काव्यलक्षण

जापाने 'हाइकु' ख्यातं 'होडक्विति' विधा च या।
रच्यतेऽति गभीराभिस्तिसृभिर्लघुपङ्क्तिभिः।।
आद्या पञ्चाक्षरी ज्ञेया तृतीयाऽपि तथाविधा।
सप्ताक्षरी द्वितीया स्यात् पूर्णा सप्तदशाक्षरी।।
त्रिदलं विल्वपत्रं च सत्तरीत्यादि नामतः।
संस्कृते सृज्यते काव्यं कविभिर्माधवादिभिः।।
शब्दलाघवसामर्थ्यात्कवेर्भावेऽर्थगौरवम्।
भाषापेक्ष्यं समुत्प्रेक्ष्यं सारवद् विश्वतोमुखम्।।
युगस्थितिसमुद्भावे पुराकल्पनभङ्गिमा।

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-पृ०-96-97

एकबिम्बविधानेऽपि चित्रं सम्पूर्णमश्नुते।।
छन्दोऽंशो यस्य विन्यासे छन्दोऽभावोऽपि कुत्रचित्।
दृश्यते किन्तु वक्रोक्तिर्ध्वनिर्वाऽस्मिन् विराजते।।[1]

तान्का-काव्यलक्षण

'तान्का' काव्यप्रकारोऽयं जापानीयैः प्रवर्तितः।
लयानुकारिभिः शब्दैः काव्यमेतद्विरच्यते।।
पञ्चपादात्मकं काव्यं पञ्चसप्ताक्षरैः कृतम्।
आद्ये पञ्च तृतीये च वर्णा अन्येषु सप्त च।।
इङ्गितैरत्र भावानामुन्मेषो व्यञ्जनान्वितः।
प्रायोऽनलंकृतं शिल्पं रहिताडम्बरं च तत्।।
लाघवं शब्दविन्यासे चार्थे व्यञ्जनचारुता।
प्रतीकैरुचितै रम्यं कल्पितं चित्रमश्नुते।

सीजोकाव्यलक्षण

राष्ट्रभक्तिजनाक्रोशसौन्दर्योद्भवनामयम्।
दक्षिणकोरियादेशात्सीजोकाव्यं प्रवर्तितम्।।
वाक्यैस्त्रिभिचतुर्भिवा तिसृभिश्चाथ पङ्क्तिभिः।
शरवेदमितैर्वर्णैः काव्यमेतद्विरच्यते।।
आरम्भे वस्तुनिर्देशो मध्ये कथ्य प्रकाशनम्।
समाप्तौ चात्र वैदग्ध्यभङ्गीभणितिचारुता।।

लघुविम्बकाव्यलक्षण (Mono Emage)

लघुविम्बात्मकं काव्यं यत्पाउण्डेझरादिना।
सर्जितमाङ्लभाषायां संस्कृते माधवादिभिः।।
लघुविम्बात्मके काव्ये चित्रमुद्भावितं परम्।
प्रत्यक्षीक्रियते सद्यो भावकेन्द्रियवृत्तिभिः।।

---

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-पृ०-97-98

यात्रानुव्याहृतं वृत्तं बौद्धिकं भावनामयम्।
कवनान्नूतनीभूतं प्रत्यक्षमिव भासते।।

लिपिरूपककाव्यलक्षण

वर्णे पदक्रमे क्वापि संहितायां पदोच्चये,
अनासत्तिप्रयोगेऽपि हृदयाह्लादको यदा,
रमणीयार्थो भवेन्नूनं तदा स्याल्लिपिरूपकम्।।
श्रव्यं स्यान्नाम तद्भावो भावकैर्लिपिदर्शनात्,
बुध्यते तेन तत्काव्यं लिपिरूपकमुच्यताम्।
माधवहर्षदेवेन प्रणीतेषु यथायथम्।
पिरामिडस्वरूपाद्वा सर्पकाष्ठासनादितः,
वर्णानां संहितारूपं विभक्तीकृत्य युज्यते।।
पूर्वस्य चित्रकाव्यस्य भेदोऽयं नूतनीकृतः।।[1]

लघुवर्णकाव्यलक्षण

विरहो दीर्घवर्णानां सर्वथा यत्र दृष्यते।
लघुवर्णैः कृतं काव्यं लघुवर्णात्मकं भवेत्।।
लघुवर्णप्रयोगेषु वाचोवैदग्ध्यभङ्गिमा।
भावकानां हृदाह्लादे समर्थो जातु सत्कृतौ।।
लघुवर्ण प्रयोगेऽपि काव्यबन्धा मनोहराः।
शब्दसामर्थ्यधीमद्भिः कृता राजन्ति साम्प्रतम्।।[2]

प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त सभी काव्य-भेद-प्रभेद-लक्षण दूर्वा पत्रिका के द्वितीयोन्मेष (अप्रैल-मई-जून-अङ्क) में सन् 2005 में प्रकाशित हैं। ये समस्त लक्षण 'नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा' नामक प्रकाश्य कृति में विस्तार के साथ दिये गये हैं। परन्तु यह कृति वर्तमान समय में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रकाशन विभाग में प्रकाशनाधीन है। दूर्वा पत्रिका में इसका जितना अंश 'नव्यकाव्यतत्त्वविमर्श'

---

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष- (अप्रैल-मई-जून-2005) पृ० 97-98
2. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष-पृ० 98

नामक शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित है, उसका प्रस्तुतीकरण यहाँ किया गया है। प्रो० द्विवेदी ने काव्य-प्रभेद के अनेक लक्षण ऐसे दिये हैं, जो प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी तथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने नहीं दिये हैं। जैसे - प्रगतिशीलकाव्य, अन्योक्तिकाव्य, अनुकृतिकाव्य, शतककाव्य, नभोनाट्यकाव्य, हास्यव्यङ्ग्यकाव्य, विल्वपत्रकाव्य, तान्काकाव्य, सीजोकाव्य, लघुविम्बकाव्य, लिपिरूपककाव्य तथा लघुवर्णकाव्य आदि। इन काव्य-प्रभेद लक्षणों के अतिरिक्त कुछ प्रो० त्रिपाठी ने दिये हैं, जो द्विवेदी जी तथा प्रो० मिश्र जी ने नहीं दिये हैं। यथा- संस्मरण, निबन्ध, रेखाचित्र, जीवनचरित, आत्मकथा तथा यात्रावृत्त आदि। इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ लक्षण प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने दिये हैं; जो प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी तथा प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने नहीं दिये हैं। यथा- नाटकलक्षण, एकाङ्कीलक्षण, खण्डकाव्यादि के कुछ लक्षण, आख्यायिका लक्षण तथा चम्पूकाव्य लक्षण आदि । प्रो० मिश्र ने इन काव्य-प्रभेद लक्षणों के साथ-साथ उनके उदाहरणों को भी प्रस्तुत किया है। ये समस्त लक्षण अर्वाचीन ग्रन्थों के ही दिये गये हैं, परन्तु कहीं-कहीं प्राचीन ग्रन्थों को भी उदाहरणस्वरूप प्रो० मिश्र ने प्रस्तुत किया है।

प्रो० त्रिपाठी, प्रो० मिश्र तथा प्रो० द्विवेदी प्रदत्त काव्य-प्रभेदों के समस्त लक्षण, संस्कृत साहित्य जिज्ञासुओं, कोविदों तथा सहृदयों द्वारा श्लाघनीय, स्वागत योग्य तथा समादरणीय हैं। परन्तु प्रो० द्विवेदी द्वारा प्रदत्त विमान-काव्यलक्षण, जिसका अनुमोदन खण्डकाव्य के अन्तर्गत प्रो० मिश्र ने भी किया है, के सन्दर्भ में मेरा मानना है कि इसे काव्य नहीं माना जाना चाहिए। इसका समाहार प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रदत्त यात्रावृत्तलक्षण के अन्तर्गत मानना चाहिए। यदि विमानकाव्य को काव्य का प्रभेद मान लिया जायेगा तो साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में अव्यवस्था उत्पन्न होने का भय हो जायेगा तथा ऐसा मानने पर अनवस्था दोष व्याप्त हो जायेगा। क्योंकि प्रत्येक आचार्य अपने पूर्ववर्तियों से शिक्षा ग्रहण करके ही काव्यरचना करने में अग्रसर होते हैं। तो इस मत स्वातन्त्र्य का अनुकरण कर उत्तरवर्त्ती काव्यरचना करने वाले काव्यसर्जक कवि, जो कुछ जिस स्थान विशेष पर बैठ कर चिन्तन करेगें, वह उसी प्रकार का काव्य हो जायेगा। यथा-कार में बैठकर चिन्तन करके

लिखा जाने वाला काव्य कारकाव्य तथा वृक्ष पर बैठकर चिन्तन करके लिखा जाने वाला काव्य वृक्षकाव्य तथा रेलयान पर चिन्तन कर लिखा गया काव्य रेलकाव्य हो जायेगा। अतः यह असमीचीन है। इसलिए साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ छेड़-छाड़ न करके कवियों (विद्वानों) को, उनके नियमों के अनुरूप (अनुकूल) काव्यरचना करनी चाहिए। हाँ यदि सिद्धान्तों में यत्र-तत्र परिवर्तन की आवश्यकता है तो उसका परिष्कार सहित प्रस्तुतीकरण जरूर किया जाना चाहिए। जैसा कि प्रो० राजेन्द्र मिश्र जी ने महाकाव्य तथा नाटकादि के लक्षणों में वर्तमान युगीन व्यवस्था के अनुरूप परिवर्तन तथा परिष्कार कर लक्षणों को प्रस्तुत किया है। इसके (विमानकाव्य के) अतिरिक्त जो काव्यलक्षण तथा काव्य-प्रभेद लक्षण आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं, वह सर्वजन ग्राह्य तथा सर्वमान्य हैं। इनमें किसी प्रकार के आक्षेप का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परमपरा के इन संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों का काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण अवदान है। क्योंकि संस्कृत-साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की पूर्व परम्परा में आचार्यों ने प्रभूत मात्रा में साहित्यसर्जन किया है, परन्तु उन्होंने जिन-जिन काव्य विधाओं में काव्यों की रचना की उनके लक्षण नहीं प्रस्तुत किये थे। इन आचार्यों के द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त लक्षणों की परिधि के अन्तर्गत आने वाले असङ्ख्य ग्रन्थ परवर्ती परम्परा से लेकर वर्तमान परम्परा तक रचे गये हैं। अतः इन आचार्यों द्वारा, संस्कृत साहित्य की परम्परा संवर्धनार्थ किया गया यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

(iii) शब्दार्थशक्तिविवेचन

शब्दार्थस्वरूप- संस्कृत-साहित्य में शब्दार्थ का विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। व्याकरण, न्याय और मीमांसा, शब्दार्थ विवेचन करने वाले प्रमुख शास्त्र हैं। व्याकरण-शास्त्र में पद-पदार्थों का विवेचन है, इसलिए इसे पदशास्त्र कहा गया है। न्याय-शास्त्र में विशेष रूप से प्रमाणों का विवेचन है, अतः इसे प्रमाण-शास्त्र तथा मीमांसा-शास्त्र में विशेष रूप से वाक्यार्थ शैली का विवेचन है, इसलिए मीमांसा को वाक्य-शास्त्र कहा जाता है। शाब्दबोध प्रक्रिया में इन तीनों शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, इसीलिए शाब्दबोध में निष्णात, इन तीनों शास्त्रों के मर्मज्ञों को पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ उपाधि से विभूषित

किया गया है। इन शास्त्रों में शब्दार्थ पर विस्तृत चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल साहित्य के सन्दर्भ में इसका विवेचन किया जा रहा है। आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि वैय्याकरण प्रथम विद्वान् हैं; क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वैय्याकरणों ने सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि बतलाया है। उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानों ने भी-(i) वाच्य (ii) वाचक (iii) व्यङ्ग्यार्थ (iv) व्यञ्जनाव्यापार और (v) काव्य पद से व्यवहार्य (अर्थात् काव्य), इन पाँचों को ध्वनि कहा है। ध्वननीति ध्वनि- इस व्युत्पत्ति से वाचक शब्द और वाच्यार्थ को, ध्वन्यते इति ध्वनिः- इस व्युत्पत्ति से व्यङ्गार्थ को, ध्वननं ध्वनिः -इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जनाव्यापार को और ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः- इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त ध्वनिचतुष्टय युक्त काव्य को ध्वनि कहते हैं।[1] आचार्य आनन्दवर्धन के मत की पुष्टि करते हुए मम्मट का मत है कि काव्य के सन्दर्भ में बुध अर्थात् वैय्याकरणों ने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्यों (अर्थात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों) ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ध्वनि पद का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।[2]

इसी आधार पर आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार के शब्द तथा तीन प्रकार के अर्थ का कथन किया है। शब्दार्थ का सहभाव काव्य की परिभाषा है। अतः

---

1. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-13 की वृत्ति-पृ०-53, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी संस्करण।
2. इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-4 की वृत्ति-पृ०- 29, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

शब्दार्थरूपी शरीर वाले- काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं- (1) वाचक (2) लक्षक और (3) व्यञ्जक । इन्हीं तीनों के तीन प्रकार के अर्थ भी होते हैं- (1) वाच्यार्थ (2) लक्ष्यार्थ और (3) व्यङ्ग्यार्थ । इन्हीं तीनों शब्दों के तीनों प्रकार के अर्थों की प्रतीति के लिए इन शब्दों में (1) अभिधा (2) लक्षणा और (3) व्यञ्जना नामक तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ मानी गई हैं। इनका विवेचन क्रमशः आगे किया जायेगा। साहित्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में शब्दार्थ के स्वरूप पर विवेचन पूर्वाचार्यों द्वारा प्रायः किया जा चुका है। अतः इसकी विस्तृत चर्चा तत्तत् ग्रन्थों में द्रष्टव्य है । शब्दार्थ के सम्बन्ध में अर्वाचीन काव्यतत्त्वज्ञ प्रो० राजेन्द्र मिश्र का कथन है –

व्यतीतलक्षवर्षाणां सृष्टिस्साऽद्य न लक्ष्यते।
वपुषा, किन्तु शब्देन गोचरैव स्थिताऽखिला।।
अदृष्टाः पूर्वदृष्टा वा साम्प्रतं दृष्टिगोचराः।
अण्डजाः पिण्डजाश्चैवोद्भिज्जाः स्वेदजा अपि।।
केवलं शब्दमात्रेण सत्तावन्तो महीतले।
ब्रह्मकल्पस्ततोऽनादिनिधनश्शब्द उच्यते।।
किमन्यद् ब्रह्मसत्तापि केवलं शब्दसंश्रिता।
तस्यैव परिणामोऽयं संसारो यस्समुच्यते।।
शब्दालोके भवन्त्येव सार्थकश्चाऽप्यसार्थकाः।
तथापि सार्थकैरेव व्यवहारः प्रवर्तते।।
अर्थवन्तो हि ये शब्दाः काव्ये शास्त्रे प्रयोजिताः।
तेषामर्था हि कोशाद्यैः पूर्ववत एव निश्चिताः।।
अर्थप्रकाशनोद्देश्या यथा शब्दाः प्रकीर्तिताः।
अर्थाश्चापि तथा सर्वे शब्दमूला न चान्यथा।।[1]

प्रो० मिश्र का मत है कि व्यतीत हुए लाखों वर्ष की यह सृष्टि आज भौतिक रूप में तो नहीं दिखाई दे रही, अपितु वाङ्मय के माध्यम से वह पूर्णतः परिलक्षित हो रही है। चाहे अनदेखें हों, या पहले देखे गये हों या फिर वर्तमान में दृष्टिगोचर हो रहे हों, समस्त अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज और

1. अभिराजयशोभूषणम् – वपुस्तत्वोन्मेष- कारिका –1–7, पृ०–61–63

स्वदेज प्राणी इस पृथ्वी पर अपनी सञ्ज्ञामात्र से अस्तित्व में हैं। इसलिए शब्द को आदि एवं अन्त से परे ब्रह्म के समकक्ष बताया गया है। और अधिक क्या, कहा जाय स्वयं ब्रह्म की सत्ता भी केवल शब्द के माध्यम से ज्ञात है। जिसे संसार कहा जाता है, यह शब्द–ब्रह्म का परिणाम है। लोक में सार्थक शब्द भी होते हैं और असार्थक भी। फिर भी सार्थक शब्दों से लोक व्यवहार प्रवर्तित होता है। आर्थों से युक्त जो शब्द काव्य एवं शास्त्र में प्रयोजित होते हैं, उनके अर्थ कोशादि ग्रन्थों द्वारा पहले से निश्चित किये होते हैं। जैसे शब्दों का एकमात्र उद्देश्य होता है अर्थ का प्रकाशन करना, उसी प्रकार समस्त अर्थ भी शब्दमूलक (शब्द से निस्सृत) ही होते हैं, अन्य प्रकार के नहीं पुनश्च प्रो० मिश्र शब्द और अर्थ के अविनाभाव सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

उभयोरविनाभावसम्बन्धो हि विकस्वरः।
तस्मादङ्गीकृतः पूर्वसूरिभिस्तत्त्वपारगैः।।
अतात्त्विको यथा भेदो मतो नीरतरङ्गयोः।
तथा शब्दार्थयोर्भेदो नाऽत्र कश्चिद्धि संशयः।।
केवलेऽपि यथाऽख्याते ब्रह्मशब्दे निसर्गतः।
माययोपहितं ब्रह्म स्वयमेवाऽवबुध्यते।।
शब्दब्रह्मपदेनापि तथैवाशु प्रकाश्यते।
शब्दस्यार्थवतश्चैव ब्रह्मत्वं ननु निश्चितम्।।
शब्दार्थयोः सहितयोस्तादृग्गुणविशिष्टयोः।
भावस्साहित्यमाख्यातं वाङ्मयं यत्समुच्यते।।
वेदाः सर्वे पुराणानि शास्त्रैतिह्यपुराणकथाः।
काव्यनाट्यानि किञ्चैव साहितीसृतयोऽखिलाः।
साहित्यं निखिलं लोके गोचरं वाऽप्यगोचरम्।
शब्दार्थयोः समष्टयैव मण्डितं नात्र संशयः।।
साहित्यं तादृशं नौमि वैधसीसृष्टिदर्पणम्।
यस्मिन्नहो पुरातीतं प्रत्यक्षं परिलक्ष्यते।।
यत्साहित्यमहिम्नैव गौतमादिमहर्षयः।
कवयः कालिदासाद्या जेजीव्यन्ते निरन्तरम्।।

मोहध्वान्तमपाकर्तुं सन्नाद्धां स्मितकाङ्कुरैः।
साहित्य देवतां वन्दे वरटस्थां सरस्वतीम्।।
याऽन्तः प्रविश्य निर्माति सामान्यमपि मानवम्।
महाकवीश्वरं वन्द्यं तामहं नौमि शारदाम्।।[1]

शब्द और अर्थ दोनों का असन्दिग्ध अविनाभाव इसीलिए तत्त्वपरम्परागत पूर्व-सूरियों द्वारा स्वीकार किया गया है। जिस तरह जल और तरङ्ग का भेद अतात्त्विक है, इसी प्रकार शब्द और अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। जिस प्रकार केवल ब्रह्म शब्द के उच्चारण से मायोपहित ब्रह्म का बोध स्वतः हो जाता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म पद से भी अर्थवान् शब्द के ब्रह्मत्व का निश्चित रूप से झटिति प्रकाशन हो जाता है। अतः इस प्रकार के वैशिष्ट्य से युक्त, मिथः सम्पृक्त शब्द एवं अर्थ का भाव ही साहित्य कहा गया है, जिसे वाङ्मय भी कहा जाता है। समस्त वेद एवं पुराण, शास्त्र-इतिहास-पुराकथाएँ, काव्य एवं नाट्य, यहाँ तक कि समस्त साहित्य विधाएँ, लोक में गोचर अथवा अगोचर समस्त साहित्य, शब्द और अर्थ की समष्टि से निःसंशय मण्डित है।

प्रो० मिश्र कहते हैं कि वैधसी सृष्टि के दर्पणभूत, उस प्रकार के साहित्य को मैं नमन करता हूँ, जिसमें प्राचीन काल में घटित अतीत (भी) प्रत्यक्षवत् परिलक्षित होता है। जिस साहित्य की महिमा से ही गौतमादि महर्षि तथा कालिदासादि कविगण निरन्तर जी रहे हैं। अपनी मन्द-मुस्कान के प्रसार-मात्र से अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के लिए (सतत्) सन्नद्ध (समुद्यत) रहने वाली साहित्य देवता हंसवाहिनी सरस्वती को प्रणाम करता हूँ। जो अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर सामान्य मनुष्य को भी महाकवीश्वर बना देती हैं, उस वागधिष्ठात्री शारदा को प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने प्राचीन आचार्यों द्वारा विवेचित शब्दार्थ स्वरूप के सारांश को प्रस्तुत करते हुए उसमें समग्र ब्रह्माण्ड की सत्ता को ही व्यवस्थित बतलाया है। आचार्य का मत है इस त्रयलोक्य में जो कुछ भी दृश्यादृश्य पदार्थ हैं, वह सब शब्दब्रह्म के ही स्फुरण हैं तथा उसी से बोध्य भी हैं। जैसे 'यह घट है' इसका उच्चारण करने पर प्रयुक्त शब्द-युगल (अयं घटः) द्वारा जिस घट

1. अभिराजयशोभूषणम् -कारिका-8-18-पृ०-63-65

का ज्ञान होता है, वह ज्ञान घटरूप वस्तु-विशेष से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। यदि ऐसा न होता तो वस्तु का ज्ञान वस्तु से भिन्न हो जाता। अतः इसी प्रक्रिया के माध्यम से सर्वस्व शब्द से ही, शब्द के अपने अभिप्राय रूप में प्रवृत्त होने के कारण भासित होता है। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ विशेष का प्रकाशन करता है। यथा – 'गौः' शब्द गलकम्बलमान पशुविशेष को बोधित करता है।

आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने यद्यपि कुछ विप्रतिपत्तियाँ शब्दार्थ के सम्बन्ध में प्रस्तुत की हैं, तथापि बतलाया कि मम्मटादि आचार्यों द्वारा बतलाया गया शब्दार्थ स्वरूप ही मान्य है। उनका मत है- शब्दत्व जातिमान शब्द का और तदभिधेयत्व अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तादात्म्य (भेदाघटितत्व) है। वह पद और वाक्य दोनों में ही रहता है। इस प्रकार आचार्य शास्त्री ने पूर्वाचार्यों के अभिमत में अपनी स्वीकृति प्रदान की है।[1]

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने शब्द और अर्थ की वेदान्तदर्शन की दृष्टि से गम्भीर और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका मानना है कि शब्द और अर्थ दोनों ज्ञानात्मक हैं। शब्दत्व केवल वैखरी तक सीमित रहता है। मध्यमा, पश्यन्ती और परा संवित् हैं। वैखरी के रूप में भी शब्द काव्य नहीं है, क्योंकि अनुवाद में वह बदल जाता है तथा मूक कवि में सर्वथा उसका अभाव रहता है। शब्द का ज्ञान काव्य तक पहुँचता है, अपितु शब्द नहीं और वह काव्य की उपाधि ही बना रहता है, काव्य नहीं। शब्द के परिवर्तन से केवल सङ्गीत-धर्म ही परिवर्तित होते हैं, काव्य नहीं। आनन्दकोष को उल्लसित करने वाला अलङ्कार से युक्त वाक्यार्थ होता है। जैसा कि काव्यालङ्कारकारिका की प्रथम कारिका में बतलाया गया है-

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलंकृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला।।[2]

प्रो० द्विवेदी का मत है कि शब्द और अर्थ तथा इन दोनों (शब्दार्थ) का

---

1. काव्य-शब्दार्थयोः पूर्वैर्यो विमर्शः प्रदर्शितः।
स एवात्रातिसंक्षिप्य लिख्यते बुद्धिवृद्धये।।

साहित्यबिन्दु-द्वितीय बिन्दु-कारिका-1

2. काव्यालङ्कारकारिका- अधिकरण-प्रथम-कारिका-1

पारस्परिक सम्बन्ध (जिसे शक्ति कहा गया है), ये तीनों काव्य में ज्ञानात्मक रूप से रहते हैं। अर्थ ज्ञान शब्दज्ञान से होता है, अतः सम्बन्ध भी इन तीनों ज्ञानों में ज्ञानात्मक ही होगा। इन सबका काव्य-शरीर में समवाय या तादात्म्य ही होता है, जैसे प्रतिबिम्ब में शरीर का। इसी आधार पर प्रो० द्विवेदी ने काव्य का लक्षण किया-काव्यं ज्ञानम् और बतलाया कि अलम्भावात्मक अलङ्कार काव्य-शरीर में रहता है, और वही काव्य की आत्मा कहा जा सकता है, रस नहीं, क्योंकि आस्वाद के रूप में रस सहृदय में रहता है और उसकी अभिव्यञ्जक सामग्री काव्य में रहती है, जिसे रसोक्ति नामक अलङ्कार कहा गया है।[1] इस प्रकार प्रो० द्विवेदी ने शरीर रूपी काव्य-शरीर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर पर व्याख्या करके उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। प्रो० द्विवेदी ने इस विषय पर सतर्क विस्तृत चर्चा की है। इसका संक्षिप्त सार ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उनके तर्कों तथा उदाहरणों को नहीं। विस्तार के साथ इसका अवेक्षण तद्ग्रन्थ में किया जा सकता है। प्रो० द्विवेदी ने इस प्रकार से काव्य-विज्ञान की एक नई सरणि को प्रस्तुत करते हुए कहा -

काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्वं नोपपद्यते।
शब्दस्य ज्ञानतायां च शब्दतैव विनश्यति।।[2]

काव्य ज्ञानरूप है, तब शब्द सिद्ध नहीं हो सकता। यदि शब्द को ज्ञान मान लिया जाये तो उसका शब्दत्व ही नष्ट हो जाता है। परन्तु डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने प्रो० द्विवेदी जी के इस मत का खण्डन किया है। उनका मत है -

सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थितिः।
शब्दार्थयोर्हि सद्भावात्, अस्य साहित्यरूपता।।
शब्दः काव्याद्वहिर्भूतः, एतद् द्विवेदिनां मतम्।
शब्दरूपविचारे हि, काव्ये तन्नोपपद्यते।।
अभिव्यक्तौ तु दुग्धस्य, हेतुरूपस्नुतिः क्रिया।
नास्या धेन्वा वहिर्भावः तस्यामस्याः स्थितिर्मता।।

1, काव्यालङ्कारकारिका-अधिकरण-चतुर्थ-कारिका-67-171
2. वही-कारिका-123

काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे, वैमत्यं न कदाचन।
वाह्यत्वेन स्थितः शब्दः, ज्ञानाकारं प्रपद्यते।।
शब्दस्य ज्ञानतायां हि, शब्दो यदि विनश्यति।
अर्थस्य ज्ञानतायां हि, नश्येदर्थ इति ध्रुवम्।।
श्रोतस्य विषयः शब्दः ज्ञानाकारं प्रपद्यते।
मूकान्नास्य वहिर्भावः, तत्र तस्य स्थितिर्मता।।
अनुवादे हि काव्यस्य, उत्कृष्टताऽपचीयते।
परिवृत्तिर्यथा शब्दे, अर्थेऽपि सा तथा मता।।[1]

अर्थात् अर्थ के शब्द में अनुस्यूत रहने से शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर काव्य का स्वरूप हैं। काव्य में सत्य की उपस्थिति अर्थ रूप में होती है। काव्य की ज्ञानरूपता में मेरा कोई वैमत्य नहीं है, अपितु शब्द का ज्ञान होने पर यदि शब्द नष्ट हो जाता है तो अर्थ का ज्ञान होने पर अर्थ भी निश्चित ही नष्ट हो जायेगा। अतः दोनों की स्थिति समान है। इस प्रकार डॉ० शर्मा ने द्विवेदी जी के समस्त तर्कों पर अपने मत को प्रस्तुत किया है। प्रो० द्विवेदी जी जब शब्द और अर्थ दोनों को ज्ञानात्मक मान रहे हैं तो शब्द की स्थिति भी अर्थ के सदृश ही होनी चाहिए अन्यथा दोनों का सहभाव कहाँ रहा। इससे तो काव्य शरीर पङ्गु हो जायेगा। अतः शब्द और अर्थ दोनों काव्य में अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं और दोनों की अवस्थिती समान होती है। यथा- पं० गिरिधर लाल शास्त्री ने भी शब्दार्थ के नित्यसम्बन्ध को उपस्थापित करते हुए कहा है-

शब्दःश्रोत्रेनिन्द्रग्राह्यो ह्यर्थप्रत्यायकः स्मृतः।
श्रोत्रेतरेन्द्रियग्राह्याः शब्दवाच्योऽर्थउच्यते।।
कथितो नित्यसम्बन्धो नूनं शब्दार्थयोर्द्वयोः।
काव्ये प्राधान्यमश्नाति शब्दार्थयुगलं ततः।।[2]

प्रो० शिवजी उपाध्याय ने भी शब्द और अर्थ दोनों की समान सहभागिता का ही कथन किया है। उनका मत है-

---

1. काव्यसत्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-11-17
2. अभिनवकाव्यप्रकाश-द्वितीयोन्मेष-कारिका-2-3

सहभावेन साहित्यं काव्ये शब्दार्थयोर्मतम्।
तयोरेकतरस्यापि द्वयोर्वा सुष्ठुसंस्थितौ।।[1]

प्रो० उपाध्याय ने शब्दार्थ के स्वरूप का विस्तृत विवेचन, अपने ग्रन्थ साहित्य सन्दर्भ के चतुर्थ अधिकरण साहित्यस्वरूप विमर्शः के अन्तर्गत स्वरचित 25 कारिकाओं तथा उस वृत्ति पर लिख कर किया है। डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने भी शब्द और अर्थ दोनों की सहभागिता का ही कथन किया है। उनका मत है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की बराबरी इस रूप में है कि चमत्कार की दृष्टि से प्रधान कहलाने वाला अर्थ शब्द के बल पर ही निकलता है और शब्द की सहकारिता के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार शब्द का चमत्कार तभी बनता है जब वह किसी अर्थान्तर का सहारा लिये रहता है। इस प्रकार अर्थ की चारुता में शब्द का और शब्द की चारुता में अर्थ का सहयोग दोनों के समभाव को प्रमाणित कर देता है।[2]

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने परस्परस्पर्धाधिरोह के आधार पर शब्द और अर्थ में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उनका मत है अङ्गाङ्गिभाव, उपकार्योपकारकभाव तथा परस्परस्पर्धाधिरोह ये तीन इन वाच्यादि अर्थों के सहभाव की अवस्थायें हैं।[3] अतः प्रो० त्रिपाठी ने भी शब्दों और अर्थों की पारस्परिक सहभागिता का ही कथन किया है।

इस प्रकार समस्त आचार्यों ने शब्दों और अर्थों की सहभागिता में ही काव्य की अवस्थिति को प्रमाणित किया है। इस सम्बन्ध में इस सदी के आचार्यों का पूर्वाचार्यों से कोई वैमत्य नहीं है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी का मत है कि शब्द और अर्थ तथा उसका सम्बन्ध (शक्ति) तीनों ज्ञानात्मक हैं। इसी आधार पर उन्होंने काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि– काव्यं ज्ञानं अर्थात्

---

1. साहित्यसन्दर्भः – चतुर्थ अधिकरण – कारिका–1
2. सह शब्दार्थयोर्भावात् साहित्यं काव्यलक्षणम्।
   अन्यत्र शब्दमात्रस्य किंवाऽर्थस्य प्रधानता।।
   अभिनवकाव्यशास्त्र– प्रथम आयाम – सूत्र – 1
3. अङ्गाङ्गिभावः, उपकार्योपकारकभावः, परस्परस्पर्धाधिरोहश्चेति भवन्ति त्रयणामपि अर्थानां परस्पर सहभावस्यावस्थाः।
   अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र– प्रथम अधिकरण– अध्याय – 5 पृ० 29

काव्य ज्ञान है तथा बतलाया कि शब्द अपना अर्थ प्रदान कर पितामह की भाँति ही नष्ट हो जाता है। परन्तु काव्य के क्षेत्र में इस प्रकार की सम्मति से अनवस्था उत्पन्न होती है, क्योंकि काव्यशरीर और काव्यात्मा तथा मानवशरीर और मानव-आत्मा में जड़ चेतनवत् भिन्नताएँ हैं, जो काव्य में सम्भव नहीं हैं। अतः काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का समान भाव ही मान्य है। प्रयोजन और प्रवृत्ति के आधार पर ही प्रत्येक शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है, इसलिए अन्य-अन्य विषयों के अन्य-अन्य प्रयोजन हैं। अतः काव्य का भी प्रयोजन है- सहृदयहृदयाह्लादन (रसास्वादन) उसी के अनुरूप उसका व्याख्यान भी होना चाहिए। यदि काव्य का भी प्रयोजन ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करवाना हो जायेगा तो दर्शन आदि विषयों का प्रयोजन क्यूँ ? काव्य में आनन्द को ब्रह्मानन्दसहोदर माना गया हैं, साक्षाद् ब्रह्मानन्द नहीं। दर्शन का प्रयोजन तो साक्षाद् ब्रह्ममानन्द की प्राप्ति अथवा ब्रह्मस्वरूप ही हो जाना, आप्त पुरुषों (ब्रह्मवेत्ताओं) द्वारा तथा शास्त्रों में बतलाया गया है। प्रो० द्विवेदी जी का यह कथन कि, काव्य का प्रयोजन है आनन्द और आनन्द को ही ब्रह्म बतलाया गया है, स्वीकार करने में बाधा उत्पन्न होती है; क्योंकि दोनों प्रकार के आनन्द परस्पर भिन्न हैं।

नाट्यशास्त्र का प्रयोजन समस्त विषयों का ज्ञान कराना है। इसी प्रयोजन को उद्देश्य करके भामह, दण्डी आदि आलङ्कारिक आचार्यों ने आलङ्कारिक ग्रन्थों की रचनाएँ की। सभी विषयों का ज्ञान प्रवृत्ति प्रयोजन मूलक होता है। यदि मान लिया जाये, काव्य की आत्मा 'रस' है और रस का अर्थ है- आनन्द। परन्तु रस के विभाग भी हैं, जिनका आनन्द (स्वाद) एक जैसा नहीं है। शृङ्गार का आनन्द अन्य तथा भक्ति का अन्य है। इसका एक पक्ष साक्षाद् ब्रह्मानन्द का बोधक हो सकता है तथा अन्य केवल ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द के बोधक हो सकते हैं। प्रो० द्विवेदी के अनुसार अलंकार काव्य की आत्मा है। इसमें अलं है- परब्रह्म तथा उसके साथ का पद कार स्वार्थक प्रत्यय है। अतः अलंकारशास्त्र ब्रह्मविद्या का शास्त्र है। (संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास पृ०1)। इस आधार पर भी सभी अलंकार ब्रह्म की प्राप्ति कराने के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि उनका भी विभाग है और वे भी अन्यान्य प्रयोजन मूलक हैं। अतः इन अलङ्कारों में भी, जिसे पूर्वाचार्य भामह दण्डी आदि ने प्रेयस अलङ्कार कहा है, केवल वह ही ब्रह्म प्राप्ति का प्रयोजक हो सकता है अन्य अंलङ्कार नहीं, क्योंकि अन्यों के अन्य-अन्य प्रयोजन हैं।

इसलिए काव्य का प्रयोजन केवल ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकता। उसका प्रयोजन केवल ब्रह्मानन्द सदृश आनन्द की प्राप्ति है, जिसे काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा ही भलीभाँति बतलाया भी गया है।

आचार्य भरत ने यद्यपि शान्त रस से ही अन्य सभी रसों की उत्पत्ति मानी है। पुनश्चः सब का उसी में अन्तर्भाव माना फिर भी सबके अन्य-अन्य स्थायी भावों को भी बतलाया है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म का परिणाम है। वही इसका उपादान और निमित्त दोनों कारण है। तथापि उसे सृष्टि सञ्चालन के निमित्त अन्य-अन्य प्रयोजन मूलक तत्त्वों (पदार्थों) का निर्माण करना पड़ता है। इस सृष्टि में जिस प्रकार पञ्चभूतों, प्राकृतिक षड्रसों तथा षड्ऋतुओं का अलग-अलग अन्यान्य प्रयोजन है, उसी प्रकार काव्य में भी नव रसों और विभिन्न अलंकारों का अन्यान्य प्रयोजन है। अतः अलंकारशास्त्र ब्रह्मविद्या का शास्त्र नहीं कहा जा सकता, न किसी काव्यशास्त्र के आचार्य ने कहा है। अलङ्कारशास्त्र केवल काव्यविद्या का शास्त्र है और उसका प्रयोजन चमत्कार जनित आनन्द (काव्यानन्द) की प्राप्ति कराना है।

शब्दशक्ति

(क) पारम्परिक मत

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने शब्दशक्तियों पर विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु समस्त आचार्यों के समन्वित स्वरूप को व्यवस्थित ढङ्ग से आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है। अतः यहाँ पर पारम्परिक मत के सन्दर्भ में केवल मम्मट के मत को उपस्थापित किया जा रहा है। तदनन्तर अर्वाचीन आचार्यों के मतों को उपस्थापित किया जायेगा। काव्य में तीन प्रकार के शब्द बतलाये गये हैं-

1. वाचक - वाचक शब्द चार प्रकार का होता है- जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा वाचक
2. लक्षक और
3. व्यञ्जक

इन्हीं तीन शब्दों के तीन अर्थ भी बतलाये गये हैं-

1. वाच्य
2. लक्ष्य और
3. व्यङ्ग्य

उपर्युक्त इन्हीं तीनों शब्दों के अर्थों के अवबोधन में तीन प्रकार की शब्दशक्तियों का भी कथन किया गया है-

1. अभिधा
2. लक्षणा और
3. व्यञ्जना

पद और पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहा गया है- यथा- **अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरसङ्केतः शक्तिः।** अतः शक्ति को सङ्केत तथा शक्तिग्रह को सङ्केतग्रह कहते हैं। शक्ति को सङ्केत इसलिए कहा जाता है कि इस पद का यह अर्थ है या यह पद इस अर्थ का बोधक है- इस प्रकार का ईश्वरेच्छारूप सङ्केतग्रह होता है। संङ्केतग्रह या शक्तिग्रह का उपाय क्या है? इसका उपाय न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की निम्नलिखित कारिका में बतलाया गया है-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।[1]

इसका विवेचन काव्यप्रकाशादि ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है। अतः यह प्रकरण व्यवस्थित ढंग से वहीं पर देखा जा सकता है। यद्यपि काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने शब्दशक्तियों का विवेचन किया है। यथा-मुकुलभट्ट, आनन्दवर्धन, आचार्य विश्वनाथ तथा मम्मटादि। यहाँ पर अर्वाचीन आचार्यों के शब्दशक्ति के सम्बन्ध में मत प्रस्तुति के पूर्व आचार्य मम्मट के अनुसार इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। क्योंकि आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त काव्यशास्त्रों का अवलोकन कर उसका परिष्कारपूर्वक विवेचन किया है।

---

1. द्रष्टव्य-काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र-9 की व्याख्या में।

1. **अभिधा-स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते'**[1]- साक्षात् सङ्केतित अर्थ (वाच्यार्थ) ही मुख्यार्थ होता है। इस मुख्यार्थ के अवबोधन में शब्द का जो व्यापार है, वह अभिधावृत्ति (शक्ति) कहलाता है। यथा- मुख, नेत्र, कमल, तथा लता आदि।

2. **लक्षणा-मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।**
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।[2]

(1) मुख्यार्थ का बाध होने पर, (2) उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ अथवा अन्यार्थ का सम्बन्ध होने पर, (3) रूढ़ि अथवा प्रयोजन-विशेष से, जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्यार्थ लक्षित होता है। वह मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है। यहाँ पर मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन इन तीनों को लक्षणा का समुदित हेतु माना गया है।

उदाहरणार्थ- कर्मणिकुशलः तथा गङ्गायां घोषः में कर्मणिकुशलः इस प्रयोग में कुशों को लाने में कोई सम्बन्ध न होने से तथा गङ्गायांघोषः इस प्रयोग में प्रवाह में घोष का होना सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। अतः प्रथम प्रयोग में विवेचकत्वादि तथा द्वितीय में सामीप्यादि सम्बन्ध होने पर, कुशल शब्द के दक्ष अर्थ में रूढ होने के कारण रूढ़िवशात् तथा गङ्गायां घोषः में गङ्गातट पर घोष है अर्थात् शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन से जो मुख्यार्थ से सम्बद्ध अमुख्यार्थ की प्रतीति है, वह व्यवहित (दृष्टि से ओझल) अर्थ में रहने वाला आरोपित शब्दव्यापार लक्षणा है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा तेन षड्विधा[3] कहकर मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का कथन किया है। प्रथमतः इसके दो भेद हैं-

1. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास- सूत्र-11-कारिका-8
2. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र-12 कारिका-9
3. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र 17- कारिका-12

1. शुद्धा और
2. गौणी

इनमें उपचार रहित लक्षणा शुद्धा तथा उपचार सहित गौणी कहलाती है। पुनः शुद्धाः के दो भेद हो जाते हैं-

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।[1]

(1) उपादान लक्षणा– स्वसिद्धये पराक्षेपः -अर्थात् वाच्यार्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए अन्यार्थ (अशक्यार्थ) का आक्षेप (ग्रहण) करना ही उपादान लक्षणा है। यथा- 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में कुन्त शब्द अपने अर्थ का परित्याग किए बिना ही अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप कर लेता है। इसी को अजहत्स्वार्थावृत्ति (अजहल्लक्षणा) भी कहा गया है।

(2) लक्षण लक्षणा - परार्थं स्वसमर्पणम् - जहाँ पर दूसरे या अशक्य अर्थ की सिद्धि के लिए, अपने अर्थ का समर्पण (परित्याग) कर दिया जाता है, वहाँ लक्षण लक्षणा होती है। यथा- गङ्गायां घोषः में गङ्गा पद अन्य अर्थ (अशक्यार्थ) के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने प्रवाह रूप शक्यार्थ का परित्याग कर देता है। इसे जहत्स्वार्थावृत्ति (जहल्लक्षणा) भी कहते हैं। इन दोनों शुद्धा और गौणी के पुनः सारोपा और साध्यवसाना से दो-दो भेद हो जाते हैं-

(i) सारोपा-सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।[2] - जहाँ पर आरोप्यमाण विषयी (उपमान) और आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित हों, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। यथा- आर्युघृतम् ।

---

1. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र-13- कारिका-10
2. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र-14- कारिका-11

(ii) साध्यवसाना- विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका[1] - जहाँ पर विषयी के द्वारा अन्य आरोप विषय का अन्तर्भाव कर लिया जाता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। यथा- आयुरेवेदम्। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेद बतलाये हैं।

(3) व्यञ्जना-काव्य की तीनों शब्द शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की वाणी में विलसित, व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति व्यञ्जनावृत्ति कहलाती है। इसी शक्ति के आश्रयभूत काव्य को उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य) कहा जाता है। यह दो प्रकार की बतलायी गई है-

(i) शाब्दी व्यञ्जना और

(ii) आर्थी व्यञ्जना।

(i) शाब्दीव्यञ्जना

जब शब्द में व्यञ्जना रहती है, तो अर्थ तथा जब अर्थ में व्यञ्जना रहती है, तो शब्द सहकारी होता है। शाब्दी व्यञ्जना को भी दो वर्गों में विभाजित किया गया है-

(i) अभिधामूला व्यञ्जना और

(ii) लक्षणामूला व्यञ्जना ।

(i) अभिधामूला व्यञ्जना

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।[2]

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के नियन्त्रित हो जाने

---

1. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास- सूत्र 15- कारिका-11
2. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास सूत्र 32- कारिका-19

पर वाच्यार्थ भिन्न अर्थ की प्रतीति वाला व्यापार व्यञ्जना कहलाता है। यथा- सशंखचक्रो हरिः, अशंख चक्रोहरि इत्यादि में प्रथम प्रयोग में संयोग तथा द्वितीय में विप्रयोग से हरिः शब्द अच्युत (विष्णु) अर्थ में नियन्त्रित है। अतः यहाँ पर अभिधामूला व्यञ्जना है।

(ii) लक्षणामूला व्यञ्जना

गङ्गायां घोषः इस प्रयोग में गङ्गा पद से तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद जो शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन रूप धर्मों की प्रतीति होती है, इसमें लक्षणामूला व्यञ्जना शक्ति ही कार्य करती है- **व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने**[1] और उस शैत्यादि व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द का व्यञ्जनात्मक व्यापार होता है- (**तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः**[2]) अर्थात् यहाँ पर शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्द से गम्य उस प्रयोजन के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं होता-

> **यस्य प्रतीतिमा धातुं लक्षणा समुपास्यते।**
> **फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया।।**[3]

इसलिये प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति कराने में लक्षणा की तीन शर्तों (मुख्यार्थबाधादि) का प्रयोग नहीं हो पाता है- (हेत्वाभावान्नलक्षणा[4]) जैसा कि मम्मट ने कहा भी है-

> **लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।**
> **न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।।**[5]

अतः स्पष्ट है कि प्रयोजन के सहित तट को लक्ष्यार्थ मानना उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान का विषय अन्य तथा फल (प्रयोजन) अन्य ही होता है-

1. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र 18- कारिका-13
2. वही-सूत्र 22- कारिका-14
3. वही- सूत्र 23- कारिका-14
4. वही-सूत्र 25- कारिका-15
5. काव्यप्रकाश-द्वितीय उल्लास-सूत्र 26-कारिका-16

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।।[1]

(ii) आर्थी व्यञ्जना- आचार्य मम्मट का कथन है-

वक्तृवोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात प्रतिभाजुषाम्।।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।।[2]

वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि से (आदि शब्द का तात्पर्य चेष्यादि के वैशिष्टय से है) प्रतिभावानों (सहृदयों) को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ का व्यापार होता है, वह ही आर्थी व्यञ्जना कहलाता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने आर्थी व्यञ्जना के दश (10) प्रकारों का कथन कर उनका काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में सोदाहरण व्याख्यान किया है। विस्तार के साथ यह प्रकरण वहीं पर द्रष्टव्य है। इसका संक्षिप्त सार प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

तीन प्रकार के शब्दों के तीन प्रकार के अर्थ तथा इनकी बोधक तीन प्रकार की शब्दशक्तियों के अतिरिक्त चौथे प्रकार के अर्थ तात्पर्यार्थ तथा उसकी तात्पर्याख्या नामक शक्ति का भी विवेचन मम्मट ने किया है। तात्पर्यावृत्ति को मानने वाले अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि हैं। इसका विस्तृत विवेचन मम्मट ने-तात्पर्याथोऽपि केषुचित्।[3] कहकर द्वितीय उल्लास में ही किया है अब शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में अर्वाचीन आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(ख) अर्वाचीन मत

आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने भी मम्मट के अनुसार तीन प्रकार के शब्दों, अर्थों तथा तीन प्रकार की शब्द शक्तियों का विवेचन किया है। इनका कहना है -

---

1. काव्यप्रकाश-द्वितीय-उल्लास-सूत्र 28-29 कारिका-17
2. वही-तृतीय उल्लास-सूत्र-37-कारिका-21-22
3. वही-द्वितीय उल्लास-सूत्र 7- कारिका-6

काव्य-शब्दार्थयोः पूर्वैर्योविमर्शः प्रदर्शितः।
स एवात्रातिसंक्षिप्य लिख्यते बुद्धिवृद्धये।।
वाचको लाक्षणिको व्यञ्जकस्त्रिविधो मतः।
शब्दस्तदर्थो वाच्यादिः तात्पर्य कस्यचिन्मते।।[1]

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्य में शब्दशक्तियों को नहीं माना है। उनका मत है कि काव्य की भाषा और अर्थ इन दोनों के ज्ञान में जो शक्ति है, यह सब संवित्स्वरूप है, उससे पृथक् नहीं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है-

एवं काव्यस्य या भाषा, यश्चार्थो, या च तद्धियोः।
शक्तिः सर्वमिदं सम्वित्स्वरूपं, न ततः पृथक्।।
शब्दस्यैकाऽभिधा शक्ति-रिति वादी महामतिः।
वेदस्यापौरुषेयत्वाद् भ्रान्ति-श्वभ्रे नृगायते।।
शब्दशक्तिविचारो यः कवितादर्शने विदाम्।
सोऽयं रेवा-तटे मत्स्यवेधो धीवरताजुषाम्।।[2]

इस सन्दर्भ का विवेचन करते हुए प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ अभिधावृत्तमातृका में इसका खण्डन किया है। शब्दशक्ति को विषकन्या बतलाते हुए आचार्य का कथन है कि -

नमामः शब्दशक्त्याख्यां शाबरीं विषकन्यकाम्।
लग्नया श्रुतिमात्रेऽपि यया मूढा विपश्चितः।।
आनन्दवर्धनोऽपश्यत तस्यास्त्रिविधरूपताम्।
भट्टश्रीमुकुलश्चैव दशवृत्तविवर्त्तिताम्।
अपरे त्वनयोर्मोहं सत्यापयितुमिच्छवः।
कलहं कर्त्तुमारब्धाः पक्षमन्यतरं श्रिताः।।
तत्र श्रीमम्मटो हन्त गतस्तामेव दुर्गतिम्।
उच्चैस्त्रैविध्यपक्षेण स्वं श्रृणीते परश्वधम्।
ऐन्द्रजालिकलीलायां सत्यतां पश्यतामिमाम्।
मोहलीलां बुधाः पश्यन्त्वत्र मद्भाष्यभूषिताम्।।[3]

---

1. साहित्यबिन्दु-द्वितीय बिन्दु-कारिका-1-2
2. काव्यालङ्कारकारिका-कारिका-169-71
3. वही-पृ०-32-33 अभिधावृत्तमातृका से उद्धृत

प्रो० द्विवेदी शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर में शक्ति और रस दोनों का अभाव मानते हैं। उनका कहना है –

> रसस्य या च निष्पत्तिप्रक्रिया सापि सत्स्वसा।
> तद्विचारः पयोऽपीत्वा तत्पात्रे तक्रपातनम्।।
> काव्ये स्फटिकपात्रे नु रसान् रश्मीन् यथा विधोः।
> लेढुं व्यवसिताः क्षीरभ्रान्त्या वैडालिका बुधाः।।
> क इमान् वारयेदद्य वर्षाणां शतकानि ये।
> व्यतिचक्रुर्मरीचिस्थैर् जलैरात्माभिषेचने।।
> एवं नास्त्येव शब्दस्य देहे शक्ती रसो यथा।
> तद्विचारोऽपि यः सोऽत्र करकाऽऽसारतोऽपृथक्।।[1]

अतः इन दोनों पर विचार करना ठीक उस प्रकार है, जैसे किसी पात्र से दूध न पीकर उसमें तक्र (मठ्ठा) डालना। काव्य स्फटिक पात्र है। उसमें (रस) चन्द्र किरणों के पड़ने से विद्वानों ने उसे दूध समझ लिया और विडाल बन कर उसे चाटने लगे। इन्हें इस समय कौन रोक सकता है जो मारीचि के जल में शताब्दियों से स्नान करते चले आये हैं। अतः शब्द के शरीर में न शक्ति रहती है न रस। इन दोनों का जो विचार है वह भी उपलवृष्टि (ओले पड़ने) से भिन्न नहीं है।

पं० गिरिधर लाल शास्त्री ने भी मम्मटानुसार तीन प्रकार की शक्तियों को माना है। उनका कथन है –

> अभिधा लक्षणा चैव व्यञ्जना चेत्यनुक्रमात्।
> शब्दानां शक्तयस्तिस्त्रो याभिरर्थगतिभर्वेत्।।
> वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया तथा।
> व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया व्यक्तो भवतीति विपश्चितः।।[2]

अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तीन प्रकार की ही शब्दशक्तियाँ होती हैं, जिनमें वाच्यार्थ अभिधा बोध्य, लक्ष्यार्थ लक्षणा बोध्य तथा व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जनाशक्ति बोध्य होता है।

---

1. काव्यालङ्कारकारिका–कारिका–172–75
2. अभिनवकाव्यप्रकाश–द्वितीय उन्मेष–कारिका–6–7

डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने भी तीन ही शब्दशक्तियों को स्वीकृति प्रदान की है तथा साहित्यदर्पणकार के अनुसार इनका अवान्तर भेदों सहित निरूपण किया है। विस्तार से इसे तद्ग्रन्थ में देखा जा सकता है।[1] विस्तार भय के कारण इनके द्वारा प्रदत्त प्रकरण को नहीं उपस्थापित किया जा रहा है, क्योंकि इन्होंने इसका बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है।

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने शब्द के एक ही व्यापार 'सङ्केत' को माना है। अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि वृत्तियों को इसी सङ्केत व्यापार का भेद माना है-

शब्दस्यैकैव व्यापारः सङ्केत इति यो मतः।
वृत्तयस्तु त्रिधा तस्य लोकत्रयसमन्विताः।।[2]

प्रो० त्रिपाठी का मत है कि ये वृत्तियाँ ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् को उन्मीलित करती हैं। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का समवाय काव्य की श्रेष्ठता का साधक है। अङ्गाङ्गिभाव, उपकार्योपकारकभाव तथा परस्परस्पर्धाधिरोह-ये तीन इन वाच्यादि अर्थों के सहभाव की अवस्थाएँ हैं। इनमे परस्परस्पर्धाधिरोह की स्थिति श्रेष्ठ है। व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होने पर उत्तमकाव्य होता है और प्रधानता न होने पर मध्यम अथवा अधम-आचार्य मम्मट के इस मन्तव्य का भी प्रो० त्रिपाठी ने सप्रमाण खण्डन किया है। उनका मत है कि कविता में सभी प्रकार के अर्थों में अलङ्कार रहता है। काव्य में रूप और वस्तु का सम्बन्ध भी तिलतण्डुलवत्, गोशृङ्गसदृश, तथा नीरक्षीरसम भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें उत्तरोत्तर सम्बन्ध श्रेयस्कर है। परस्परस्पर्धाधिरोह के द्वारा प्रो० त्रिपाठी ने शब्द और अर्थ में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसका विस्तृत विवेचन इन्होंने द्वन्द्वालङ्कार के प्रसङ्ग में किया है। काव्य में व्यक्त आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सत्ताओं का पारस्परिक सम्बन्ध पद, पदार्थ, और वाक्यार्थों की भाँति होता है।[3]

---

1. अभिनवकाव्यशास्त्रम्-पञ्चम आयाम-सूत्र-201-233
2. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-पञ्चम अध्याय, पृ०-29
3. शब्दस्यैको व्यापारस्तिस्रो वृत्तयश्च। ताश्च त्रिभिर्लोकैरन्विताः। वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्य अर्थाः। सर्वेष्वलङ्कारो व्याप्तः। एतैश्च शब्दार्थौ काव्ये रूपवस्तुसमवायः। स च त्रिविधः।
   वही-प्रथम अधिकरण-पञ्चम अध्याय-सूत्र-1-5-1- 1-5-6

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने मम्मट के अनुसार तीन प्रकार की शब्द शक्तियों को बतलाया है-

(i) अभिधा

(ii) लक्षणा और

(iiii) व्यञ्जना

(1) अभिधा

> तिस्र एव भवन्तीह ताः शब्दस्य शक्तयः।
> अभिधा प्रथमा तत्र लक्षणाव्यञ्जने ततः।।
> तत्राद्यमभिधामेव मुख्यामाख्यान्ति कोविदाः।
> लोकस्संवदति प्रायो मिथो मुख्यतयाऽनया।।[1]

प्रो० मिश्र का मत है शब्द की शक्तियाँ तीन ही हैं। इनमें प्रथम अभिधा को विद्वानों ने मुख्या माना है; क्योंकि समाज प्रायः पारस्परिक संवाद मुख्यतः इसी के माध्यम से सम्पादित करता है। किसी एक विशिष्ट शब्द का किसी निश्चित अर्थ के साथ जो निश्चित सम्बन्ध होता है, उसे सङ्केत (सम्बन्ध) कहा जाता है। वही सङ्केतित अर्थ (सुनिश्चित अभिप्राय) अभिधाशक्ति द्वारा बोधित होता है। इस प्रक्रिया में शब्द वाचक होता है और अर्थ भी, जिसे मुख्यार्थ कहते हैं, वह वाच्य होता है। वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) के बीच विद्यमान यह सङ्केत सम्बन्ध किसके द्वारा निश्चित किया गया? इस सम्बन्ध में प्रो० मिश्र का मत पूर्वाचार्य सम्मत ही है कि यह सम्बन्ध परमेश्वर की इच्छा से उत्पन्न हुआ है। अन्य विद्वज्जन इसे शब्दशास्त्रज्ञों (वैय्याकरणों) द्वारा कल्पित किया गया मानते हैं। अमुक अर्थ अमुक पद के द्वारा वाच्य (बोध्य) है, लोकहितैषी प्राक्तन महर्षियों ने कोशादि ग्रन्थों के माध्यम से ऐसा निश्चित किया। सुनिश्चित शब्दार्थ सम्बन्ध की यह परम्परा तभी से चल पड़ी, जिसे वैय्याकरणों ने परिपुष्ट किया। अतः इसे अब चाहे ईश्वरेच्छा माना जाय या महर्षियों की इच्छा या फिर वैय्याकरणों की। इसी इच्छा के द्वारा यह सङ्केत-सम्बन्ध नियन्त्रित है।

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-वपुस्तत्वोन्मेष-द्वितीय अंश-कारिका-25-26

इस (अभिधा) के द्वारा ही जो अर्थ (बोधित) किया जाता है। वह (शब्दों द्वारा) वाच्य होता है। उसी को अभिधेयार्थ अथवा सङ्केतार्थ भी कहते हैं। जैसे- 'गौ' शब्द का सङ्केत सास्नादिमान चतुष्पद (पशु) में नियत है। अतः गौ शब्द गर्दभ का वाचक कथमपि नहीं हो सकता।[1] वाच्यार्थ का उदाहरण यथा-

न च ससार पुरो न च पृष्ठतो न खलु दक्षिणतो न च वामतः।
उपरि नैव ददर्श न वाऽप्यधो ह्यचलमूर्तिरिवाजनि जानकी।।[2]

प्रस्तुत पद्य प्रो० मिश्र के महाकाव्य जानकीजीवनम् का है। इसमें सीता और राम के प्रथम सङ्गम में लज्जा के भार से अवनत जानकी की स्थिति का वर्णन है। यहाँ समस्त सुबन्त एवं तिङन्त पद अपने सङ्केतित अर्थ को प्रस्तुत कर रहे हैं। अतएव वाच्यार्थ सुस्पष्ट है।

(ख) लक्षणा

लक्षणा द्वितीया सा शब्दशक्तिर्निरूप्यते।
कोविदानां प्रिया किञ्च त्रिस्थूणा या समुच्यते।।
लक्ष्यते चेदमुख्यार्थो बाधिते सति।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽपि यया सा लक्षणा मता।।[3]

प्रो० मिश्र का कथन है कि लक्षणा कोविदों (पण्डितों) को प्रिय है तथा इसे त्रिस्थूणा (तीन स्तम्भों वाली) कहा जाता है। मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजनवशात् जिस शब्दशक्ति से अमुख्य अर्थ लक्षित होता है, उसे लक्षणा कहते हैं।

त्रिस्थूणा का तात्पर्य है- मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ के साथ अमुख्यार्थ (लक्ष्यार्थ) का सम्बन्ध- जो पाँच प्रकार का शास्त्रों में बतलाया गया है- सारूप्य, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग। इसी आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा भी मानी जाती है-

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश-कारिका-27-36 तथा वृत्ति
2. वही-द्वितीय अंश-पृ० 68
3. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश-कारिका-37-38

अभिधेयेन सारूप्यात्सामीप्यतः समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधामता।।[1]

तथा तीसरी स्थूण इस प्रक्रिया में है– रूढ़ि अथवा प्रयोजन का सद्भाव। इन्हीं त्रिस्थूणों के अवलम्बनवश ही यह लक्षणा आरोपिता क्रिया मानी जाती है–स्वाभाविकी नहीं।

यथा– संसद ब्रवीति[2] – इस प्रयोग में लक्षणा है। प्रस्तुत उदाहरण में संसद तो बोल पाने में असमर्थ है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो गया। इसलिये यहाँ संसद के साथ सांसद रूप अर्थ का समवाय सम्बन्ध से ग्रहण किया गया है।

द्वितीय उदाहरण – पञ्चनदश्शूर[3] – शब्द का है। इसमें पञ्चनद का अर्थ पञ्जाब तथा 'शूर' का अर्थ बहादुर है। इस प्रयोग में पञ्चनद शब्द स्वार्थ में असम्भव (बाधित) होता हुआ, भूखण्ड–विशेषादि के रूप में स्वयं से सम्बद्ध अपने युद्धविशारद निवासियों को बोधित करता है। अतः इस पद में पञ्जाबियों की युद्धशूरता रूढ़ है।

पुनश्च प्रो० मिश्र का कथन है कि–

लक्षणैवोदिता भक्तिर्गुणवृत्तिरपि ध्रुवम्।
तस्माल्लक्ष्यार्थ एवैष भाक्तो गौणोऽपि सम्मतः।।[4]

लक्षणा ही निश्चित रूप से भक्ति अथवा गुणवृत्ति भी कही गई है। इसलिए यह लक्ष्यार्थ ही भाक्त अथवा गौण अर्थ भी माना गया है।

यथा– शुको माणवक[5] – बच्चा सुआ (टुइयाँ) है, इस प्रयोग में शुक शब्द सङ्केतित (पक्षिविशेष) अर्थ में बाधित होता हुआ भी अपने गुण द्वारा वाचालता रूप अमुख्य अर्थ को प्रतिपादित कर रहा है। अतः बच्चा वाचाल

---

1. अभिराजयशोभूषणम्–द्वितीय अंश– पृ०–70
2. वही–द्वितीय अंश– पृ०–70
3. वही–द्वितीय अंश– पृ०–71
4. अभिराजयशोभूषणम्–द्वितीय अंश– कारिका–39
5. वही–द्वितीय अंश– पृ०–72

(मुखर) है, इस प्रकार का कोई सङ्गत अर्थ प्रकट हो रहा है। इसलिए इस उदाहरण में लक्षणा गुणवृत्ति होना सम्यक् रूप से स्पष्ट हो रहा है।

प्रो० मिश्र ने भी लक्षणा के दो प्रकारों का कथन किया है-

(i) लक्षणलक्षगा और

(ii) उपादानवती

(i) **लक्षणलक्षणा**- लक्ष्यार्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अपने-अपने (भी) अर्थ को अर्पित कर दिया जाता है। लक्ष्यार्थ का उपलक्षणभूत होने के कारण इसे लक्षणलक्षणा कहते हैं।

यथा- **संसद ब्रवीति** तथा **पञ्चनदशशूर**- इन उदाहरणों में लक्षणलक्षणा है, क्योंकि यहाँ संसद शब्द अपने लक्ष्यार्थ सांसद में तथा पञ्चनद शब्द पञ्जाबी जनता में उपलक्षणभूत है। अतः प्रथम में प्रयोजनमूल लक्षणलक्षणा तथा द्वितीय में रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा है।

(ii) **उपादानलक्षणा**- जहाँ अपने अन्वय की सिद्धि के लिए कोई अमुख्य अर्थ भी मुख्यार्थ के द्वारा आक्षिप्त कर लिया जाता है, उसी को उपादानलक्षणा कहते हैं।

यथा- **कृष्णा दुह्यते**[1] तथा **अर्धोरुका अभ्यस्यन्ति**[2] इन दोनों उदाहरणों में प्रथम में रूढ़ि के कारण तथा द्वितीय में प्रयोजन के कारण उपादान लक्षणा है, क्योंकि कृष्णा के साथ धेनु का तथा अर्धोरुक के साथ रक्षीगण का आक्षेप कर लिया जाता है।

(3) **व्यञ्जना** -व्यञ्जना शक्ति के सम्बन्ध में प्रो० मिश्र का कथन है-

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः उच्यते न लक्ष्यते।
वर्षयेव मृदागन्धः केवलं व्यज्यते पुनः।।
लावण्यप्रतिमस्सोऽर्थो व्यङ्ग्यार्थ कोविदैर्मतः।
प्रत्याय्यते शब्दशक्त्या निपुणं व्यञ्जनाख्यया।।

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश- पृ०-73
2. वही-द्वितीय अंश- पृ०-73

व्यञ्जना प्रतिभामूला शब्दशक्तिर्विलक्षणा।
सूते या ज्योतिरुन्मेषान् दामिनीव नवाशयान्।।[1]

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ न तो बोधित किया जाता है और न लक्षित, प्रत्युत वर्षा के द्वारा मिट्टी की (तिरोहित) गन्ध के समान, जो केवल व्यक्त (प्रकाशित) किया जाता है। लावण्य-प्रतिम वही अर्थ आचार्यों द्वारा व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है तथा व्यञ्जना नामक शक्ति के द्वारा भलीभाँति अनुभूत कराया जाता है। प्रतिभा से जन्मी व्यञ्जना एक विलक्षण शब्दशक्ति है जो विद्युल्लता के सदृश नये-नये आशयों (रूपों अथवा अभिप्रायों) वाले ज्योतिरुन्मेषों (प्रभाभासों अथवा नूतनाभिप्रायों) की सृष्टि करती है।

समाज तो अभिधा में रुचि रखता है, पण्डित लोग लक्षणा के अनुगामी होते हैं, परन्तु क्रान्तदर्शी कवि एवं प्राज्ञजन व्यञ्जना को ही सर्वस्व मानते हैं। जिस लोकोत्तरार्थ से काव्य महिमान्वित होता है, वह केवल व्यञ्जना वृत्ति से ही प्राप्य है, अन्य प्रकार से नहीं। जब काव्य में वह (प्रसिद्ध) वाच्यार्थ उन्मत्तप्रलापवत् प्रतीत होने लगे और त्रिस्थूण (तीन शर्तों की पूर्ति से सम्भव) लक्ष्यार्थ भी युक्तितः न घटित हो पाये, तब (किसी) महाकवि द्वारा प्रणीत उस काव्य में सहृदयजन व्यञ्जनाशक्ति से भाषित होने वाले व्यङ्ग्य का अनुसन्धान करते हैं।

तदनन्तर उस काव्य में शब्द अपने वाच्य अर्थ को तथा वह अर्थ भी स्वयं को गौण बनाकर उस विलक्षण व्यङ्ग्य अर्थ को समवेतभाव से अभिव्यक्त करने लगता है। इस प्रकार वाच्य एवं वाचक से भिन्न होता हुआ भी, उन्हीं की (शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की तथा आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की) महिमा से, देश-कालादि के अनुरोधवश यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो पाता है। इसलिए विद्वज्जन के समवाय में प्रतिभा प्रसूत यह अर्थ प्रतीयमानार्थ की भी सञ्ज्ञा को प्राप्त कर प्रतिष्ठित होता है। अतः काव्य की लोकोत्तरता (विलक्षणता) व्यङ्ग्यार्थ से सिद्ध होती है न कि वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से।[2]

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीयोन्मेष-कारिका-43-45
2. अभिराजयशोभूषण-द्वितीयोन्मेष-कारिका-46-52 तथा वृत्ति

लोकोत्तरतायुक्त व्यङ्ग्यकाव्य का उदाहरण यथा-

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गान्मां
मुञ्च वागुरिक! याहि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि घासकवलग्रसनाऽनभिज्ञो
मन्मार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में वहेलिये के शर-प्रहार से मारी गई भी, किसी हिरनी की अपने सद्यः प्रसूत मृगशावक के प्रति, जो विलक्षण वत्सलता कि-घास का ग्रास निगलने की विधि को न जानने वाला, मेरा शावक मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। अतः हे व्याध! स्तन भाग को छोड़ कर मेरे सम्पूर्ण अङ्गों का मांस लेकर मुझे छोड़ देना। इस पद्य में प्रतिभापटिष्ट कवि द्वारा प्रकाशित की गई यही लोकोत्तरता है। अन्यथा इस पद्य का वाच्यार्थ तो उन्मत्त के प्रलाप जैसा है; क्योंकि मृत हिरनी न दूध पिलाने में समर्थ हो सकती है, न बहेलिये से अनुनय-विनय करने में। इस पद्य में मुख्यार्थ बाधादि का भी प्रसङ्ग नहीं है, जिससे कि लक्ष्यार्थ की सम्भावना बन सके। परन्तु प्रक्रान्त-मति किसी महाकवि के काव्य की सार्थकता यहाँ पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा सम्भव हो पाई है। प्रो० मिश्र ने भी व्यञ्जना के दो भेदों का ही कथन किया है-

(i) शाब्दी व्यञ्जना और

(ii) आर्थी व्यञ्जना

(i) शाब्दी व्यञ्जना

यत्रार्थसहकारेण शब्द एव प्रधानतः।
व्यञ्जकत्वं विभर्त्येषा सा शाब्दी व्यञ्जना मता।।
भूयोऽपि साऽभिधामूला संयोगादिनियन्त्रिता।
अपरा लक्षणामूला कथिता लक्षणाश्रिता।।[2]

प्रो० मिश्र का मत है जहाँ मुख्यतः शब्द ही, अर्थ की सहायता प्राप्त कर व्यञ्जकता को सम्पादित करता है (व्यञ्जक बनता है), उसे शाब्दी व्यञ्जना कहा

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीयोन्मेष-पृ०-77-78
2. वही-द्वितीय अंश-कारिका-53-54

जाता है। यही शाब्दी व्यञ्जना संयोगादि से नियन्त्रित होने पर अभिधामूला कही जाती है तथा लक्षणा पर आश्रित दूसरी (शाब्दी व्यञ्जना) लक्षणामूला कही जाती है।

शाब्दी व्यञ्जना में (शब्द के साथ) अर्थ की सहकारिता तथा आर्थी व्यञ्जना में (अर्थ के साथ) शब्द की सहकारिता होती है, क्योंकि काव्य तो शब्दार्थ रूपी शरीर वाला ही होता है। अनेक अर्थ वाले शब्द का कोई एक अर्थ जब संयोगादि के अनुरोधवश प्रकरणोपात्त (प्रासङ्गिक) किसी अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है तब दूसरे (श्लेषपरक) अर्थ की जिसके द्वारा प्रतीति होती है, उसी को अभिधामूला व्यञ्जना कहा गया है। इस प्रसङ्ग में अर्थ का नियन्त्रण करने वाले हेतु हैं-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थःप्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[1]

यथा-

* संयोग-सभालचन्द्रो गङ्गाधरः- यहाँ भालचन्द्र के संयोग से गङ्गाधर का अर्थ शिव है, हिमालय नहीं।
* विप्रयोग-अभालचन्द्रो गङ्गाधरः- यहाँ अभाववश गङ्गाधर का अर्थ शिव ही है।
* साहचर्य- रामकृष्णौ- यहाँ साहचर्य के कारण राम का अर्थ बलराम है, दशरथनन्दन राम नहीं।
* विरोधिता-अहिनकुलौ-यहाँ नकुल का अर्थ शिव नहीं नेवला है, क्योंकि साँप और नेवले का शाश्वतिक विरोध है।

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश- पृ०-79। यही कारिकाएँ मम्मट ने भी एकार्थ नियामक हेतु के रूप में दी हैं, परन्तु मम्मट ने अपने तथा मिश्र ने अपने स्वरचित उदाहरण दिये हैं। यह कारिकाएँ भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय की हैं।

* अर्थ-कालिकां वन्दे- यहाँ काली का अर्थ भगवती है, काली घटा नहीं।
* प्रकरण-सर्वं जानाति भर्तेति- यहाँ प्रकरणवश भर्ता का अर्थ स्वामी है, पति नहीं।
* लिङ्ग-(धर्मविशेष)-दयतां मयि सा शिवेति- इस वाक्य में शिवा का अर्थ पार्वती है, जम्बुकी नहीं।
* सन्निधि-देवो मध्वरिर्जयेत-यहाँ देव शब्द की सन्निधि के कारण मधु का अर्थ मधुनामक दानव है न कि शहद।
* सामर्थ्य- विरोचनेन दिनं स्फीतमिति-चन्द्र, अग्नि, एवं सूर्य को विरोचन कहा गया है। यहाँ दिन की प्रकाशमानता के कारण विरोचन का अर्थ सूर्य है न कि चन्द्र और अग्नि।
* देश- लक्ष्मणोऽटति केदारे- यहाँ पर केदार रूप (क्यारी) देश विशेष के योग से लक्ष्मण का अर्थ बक है, सुमित्रानन्दन नहीं।
* काल-अदृष्टिः कौशिको दिने- यहाँ दिवसान्धता की प्रसिद्धिवश कौशिक का अभिप्राय उल्लू है, विश्वामित्र नहीं।
* व्यक्ति- पुण्डरीको वनेचरः- व्यक्ति का तात्पर्य स्त्रीलिङ्गादि वैशिष्ट्य से है। इस उदाहरण में पुण्डरीक शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग होने के कारण, उसका अर्थ व्याघ्र है, कमलपुष्प नहीं। कमल नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है।
* स्वर- इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्येति- उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितादि स्वर, वेद प्रयुक्त शब्दों में, समस्त पद के नियामक होने के कारण अर्थ के भी निर्णायक होते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में इन्द्रशत्रु पद आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त होने की स्थिति में पृथक् समस्त पद के रूप में पृथक् अर्थ प्रदान करता है। आद्युदात्त स्थिति में इन्द्रशत्रु में षष्ठी तत्पुरुष समास होकर अर्थ वृत्तासुर होगा; परन्तु अन्तोदात्त होने पर बहुब्रीहि समास होकर इन्द्रशत्रु का अर्थ देवराज इन्द्र से होगा। परन्तु आचार्यों

का मत है कि काव्य परम्परा में वैदिक स्वरों के प्रयोग का विचार नहीं किया जाता।

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने शाब्दी व्यञ्जना के इन स्वरचित उदाहरणों को मम्मट तथा ध्वन्यालोककार के अनुसार प्रस्तुत किया है।

पुनश्च प्रो० मिश्र का कथन है कि अभिधाशक्ति द्वारा प्रदत्त एक अर्थ के(प्रकरण-विशेष में) नियन्त्रित हो जाने पर जो दूसरा अभिधेयार्थ (श्लेषपरक) व्यञ्जना शक्ति द्वारा प्रतीत कराया जाता है, वह व्यङ्ग्यार्थ अभिधामूलक होता है। यथा-

सत्वोर्जितो विजनसौधनिवाससौख्यो,
दुर्वारसञ्चरण आश्रितगाढनिद्रः।
शत्रुद्विपेन्द्रमदहन्ननु निस्सपत्नोऽ
प्येकस्त्वमेव नरसिंह! भुवि प्रशस्तः।।[1]

प्रस्तुत पद्य प्रो० मिश्र विरचित ही है। राजस्तुति के इस प्रकरण में अभिधा द्वारा वाच्यार्थ के नृपविशेष नरसिंह के पक्ष में नियन्त्रित हो जाने पर, व्यञ्जना द्वारा ही सिंहपरक दूसरा (वाच्यार्थ) प्रतीत होता है। शब्दों की शिलष्टता के कारण इस पद्य में एक अर्थ तो महाराज नरसिंह के पक्ष में तथा दूसरा वन्यजीव सिंह के पक्ष में स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार संसद ब्रवीति, प्रयोग में भी प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है। अतएव लक्षणा का आश्रय लेने के कारण इसे लक्षणामूला (शाब्दी व्यञ्जना) कहते हैं।

(ii) आर्थी व्यञ्जना

वक्तृबोद्धव्यवाक्याऽन्यसन्निधानाऽर्थसम्पदाम्।
देशकालप्रकरणकाकुचेष्टासहायिनाम्।।
वैशिष्ट्याद्व्यङ्ग्यमर्थं सा बोधयन्त्यर्थसम्भवा।
शब्दसाहाय्यमहिता व्यञ्जनाऽऽर्थी समुच्यते।।[2]

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश- पृ०-82-83
2. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश- कारिका-55-56

प्रो० मिश्र का भी मानना है कि वक्ता, बोद्धव्यवाक्य, अन्यसन्निधान, अर्थसम्पद, देश, काल, प्रकरण, काकु (विशिष्ट कण्ठध्वनि) तथा चेष्टादि सहायकों के वैशिष्ट्यवश जब वही व्यञ्जना शब्द की सहकारिता से युक्त होकर अर्थ के माध्यम से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराती है तो उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। आर्थी व्यञ्जना के भी समस्त उदाहरण प्रो० मिश्र ने अपने दिये हैं, केवल एक पद्य जो काकु वैशिष्ट्य का उदाहरण है, वह गजानन शास्त्री करमरकर का है।

(4) **तात्पर्य वृत्ति**- तात्पर्य वृत्ति के सम्बन्ध में भी प्रो० मिश्र ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। उनका कथन है कि-

तात्पर्याख्यां विदन्त्येनां पदार्थान्वयवोधिनीम्।
वृत्तिं कौमारिलाः सर्वेऽभिहितान्वयवादिनः।।
प्राभाकरास्तदन्ये तेऽन्विताभिधानवादिनः।
नैव वृत्तिमिमां वाक्ये मन्वते कल्पनाश्रिताम्।।
शब्दशक्तिर्न तात्पर्या कामं वृत्तिर्भवेदसौ।
वाक्ये पृथक्पदार्थानां केवलं योजिकैव सा।।[1]

पदार्थों का अन्वय बतलाने वाली वृत्ति को आचार्य कुमारिलभट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी तात्पर्य कहते हैं। उनसे पृथक् आचार्य प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधानवादी कल्पनाश्रित इस वृत्ति को वाक्य में उपयोगी नहीं मानते हैं। अतः इस विषय में प्रो० मिश्र ने मम्मटादि आचार्यों का यथावत् अनुसरण किया है। उनका भी मत है कि तात्पर्यावृत्ति अभिधादि की तरह शब्द की शक्ति नहीं है। वह वाक्य में बिखरे हुए पदों के अर्थों का परस्पर संयोजन मात्र करने वाली है।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों की ही भाँति अर्वाचीन आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में शब्दशक्तियों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। जिस प्रकार प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। किसी ने केवल अभिधा को ही शब्दशक्ति माना तथा महिमभट्टादि ने इसका

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अंश- कारिका-63-64

निराश माना है, परन्तु अपने समय तक की पूर्ववर्ती परम्परा का सम्यक् अवलोकन कर मम्मट ने इसका एक समन्वित समीचीन विवेचन किया है, उसी प्रकार वर्तमान आचार्यों में प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने शब्दशक्तियों को काव्य में नहीं माना अपितु शब्द के अर्थ की भाँति ज्ञानात्मक बतलाया है। प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने शब्द का मात्र एक व्यापार सङ्केत मानते हुए अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को इसी का भेद माना है। प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने आचार्य आनन्दवर्धन तथा मम्मट का अनुसरण करते हुए अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना तीनों का स्वोपज्ञ कारिकाओं तथा स्वरचित उदाहरणों के साथ बोधगम्य विवेचन किया है। अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय की परम्परा में प्रो० मिश्र काव्यतत्त्वों में समन्वय स्थापित करने वाले आचार्य हैं अतः इन्हें आचार्य मम्मट की उपाधि से विभूषित किया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चतुर्थ अध्याय

काव्यात्मविमर्श

काव्यतत्त्वज्ञों ने काव्य को शब्दार्थरूपी शरीर वाला स्वीकार कर, उसके आत्मा के सम्बन्ध में भी विविध दृष्टि से विचार किया है। इस सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में किये गये हैं। अतः यहाँ पर संक्षिप्त रूप से काव्यात्मा पर विचार किया जा रहा है। काव्यशास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा के समन्वित मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए प्रो० राजेन्द्र मिश्र का इस सन्दर्भ में कथन है –

काव्यमङ्गीकृतं तज्ज्ञैश्चेच्छब्दार्थकलेवरम्।
तदात्मनाऽपि केनापि भाव्यमेवाऽनिवार्यतः।।
अतति व्याप्नुते सर्वं सोऽयमात्मा प्रकीर्तितः।
निष्क्रियपञ्चतत्त्वाढ्यं येन जेजीव्यते वपुः।।
शब्दार्थसंश्रितं काव्यं तद्वद्येन समन्वितम्।
धत्ते सहृदयश्लाघ्यं प्राणवत्तामनारतम्।।
अनुप्राणनधर्मत्वात् सोऽयमात्मा समुच्यते।
चर्च्यते यस्य सन्दर्भः सप्रमाणं यथोचितम्।।
काव्यात्मत्वसमुद्घोषे द्विविधाः सन्ति सूरयः।
प्रत्यक्षवादिनश्चैके परोक्षवादिनोऽपरे।।
स्वमतं येऽभिदधते शब्दैस्ते प्रथमे मताः।
ये च तन्वन्ति सङ्केतैः स्वरुचिं तेऽपरे बुधाः।।[1]

यदि काव्यतत्त्वज्ञों ने काव्य को शब्दार्थ रूपी शरीर वाला माना है तो निश्चयेन उसकी कोई आत्मा भी होनी चाहिए। जो सब कुछ व्याप्त कर लेता

---

1. अभिराजयशोभूषणम्–आत्मतत्त्वोन्मेष–तृतीय अंश–कारिका–1–6

है, वही आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार निष्क्रिय पञ्चतत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) से समन्वित शरीर बिना आत्मा के जीवन्त नहीं होता, अपितु उसकी उपस्थिति मात्र से जीवन्त बनता है। उसी प्रकार शब्द और अर्थ रूपी निष्क्रिय अङ्गों से युक्त काव्य भी जिस तत्त्व से समन्वित होकर सहृदय-श्लाघ्य बनकर सार्वकालिक प्राणवत्ता को धारण कर लेता है; अनुप्राणनधर्मता के कारण वही तत्त्व आत्मा कहा जाता है।

आत्मतत्त्व का यह व्याख्यान उपनिषद्मूलक है। जैसा कि बृहदारण्य-कोपनिषद् में कहा गया है-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो-निदिध्यासितव्यः।**[1] आत्मा का ही मनन किया जाना चाहिए तथा चिन्तन किया जाना चाहिए। क्योंकि आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। जिस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ शरीर में विद्यमान आत्मा द्वारा ही चैतन्य का अधिष्ठान (स्रोत) बना कर तत्तत् विषयों में प्रवर्तित की जाती हैं और शरीर में अविद्यमान रहते हुए उसी के द्वारा 'शवता' की स्थिति में पहुँचा कर निष्क्रिय बना दी जाती हैं, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ रूप शरीर वाला काव्य भी किसी आत्मतत्त्व द्वारा ही अनुप्राणित होकर जीवन्त परिलक्षित होता है। परन्तु काव्य की आत्मा के सन्दर्भ में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य भरत से लेकर वर्तमान समय तक की परम्परा में विभिन्न विप्रतिपत्तियाँ देखने को मिलती हैं। इनमें प्रथमतः प्राक् परम्परा के मन्तव्यों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हुए वर्तमान आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया जायेगा।

काव्य की आत्मा की चर्चा सर्वप्रथम वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्र में रीतिरात्मा काव्यस्य कहकर की। यद्यपि काव्यशास्त्रीय जगत् में रीति तत्त्व की खोज वामन से पूर्व हो चुकी थी, तथापि वामन प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रीति की स्पष्ट व्याख्या कर, उसको काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। अतः कालक्रम की दृष्टि से अलङ्कारशास्त्रीय आचार्यों ने रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य के काव्यात्मत्व का विवेचन किया है। काव्यात्मत्व की यही मान्यताएँ काव्यशास्त्र में षट्सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हैं। आचार्य भरत से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ पर्यन्त की काव्यशास्त्रीय परम्परा

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद्-द्वितीय अध्याय-चतुर्थ ब्राह्मण-मन्त्र-5

में जितने आचार्य हुए हैं, वे सब प्रायः इन्हीं सम्प्रदायों में अन्तर्भावित हो जाते हैं। वर्तमान आचार्यों में प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने चमत्कार को काव्य की आत्मा मानकर काव्यशास्त्र में एक और (सप्तम) सम्प्रदाय चमत्कार सम्प्रदाय का श्रीगणेश किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अनेक तर्क देकर चमत्कार को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। क्रमशः इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने काव्यात्मा का विवेचन करने वाले इन आचार्यों को दो श्रेणियों में प्रतिष्ठित किया है, जिनमें प्रथम तो हैं, प्रत्यक्षवादी तथा द्वितीय हैं, परोक्षवादी। जो अपने मत को शब्दशः प्रस्तुत करते हैं, वे प्रथम कोटि में आते हैं तथा जो अपनी अभिरुचि को सङ्केत मात्र से प्रकाशित करते हैं, वे विद्वान् द्वितीय कोटिक हैं। इनमें प्रत्यक्षवादी आचार्य हैं–वामन, आनन्दवर्धन तथा क्षेमेन्द्र जो शब्दों द्वारा क्रमशः रीति, ध्वनि तथा औचित्य को काव्य की आत्मा घोषित करते हैं। परोक्षवादी आचार्य हैं–भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, कुन्तक एवं महिमभट्ट, जो प्रशंसापरक वचनों द्वारा रस, अलङ्कार एवं वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं। परन्तु रस, अलङ्कार एवं वक्रोक्ति की काव्यात्मता स्वीकार करते हुए भी वे स्पष्ट शब्दों द्वारा नहीं कहते कि रस ही काव्य की आत्मा है, अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है अथवा वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।[1]

प्रो० मिश्र द्वारा बतलायी गई इस उभय कोटि में ही 20वीं शताब्दी के आचार्य भी तत्तत् मत का अनुसरण करने के कारण इन्हीं दोनों विभाजित श्रेणियों में ही अन्तर्भावित हो जाते हैं। क्रमशः यथा-स्थान इनके मतों को उद्धृत किया जायेगा। यद्यपि क्रम से रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, औचित्य तथा चमत्कार का विवेचन किया जाना चाहिए। परन्तु इन सभी सम्प्रदायों के मतों का ध्वनि सिद्धान्त में ही अन्तर्भाव दिखलाया गया है। इसलिए प्रस्तुत-प्रबन्ध में भी ध्वनि के काव्यात्मत्व प्रसङ्ग को सबसे बाद में प्रस्तुत किया गया है।

रसात्मत्वविमर्श

पञ्चभूत निर्मित शरीर में आत्मा को आनन्दमय, चिन्मय तथा विज्ञानमय

---

1. अभिराजयशोभूषणम्- तृतीय अंश-पृ०-149-50

कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् का कथन है- **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।**[1] अर्थात् आत्मा रसरूप है। इसको प्राप्त कर प्राणी आनन्दमय हो जाता है। काव्य में रस के स्वरूप को भी तदनुरूप ही प्रतिपादित किया गया है। शब्दार्थ रूपी काव्य में रस ही प्रधान तत्त्व है तथा अन्य गुण, अलङ्कारादि इसी को अलंकृत करते हैं।

रस का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य भरतमुनि हैं। यद्यपि उन्होंने इसका विवेचन नाट्य दृष्ट्या किया, तथापि नाट्य और काव्य में बाह्य रूप के अतिरिक्त कोई वैभिन्य नहीं है। प्रायः काव्यशास्त्र के उत्तरवर्ती अधिकांश आचार्यों ने भरत मत को ही स्वीकार्य किया। भरतमुनि का कथन है कि- **''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।''**[2] अर्थात् रस के बिना कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं होता।

नाट्यशास्त्र के बाद काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने भरतमुनि के अनुसार ही रस को काव्य का प्रधान तत्त्व प्रतिपादित किया। काव्य भाव प्रधान होता है। अतः अग्निपुराण का कथन है-

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति।
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।।[3]

न तो भाव से हीन रस होते हैं और न ही रस से रहित भाव होते हैं। भाव ही रसों को भाावित करते हैं अर्थात् अनुभव का विषय बनाते हैं। वचन-चातुर्य का चमत्कार होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि ''काव्यस्यात्माध्वनिः'' कहकर काव्य की आत्मा ध्वनि को माना, तथापि उन्होंने रसध्वनि को सबसे प्रधान माना। ध्वनिकार ने तीन प्रकार की ध्वनि बतलायी- वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि। इनमें रसध्वनि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता) को उन्होंने ध्वनि की भी आत्मा कहा है-

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद्-वल्ली-3-अनुवाक्-7
2. नाट्यशास्त्र-अध्याय-6-कारिका-31 की वृत्ति
3. अग्निपुराण-अध्याय-339-कारिका-12 तथा अध्याय-337-कारिका-33

रसभाव तदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।।[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रस को व्यङ्ग्य मानकर, ध्वनिरूप में उसका प्रतिपादन किया। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने अपने ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' में रस का विवेचन किया था, जिसके कतिपय अंश अभिनवभारती में उद्धृत हैं। भट्टतौत का मत है कि रस के आनन्दरूप होने से वह आत्मरूप है तथा रस समुदाय ही नाट्य है। काव्य में भी जब रस का नाट्यमान प्रयोग होता है, तभी वह आस्वादित होता है। अर्थात् काव्य में वर्णित विषय के प्रत्यक्षवत् अवभाषित होने पर ही सहृदय रसास्वादन करते हैं।[2]

काव्यालङ्कारसारसंग्रहकार उद्भट के ग्रन्थ पर लघुवृत्ति लिखने वाले प्रतिहारेन्दुराज यद्यपि अलङ्कारवादी आचार्य थे, तथापि उन्होंने काव्य में रस को आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। उनका कथन है –

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।।[3]

रस से युक्त काव्य ही जीवित रह सकता है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन में प्राचीन आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि काव्यरस सदा व्यङ्ग्य होता है तथा वह काव्य के ध्वनिरूप व्यापार से अनुभूत होता है, इसलिए इसको रसध्वनि कहते हैं। यह रसध्वनि मुख्यरूप से काव्य की आत्मा है।[4]

---

1. ध्वन्यालोक-द्वितीय उद्योत-कारिका-3
2. प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्। .... नाट्य एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यमान एव रसः। काव्यार्थ विषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदयो रसोदय इत्युपाध्यायाः। तदाहुः काव्यकौतुकं प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भवः।
   वर्णनोत्कलिकाभोग-प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
   उद्यान-कान्ता-चन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।।
   अभिनवभारती-अध्याय-6-पृ०-503-04
3. काव्यालङ्कारसारसंग्रह-लघुवृत्ति-षष्ठवर्ग-काव्यहेतु-पृ०-415
4. स च काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति।
   स च रसध्वनेरेवेति स एव मुख्यतया आत्मा।।
   ध्वन्यालोकलोचन-पृ०-18

पुनश्च उनका कथन है कि वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीन प्रकार की ध्वनियों में वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों का पर्यवसान रसध्वनि में ही होता है। क्योंकि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होती है, अतः सामान्यतः ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। वस्तुतः काव्य की आत्मा रसध्वनि है।[1]

अभिनवगुप्त के पश्चात् रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों की सुदीर्घ परंम्परा है। आचार्य भोज ने अपने ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में शृङ्गार रस को ही काव्य का सर्वस्व बतलाया है। उनका कथन है –

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्यं जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदाशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्।।[2]

आचार्य मम्मट ने व्यङ्ग्य अर्थ को वस्तु, अलङ्कार तथा रस से तीन प्रकार का मानते हुए भी रस का प्राधान्य बतलाया है। यह रस रूप अर्थ ही काव्य का अङ्गी होता है तथा गुण इसके नियत धर्म हैं। आचार्य मम्मट का कथन है –

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।[3]

पण्डितराजजगन्नाथ ने अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए उपनिषद् वाक्य रसो वै सः को उद्धृत कर, रत्यादि विषयक आवरणरहित आत्मचैतन्य को रस बतलाया है। उनके अनुसार रस तथा चैतन्य में एकता है, अतः रत्यादि विशिष्ट आवरणरहित चैतन्य ही रस है और वह ही काव्य की आत्मा है।[4] इस

---

1. तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलङ्कारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्। ध्वन्यालोकलोचन–पृ०–31
2. सरस्वतीकण्ठभरण–पञ्चम परिच्छेद–कारिका–1–3
3. काव्यप्रकाश – षष्ठ उल्लास–कारिका–66
4. रसगङ्गाधर प्रथम आनन

प्रकार रस की आनन्दात्मकता तथा प्रधानता के कारण काव्यशास्त्र के इन आचार्यों ने काव्य की आत्मा के रूप में रस को प्रतिपादित किया है। ध्वनिकाव्य को उत्तमकाव्य माना गया है। यह ध्वनि कवि प्रतिभा प्रसूत व्यङ्ग्यार्थ है, जिसके कारण काव्य में रसाभिव्यक्ति होती है तथा सहृदय को आनन्दित करता है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। इसका तर्कसहित विवेचन ध्वनि के काव्यात्मत्व प्रसङ्ग में अन्ततः किया जायेगा।

आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के समस्त आचार्यों (प्रकृत प्रबन्ध में वर्णित) में प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी के अतिरिक्त शेष आचार्य रसवादी हैं । इनके ग्रन्थों के रस प्रकरण को विस्तार भयात् यहाँ उपस्थित नहीं किया जा रहा है। क्योंकि यह पूर्णतः स्वतन्त्र शोध-कार्य का विषय है। प्रो० द्विवेदी और प्रो० त्रिपाठी के मतों को अलङ्कारात्मत्वविमर्श के अन्तर्गत क्रमशः प्रस्तुत किया जायेगा।

अलङ्कारात्मत्वविमर्श

अलङ्कारवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कार तत्त्व का प्राधान्य स्वीकार किया तथा काव्य में अन्य जितने सौन्दर्याधायक रमणीय तत्त्व हैं, उनका परिगणन अलङ्कारों में किया है। आचार्य भामह का कथन है - **न कान्तमपि निर्भूषं बिभाति वनिता मुखम्।**[1] जिस प्रकार रमणी का मुख सुन्दर होते हुए भी बिना आभूषणों के सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार सरस काव्य की शोभा भी अलङ्कारों से होती है। इस प्रकार भामह ने रस-भावादि का समावेश अलङ्कारों में ही करके, काव्य में अलङ्कार का अङ्गित्व और रस का अङ्गत्व प्रतिपादित किया। आचार्य दण्डी का मत है-

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति।।[2]

काव्य-सौन्दर्य के कारणभूत धर्मों (गुण विशेषों) को अलङ्कार कहते हैं। वे अलङ्कार अब तक भी विविध रूप से उद्भावित किये जा रहे हैं। अतः

1. काव्यालङ्कार-द्वितीय परिच्छेद-कारिका-13
2. काव्यादर्श- द्वितीय परिच्छेद-कारिका-1

उनका पूर्णरूप से निरूपण कौन कर सकता है? वामन ने यद्यपि काव्य की आत्मा रीति को माना है तथापि अलङ्कार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि- **काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।**[1] काव्य अलङ्कार के योग से ही उपादेय होता है और सौन्दर्य ही अलङ्कार है। आचार्य जयदेव का कथन है कि-

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।[3]

जो अलङ्कार विहीन शब्दार्थ को काव्य स्वीकार कर सकता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नहीं मान लेता? इस प्रकार अलङ्कारवादी आचार्य काव्यशरीर में सौन्दर्य का उत्कर्ष तथा चमत्कार का आधान करते हैं। इस सौन्दर्य या चमत्कार के होने पर ही काव्य में काव्यत्व मानते हैं। यदि काव्य में सौन्दर्य नहीं है, तो वह काव्य नहीं कहा जा सकता। अलङ्कारवादी आचार्यों ने अङ्गीभूत रस को रसवद् अलङ्कार, भाव को प्रेम अलङ्कार, रसाभास और भावाभास को उर्जस्वि अलङ्कार, भावशान्ति को समाहित अलङ्कार तथा अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को अलङ्कार मानकर यही नाम दे दिया।

इसी आधार पर अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व (आत्मा) प्रतिपादित किया। परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों के महत्त्व को अस्वीकार करते हुए इसे काव्य का अन्तरङ्ग (अनिवार्य) तत्त्व नहीं माना। इन आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य का बाह्य उत्कर्षाधायक तत्त्व मानते हुए कटक-कुण्डलवत् प्रतिपादित किया। काव्यप्रकाश,साहित्यदर्पण तथा रसगङ्गाधरादि ग्रन्थों में अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन काव्य के बाह्य सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में हुआ है। आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए अनलंकृती पुनः क्वापि पद की व्याख्या में बतलाया है कि - **क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु- स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।**[3] कहीं-कहीं सालङ्कार होते हुए भी काव्य में यदि अलङ्कार न भी हो तो काव्यत्व की हानि

---

1. काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-प्रथम अध्याय-सूत्र-1-2
2. चन्द्रालोक-प्रथम मयूख-कारिका-8
3. काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-4-सूत्र-1

नहीं होती। अतः ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में शोभाधायक तत्त्व तो माना परन्तु काव्य का अङ्गी तत्त्व (आत्मा) नहीं माना।

भामह, दण्डी तथा रुद्रट (7 वीं तथा 8 वीं शताब्दी) के बाद 20 वीं शताब्दी के दो प्रमुख आचार्यों, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा घोषित कर अलङ्कारवादी आचार्यों की परम्परा को पुनर्प्रतिष्ठित करने का अविस्मरणीय प्रयास किया है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी का कथन है –

काव्यं ज्ञानं अलङ्कारस्तस्यात्मा मध्यमाभिधा।
संविदव्यभिचारेण तत्रोपाधिश्च वाग्विदे।।
प्रमेय-मात्र-दृष्ट्यैतद् दर्शनं नः प्रमातृगाः।
आनन्दकोषस्योल्लासा ये तदत्र कथान्तरम्।।
वृष्टिः काव्यं कविर मेघः सस्यसंपद रसा इमे।
वृष्टि-मात्रैक-विज्ञाने वयं चातक चञ्चवः।।[1]

काव्य है- ज्ञान, अलङ्कार है उसकी आत्मा, उसमें बिना व्यभिचार के उपाधि बनती है 'मध्यमा' संवित् किन्तु वाक्तत्त्व के ज्ञाता के लिए। प्रो० द्विवेदी का कथन है कि हमारा यह दर्शन प्रमेयमात्र की दृष्टि से है। प्रमाताओं के आनन्दकोष में जो उल्लास हुआ करते हैं, उनकी कथा अलग ही है। अतः काव्य है वृष्टि, कवि है मेघ और रस हैं फसल। हमें सीमित रहना है केवल वृष्टि के विज्ञान तक। उसके लिए हम हैं चातक चञ्चु। इस सम्बन्ध में प्रो० द्विवेदी अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

आत्माऽब्धिः शफरः काव्यं रसश्चैव रसस् ततः।
शफरे जलवत् काव्ये रसः केन नु वार्यताम्।।
एवं रसस्य धर्मित्वं जलस्येव प्रसज्यते।
काव्यस्यैव च धर्मत्वं शफरस्येव का गतिः।।

अतः

सरसत्वं तु काव्यस्य विभावाद्यर्थ योजना।
रसवत्त्वं रसोक्तिश्च तस्माद् युक्ता ह्यलंक्रिया।।[2]

---

1. काव्यालङ्कारकारिका-251-53
2. काव्यालङ्कारकारिका-कारिका-235-40

आत्मा है समुद्र, काव्य है मत्स्य, रस है जल। अतः रस को काव्य में आने से कौन रोक सकता है? मत्स्य में जल के पहुँचने के सदृश। ऐसा मानने पर काव्य और रस का धर्म-धर्मिभाव उलट जायेगा तथा रस में काव्य सिद्ध होगा न कि काव्य में रस की सिद्धि अर्थात् धर्मी रस बनेगा और काव्य धर्म। इसलिए काव्य को सरस यानी रस से युक्त कहकर रस को काव्य में अवस्थित मानना कोरी धृष्टता है। क्योंकि काव्य का सरसत्व है काव्य का विभावादि अर्थों से युक्त होना, जिनसे रस की निष्पत्ति संभव होती है। इसलिए रसवत्व को भी एक अलङ्कार माना गया है और उसी अर्थ में रसोक्ति भी एक अलङ्कार है। पुनश्च प्रो० द्विवेदी इस सन्दर्भ की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए बतलाते हैं-

प्रमेयं च प्रमाता चेत्यनयोर्भिन्नता-दृशम्।
आश्रयाणैर्न संमिश्रव्यामोहे विनिपत्यते।।
प्रमातृनिष्ठा ये धर्मास् ते प्रमातरि केवले।
ये च प्रमेये ते सर्वे प्रमेयैकपरायणाः।।
तामिमां प्राज्ञ-मर्यादां पालयन्तो मनीषिणः।
काव्यालङ्कारविज्ञाने नैव मुह्यन्ति जात्वपि।।

अतः

रस प्रमातृ-मात्रैक-निष्ठोऽलङ्करणं च नः।
प्रमेयमात्रनिष्ठात्म कलालोके परात्परे।।[1]

प्रो० द्विवेदी का मत है एक होता है प्रमेय और दूसरा प्रमाता। ये दोनों परस्पर भिन्न होते हैं। इस दृष्टि को लेकर जो विचार करता है, उसे इनके मिश्रण के भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता। जो विशेषताएँ प्रमातृनिष्ठ होती हैं, वे केवल प्रमाता में ही रहती हैं और जो प्रमेय में हैं, वे केवल प्रमेय में ही । यह सीमा-रेखा विज्ञ-प्राज्ञों की काव्यालङ्कार के तत्त्वविज्ञान में है। जो विद्वान् इसकी रक्षा करते हुए चलते हैं, वे कभी भी भ्रम में नहीं पड़ते। अतः रस केवल प्रमेय का धर्म है, इस परात्पर कला लोक में। इस प्रकार प्रो० द्विवेदी ने

---

1. काव्यालङ्कारकारिका-कारिका-241-44

रस के काव्यात्मत्व का खण्डन कर अलङ्कार के काव्यात्मत्व को उपस्थापित किया है।

प्रो० द्विवेदी के मत का समर्थन करते हुए प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी का कथन है – **अलङ्कारः काव्यजीवनम्। आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिक-विश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारण पर्याप्त्याधायकत्वमलङ्कारत्वम्।**[1] अलङ्कार ही काव्य का जीवन है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, इस विश्वत्रय का जिसमें समुन्मीलन हो तथा जो भूषण-वारण और पर्याप्ति के आधायक तत्त्व हैं, वे अलङ्कार हैं।

प्रो० त्रिपाठी का मत है कि कविता में अलङ्कार अविभाज्य व अनिवार्य तत्त्व है तो अलङ्कार के लक्षण के अनुसार उसमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विश्वों का उन्मीलन होना चाहिए। यह सम्भव है कि किसी कृति में केवल आधिभौतिक की, किसी में केवल आधिदैविक की तो किसी में केवल आध्यात्मिक की प्रधानता प्रतीत होती हो। इस प्रकार उन्होंने अलङ्कार को ही समस्त कलाओं में तथा सर्वविध साहित्य में सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सर्वङ्कष मानदण्ड माना है। यह अलङ्कार न केवल काव्यजगत् का मानदण्ड है अपितु काव्यमार्ग की समस्त पद्धतियों का नियामक भी है। अपने मत के समर्थन में प्रमाण देते हुए प्रो० त्रिपाठी कहते हैं कि ''सौन्दर्य अलङ्कार है'' ऐसा कहते हुए वामन भी काव्य में विद्यमान समस्त सौन्दर्य तथा सौन्दर्य प्रक्रिया को अलङ्कार रूप ही मानते हैं। इससे ध्वनि, गुण, रीति, बन्ध तथा वक्रोक्ति आदि समस्त काव्यों की अलङ्कारवर्तिता सिद्ध है।[2]

पुनश्च प्रो० त्रिपाठी ने अलङ्कार की सर्वव्यापकता को सिद्ध करते हुए बतलाया है कि अलङ्कार के महाविषयत्व में ध्वनि भी अन्तर्भावित हो जाती है। अतः काव्य में पूर्णता अलङ्कार से आती है। काव्य की समस्त कोटियाँ भी उसी में अन्तर्भूत हो जाती हैं । इस सन्दर्भ में उनका कथन है-

रसाश्चापि गुणाश्चापि रीतयो वृत्तयस्तथा।
सर्वेध्वनि प्रभेदाश्च ये प्राचीनैरुदाहृतः।।

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-प्रथम अध्याय-सूत्र-1-2
2. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण- प्रथम अध्याय-पृ०-39-40

सन्धिसन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणानि तथैव च।
अलङ्कारस्य परिधौ सर्वे चान्तर्भवन्ति ते।।[1]

इस प्रकार प्रो० त्रिपाठी ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अलङ्कारवादियों ने काव्य में अलङ्कार को ही सर्वस्व मानकर उसको प्राणतत्त्व घोषित किया है तथा ध्वनिवादियों ने उसका खण्डन कर उसे काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व के ही रूप में रमणी के आभूषणवत् स्वीकार किया है। वस्तुतः काव्य में अलङ्कार की यही स्थिति समीचीन है; जिसका तर्कसहित विवेचन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनिवादी आचार्यों ने किया है। परन्तु इस सन्दर्भ में प्रो० द्विवेदी तथा प्रो० त्रिपाठी के तर्क भी महत्त्वपूर्ण तथा विचार-विमर्श के विषय हैं। इन दोनों विद्वानों के तर्कों पर विद्वज्जन विचार करें। मेरा मन्तव्य तो अलङ्कार को काव्य में सौन्दर्याधायक तत्त्व ही मानने के सन्दर्भ में है। अतः अलङ्कार काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले उसके अङ्ग हैं अङ्गी नहीं।

रीत्यात्मत्वविमर्श

'रीतिरात्माकाव्यस्य' कहकर वामनाचार्य ने सर्वप्रथम काव्य में रीति को प्रमुख स्थान देकर काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया। यद्यपि काव्यशास्त्र में रीति तत्त्व का अनुशीलन वामन से पूर्व हो चुका था, तथापि वामन प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रीति की स्पष्ट रूप से व्याख्या की और उसको काव्य की आत्मा माना। उन्होंने रीति का गुणों के साथ नित्य-सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा कि- **विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**[2] पदों की विशिष्ट संघटना रीति है और विशेष का अर्थ है गुणों से युक्त होना। गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्यधर्म हैं- **काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः।**[3] अतः काव्यशोभा के सम्पादित हुए बिना काव्यरचना सम्भव नहीं है। इसके बिना काव्य में शब्द और अर्थ का प्रयोग औपचारिक मात्र है। वामन के

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-द्वितीय अधिकरण-प्रथम मध्याय-सूत्र-1-2
2. काव्यालङ्कारसूत्र-प्रथम अधिकरण-द्वितीय अध्याय-सूत्र-7-8
3. काव्यालङ्कारसूत्र-तृतीय अधिकरण-प्रथम अध्याय-सूत्र-1

टीकाकार तिप्पभूपाल और अलङ्कारसंग्रहकार आचार्य अमृतानन्द योगी भी रीति को ही काव्य की आत्मा मानने वाले हैं। वामन का कथन है कि काव्य में अङ्गीभूत होने के कारण रीति काव्य की आत्मा है और रस रीति का अङ्गभूत है। विशिष्ट कोटिक पद रचना रीति है और वह गुणयुक्त है। अतः रीति और गुण का नित्य सम्बन्ध है अथवा गुण रीति के अनुप्राणक हैं। समस्त रस कान्ति नामक गुण में समाहित हो जाते हैं। दीप्तरसता ही कान्ति नामक गुण है।

परन्तु ध्वनिमार्गी आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट विश्वनाथ एवं जगन्नाथादि का मत है कि वामन का यह कथन उचित नहीं है। ध्वनिकार का मत है कि जब काव्य का शरीर- स्थानीय तत्त्व रीति है तो फिर वह काव्य की आत्मा कैसे हो सकती है? गुण भी रीति के अनुप्राणक नहीं हैं, रस-धर्म होने के कारण। अतः गुण न तो संघटना-स्वरूप हैं और न ही संघटना के आश्रय हैं, यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो गुण को किस आलम्बन वाला कल्पित किया जाय?

इसका उत्तर है- इन गुणों के आलम्बनत्व का प्रतिपादन इस रूप में किया जा चुका है कि जो अङ्गीभूत अर्थ (रस) का अवलम्बन करते हैं, वहीं गुण हैं तथा काव्य में जो अङ्गभूत शब्द और अर्थ के आश्रित हैं, वे शरीरस्थ कटकादिवत् अलङ्कार हैं। अथवा गुणों को शब्दाश्रित मान भी लिया जाय तो अनुप्रासादि के साथ इनकी तुल्यता नहीं है; क्योंकि अनुप्रासादि तो अनपेक्षित अर्थविस्तार वाले शब्द धर्म ही हैं। यदि गुणों को भी शब्दधर्मी ही मान लिया जाय तो फिर बात कुछ इस तरह की होगी कि अन्य अर्थात् आत्माश्रय शौर्यादि (गुणों) को शरीराश्रयी मान लिया गया (और यह कथमपि उचित एवं सङ्गत नहीं है) अतएव माधुर्यादि गुण कुछ और ही हैं तथा संघटना भी कुछ और ही है अर्थात् दोनों एक नहीं है।[1]

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर रीति को ही काव्य के अन्य तत्त्वों का नियामक घोषित किया, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को काव्य का बहिरङ्ग तत्त्व प्रतिपादित कर रस को उसका मुख्य नियामक

---

1. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-6 की वृत्ति तथा अभिराजयशोभूषणम्-पृ० 156-58

माना। रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य एवं विषय के औचित्य भी रीति के नियामक माने गये। इस प्रकार रस, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य से नियमित करके आनन्दवर्धन ने रीति को रसोपकर्त्री घोषित कर दिया। काव्य में सर्वाधिक महत्त्व रस और ध्वनि का है, क्योंकि उनके रहने पर ही सहृदय काव्य में आह्लादानुभव करता है तथा काव्य की रचना इसी के निमित्त की जाती है। पद संघटनारूप रीति उक्तिविशेष मात्र है। वह रसादि के उत्कर्ष का कारण हो सकती है, काव्यात्मा नहीं। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में रीति के महत्त्व को भी स्वीकार किया है, परन्तु केवल साधन के रूप में साध्य के रूप में नहीं। इसलिए उनका कथन है –

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।।[1]

रीतिवादियों ने अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्यतत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ होकर रीतियों का प्रवर्तन किया। आचार्य मम्मट ने भी–केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयोमताः[2] कहकर रीति के महत्त्व को अस्वीकार कर दिया तथा इनका समावेश वृत्यानुप्रास अलङ्कार में किया है। इसे उन्होंने तीन प्रकार का बतलाया है– (i) उपनागरिका (ii) परुषा और (iii) कोमला। आचार्य विश्वनाथ का कथन है –

पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम् सा पुनः स्याच्चतुर्धा।[3]

पद संघटना रूप रीति की स्थिति काव्य में रस के उपकारक के रूप में रहती है। पण्डितराजजगन्नाथ का कथन है कि–वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणव्यञ्जकत्वत्मेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्माना-भावाच्च।[4] वर्ण रचना रूप रीतियाँ माधुर्यादि गुणों की अभिव्यञ्जक कही जा सकती हैं, न कि वे रसों की अभिव्यञ्जक हैं।

---

1. ध्वनालोक–तृतीय उद्योत–कारिका–47
2. काव्यप्रकाश–नवम उल्लास–कारिका–81
3. साहित्यदर्पण–नवम परिच्छेद–कारिका–1
4. रसगङ्गाधर–प्रथम आनन

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि काव्य में रीति का महत्त्व तो निश्चित है, परन्तु साधन के रूप में है साध्य के रूप में नहीं। कवि का काव्यत्व तो काव्य में निहित सहृदयहृदयाह्लादकत्व में होता है, जो रसादि ध्वनि में है। पदों की संघटना रूप रीतियाँ रसादि तत्त्वों की उन्मीलनकर्त्री, उपकारकर्त्री हैं। अतः साधनरूपा रीतियों को काव्यात्मरूप मानना उचित नहीं हैं; क्योंकि इनका महत्त्व काव्य के अङ्गीरूप में न होकर अङ्गरूप में है। इसलिए रीति काव्य की आत्मा नहीं हो सकती।

वक्रोक्त्यात्मत्वविमर्श

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर काव्यसमालोचना के क्षेत्र में एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया। प्राक्तन आचार्यों के मार्ग से कुछ भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हुए उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व माना। कुन्तक का कथन है – **वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्यभङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।**[1] प्रसिद्ध कथन से (व्यतिरिक्त) विचित्र प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति है और यह ही काव्य का प्राण है, क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकता। सर्वप्रथम वक्रोक्ति का काव्यशास्त्रीय प्रयोग भामह द्वारा किया गया। उनका कथन है –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।[2]

काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व अलङ्कार है और किसी भी अलङ्कार का अस्तित्व बिना वक्रोक्ति के नहीं हो सकता। अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। कवि को इसके लिए प्रयास करना चाहिए। दण्डी ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानकर अतिशयोक्ति को समस्त अलङ्कारों का मूल बतलाया है। उनका कथन है –

---

1. वक्रोक्तिजीवित-प्रथमोन्मेष-कारिका 10 की वृत्ति
2. काव्यालङ्कार-द्वितीय परिच्छेद-कारिका-85

अलङ्कारान्तराणामप्याहुरेकं परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।[1]

वाणी के अधिपति द्वारा पूजित इस अतिशयोक्ति अलंकार को अन्य अलंकारों का भी प्रधान आश्रय अर्थात् शोभाधायक तत्त्व माना जाता है। इस प्रकार भामह तथा दण्डी ने वक्रोक्ति को अलङ्कार सामान्य के रूप में अति व्यापक स्वीकार किया; परन्तु उत्तरवर्ती आचार्य वामन ने इसके क्षेत्र को सङ्कुचित करते हुए अर्थालङ्कार माना तथा कहा कि- **सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः**।[2] सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है। वामन के उत्तरवर्ती रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार माना तथा बतलाया कि यह वाक्छल पर आश्रित है। श्लेष और काकु रूप से इसके दो भेद होते हैं।[3] अग्निपुराण में भी वक्रोक्ति को काकु तथा भङ्गश्लेष के भेद से दो प्रकार का अलङ्कार बतलाया गया है।[4]

अलङ्कारवादी आचार्यों के अनन्तर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति में एक्य स्थापित करते हुए इसे काव्यसौन्दर्य का अभिव्यञ्जक माना है। उनके अनुसार समस्त अलङ्कार अतिशयोक्ति गर्भित होते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित यह अतिशयोक्ति काव्य में अनिवर्चनीय शोभा का पोषण करती है।[5] अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन के मत का समर्थन करते हुए वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) को सभी अलङ्कारों में सामान्य बतलाया।[6] आचार्य मम्मट का भी दृष्टिकोण आनन्दवर्धन के ही समान है। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार मानकर उसके श्लेष तथा काकु वैशिष्ट्य से दो भेद बतलाये –

---

1. काव्यादर्श-द्वितीय परिच्छेद-कारिका-220
2. काव्यालङ्कारसूत्र-चतुर्थऽधिकरण-तृतीय अध्याय-सूत्र-8
3. काव्यालङ्कार-द्वितीय अध्याय-कारिका 14 तथा 16
4. अग्निपुराण-अध्याय-342-कारिका-32-33
5. यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति।

   ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-37 की वृत्ति
6. शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानं इत्ययमेवासौ अलङ्कारस्यालङ्कारान्तरभावः। लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालङ्कार सामान्यम्। ध्वन्यालोकलोचन-पृ०-208

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।[1]

इसके अतिरिक्त विशेष नामक अलङ्कार के विवेचन में मम्मट ने वक्रोक्ति रूप अतिशयोक्ति को समस्त अलङ्कारों का प्राण बतलाया है।[2]

इस प्रकार कुन्तक के उत्तरवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति का अन्तर्भाव शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत कर लिया। विशेष अलङ्कार का विवेचन करते हुए मम्मट ने यद्यपि अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों का प्राण कहा है तथापि काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में इसका वर्णन शब्दालङ्कार के रूप में किया है। मम्मट के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भट, विश्वनाथ तथा केशव मिश्रादि ने भी वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार माना। रुय्यक और अमृतानन्दयोगी आदि ने इसकी गणना अर्थालङ्कारों में की है। अतः वक्रोक्ति भी काव्य में साधन रूप ही है, साध्य नहीं। इसलिये यह काव्य की आत्मा नहीं हो सकती है। अपितु वक्रोक्ति अलङ्कार रूप में शब्दार्थ के माध्यम से काव्य में चारुत्व (चमत्कार) की अभिधानकर्त्री है।

औचित्यात्मत्वविमर्श

जिस प्रकार लोक में अनौचित्यपूर्ण व्यवहार द्वारा कोई भी व्यक्ति हास्यास्पद (निन्दा का पात्र) हो जाता है, उसी प्रकार काव्य में भी यदि कवि रस, अलङ्कार, गुण, रीति तथा वक्रोक्ति आदि तत्त्वों का औचित्यपूर्ण विनियोजन नहीं करता तो वह भी उपहास का पात्र बन जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थ की रचना की। जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने कहा भी है-

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।[3]

---

1. काव्यप्रकाश - नवम उल्लास-कारिका-78
2. सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।
   काव्यप्रकाश-दशम उल्लास-कारिका-136 की वृत्ति
3. औचित्यविचारचर्चा-कारिका-3

क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में औचित्य को काव्य तथा रस की दृष्टि से अनिवार्य तत्त्व बतलाया था। परन्तु कालान्तर में आचार्य क्षेमेन्द्र ने उसी को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। उनका कथन है –

अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम्।।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।।[1]

क्षेमेन्द्र का मत है काव्य में अलङ्कार तो अलङ्कार ही हैं और गुण–गुण ही, परन्तु रससिद्ध काव्य का अविनाशी जीवित तो औचित्य ही है। अलङ्कार तभी अलङ्कार होते हैं, जब वे औचित्य से च्युत नहीं होते। औचित्य को परिभाषित करते हुए क्षेमेन्द्राचार्य का कथन है –

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल तस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[2]

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्य उचित कहते हैं। उचित का जो भाव है, वह औचित्य कहलाता है। अनौचित्य के कारण होने वाली हास्यास्पदमयी स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है –

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता-
मौचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।।[3]

इस प्रकार काव्य में औचित्य को सर्वत्र व्याप्त बतलाते हुए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अनन्त भेदों की कल्पना की तथा 27 भेदों का वर्णन भी किया। यथा–

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।

1. औचित्यविचारचर्चा–कारिका–5–6
2. वही–कारिका–7
3. वही–कारिका–6 का उदाहरण

उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।[1]

आचार्य भरत, भामह, दण्डी तथा रुद्रट आदि आलङ्कारिकों और आनन्दवर्धन, मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों ने भी औचित्य को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। भरतमुनि का कथन है -

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।।[2]

आचार्य भामह का कथन है -

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्त्रजामिव।।[3]

सन्निवेश के कारण फूलों की माला के बीच में हरे पत्ते के समान (कहीं-कहीं) सदोष अभिव्यञ्जना भी सुन्दर बन जाती है। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में औचित्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि-

रसवन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत्।।[4]

रसबन्ध में औचित्य का आश्रय करने वाली रचना (गद्य-पद्य) सर्वत्र शोभित होती है। विषयगत औचित्य की दृष्टि से उसमें कुछ भेद होता है।

अपि च -

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।।[5]

---

1. औचित्यविचारचर्चा-कारिका-8-10
2. नाट्यशास्त्र-अध्यायय-23-कारिका-69
3. काव्यालङ्कार-प्रथम परिच्छेद-कारिका-54
4. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-9
5. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-32

अर्थात् रस के अनुकूल शब्द और अर्थ की योजना ही महाकवि का मुख्यकर्म होता है। पुनश्च ध्वनिकार ने अलङ्कार, गुण, रीति आदि का रसौचित्य की दृष्टि से विधान बतलाते हुए कहा है –

अनौचित्यादृते नान्याद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।[1]

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का कोई अन्य कारण नहीं है। इसलिए प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण करना ही रस का परम रहस्य है। इस सन्दर्भ का आनन्दवर्धन ने विस्तृत व्याख्यान ध्वन्यालोक में किया है। प्रस्तुत प्रकरण विस्तारशः मूल ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। अतः इस प्रकरण का यहीं उपसंहार किया जा रहा है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन विवेचित औचित्य को ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित किया। यद्यपि औचित्य काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, परन्तु आत्मा नहीं। क्योंकि इसके बिना काव्य में काव्यत्व नहीं रहेगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि औचित्य यदि काव्य का साध्य होगा तभी काव्य का आत्मा कहा जा सकता है, साधन होने पर नहीं। काव्य में औचित्य का प्रतिपादन ध्वनिकार ने साधन रूप में कर दिया है जो सर्वथा उचित है। औचित्य रस के उत्कर्ष का कारण है, इसलिए वह कवि का साध्य या उद्देश्य नहीं है। औचित्य का महत्त्व शब्दार्थ रूपी काव्य में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के औचित्य पूर्ण संयोजन में है। अतः औचित्य काव्य का आत्मा नहीं हो सकता।

चमत्कारात्मत्वविमर्श

काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा औचित्य सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। इन्हें षट् सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। इनमें से प्रत्येक ने क्रमशः काव्य की आत्मा को पृथक्-पृथक् रूप में प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त सप्तम सम्प्रदाय (चमत्कार सम्प्रदाय) का भी प्रतिपादन 20वीं शताब्दी के काव्यतत्त्वज्ञ आचार्य प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार द्वारा किया गया है।

1. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-14 की वृत्ति में परिकर श्लोक

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण में चमत्कार के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। क्षेमेन्द्र का कथन है-

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्।।[1]

रत्नविहीन स्वर्णाभूषण, सौन्दर्यहीन युवती का यौवन और चमत्कार रहित कवि का काव्य, ये तीनों ही सामाजिकों को आनन्द प्रदान करने वाले नहीं होते। इसी प्रकार उन्होंने औचित्यविचारचर्चा में औचित्य के चमत्कार की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए कहा है -

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।[2]

पुनः कविकण्ठाभरण में चमत्कार की अनिवार्यता बतलाते हुए क्षेमेन्द्र का कथन है- **न हि चमत्काररहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्।**[3] अर्थात् चमत्कार रहित कवि में कवित्व तथा चमत्कार रहित काव्य में काव्यत्व नहीं रहता। क्षेमेन्द्र के परवर्ती (14 वीं शताब्दी के) आचार्य विश्वेश्वर कविचन्द्र ने अपने ग्रन्थ का नाम ही चमत्कारचन्द्रिका रखा तथा चमत्कार को काव्य के लक्षण में समाविष्ट किया। उनका कथन है- **वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।**[4] काव्यालोककार हरिदास का कथन है- **विशिष्ट शब्दरूप काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।**[5] विशिष्ट शब्दरूप काव्य की आत्मा चमत्कार है। इसी प्रकार अन्य अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने चमत्कार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व बतलाया है।

---

1. कविकण्ठाभरण-तृतीय सन्धि-श्लोक-2
2. औचित्यविचारचर्चा-कारिका-3
3. कविकण्ठाभरण-तृतीय सन्धि-कारिका-1
4. चमत्कारचन्द्रिका - प्रथम विलास
5. Dr. V.Raghvan- Studies on some concepts of the Alnamkarsastra ed. 1942, Pg. 270 तथा उद्धृत चमत्कारविचारचर्चा- प्रारम्भिक भाग- पृ० XVII

सम्प्रति इसी चमत्कार तत्त्व को प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने स्वतन्त्र रूप से काव्य की आत्मा माना है तथा अन्य समस्त काव्यतत्त्वों का चमत्कार में ही अन्तर्भाव बतलाया है। चमत्कार का लक्षण करते हुए उनका कथन है -

चमत्करोति यः काव्ये चमत्कारः स उच्यते।
आस्वादयति काव्यार्थान् सामाजिकस्य चेतसि।।
विस्मयापरपर्यायः काव्यास्वादकरो हि यः।
कौतुकात्सः समुद्भूतः कुतूहलविवर्धकः।।
सुखरूपश्चमत्कारश्चित्तविस्तारको हि सः।
सर्वरससमाकीर्णः काव्यशोभाविवर्धकः।।[1]

पुनश्च चमत्कार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए प्रो० वेदालङ्कार कहते हैं-

चमत्कारविहीनेन कविकीर्त्यपहारिणा।
किं कुर्मस्तेन काव्येन येन चित्तं न रञ्जितम्।।
काव्यं स्यात्तदकाव्यं यच्चमत्कारेण वञ्चितम्।
चन्द्रेगते सदा दृष्टमन्तरिक्षं मलीमसम्।।
चमत्कारगुणं प्राप्य काव्यं तावद् विशिष्यते।
अचमत्कारदोषेण निन्दां तल्लभते पराम्।।[2]

चमत्कार सम्प्रदाय के वैशिष्ट्य उपस्थापन के साथ चमत्कार को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उनका कथन है-

सैव गोष्ठी मता यत्र कविराजो विराजते।
कविराजस्तु स प्रोक्तः सूक्तमाह च यः सुधीः।।
तत्सूक्तं नु ध्वनिर्यत्र सैव ध्वनिध्वनिर्मतः।
क्षिप्रं सचेतसश्चित्ते सूते यस्तु चमत्क्रियाम्।।
काव्य पुरुषदेहे स आत्मरूपेण संस्थितः।
करोति परमां प्रीतिं ब्रह्मानन्दसहोदरीम्।।

---

1. चमत्कारविचारचर्चा-द्वितीय विचार-कारिका-36-38
2. वही-कारिका-63-65

काव्यसारश्चमत्कारः काव्यं व्यर्थं च तं बिना।
रसहीनं फलं तावद् भुज्यते नैव केनचित्।।
अचमत्कारि काव्यं तु काव्येषु नैव गण्यते।
निर्गतात्मा तु यो देहः सवसञ्ज्ञां प्रयाति सः।।
समायान्ति तथा यान्ति रसालङ्काररीतयः।
स्थिरीभूते चमत्कारे कल्लोला इव वारिधौ।।
तत्त्वान्तराणि काव्ये तु भवन्तु न भवन्तु वा।
विस्मयगर्भश्चमत्कारः स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।
कामं सन्तु रसास्तस्मिन्नलङ्काराश्च भूरिशः।
उपयाति न पूर्णत्वं चमत्कारं बिना तु तत्।।
स एव काव्यजीवातुः काव्यस्यप्राणनं तथा।
तेनैव सारता तस्य तं बिना सारहीनता।।
चमत्कारात्मके काव्ये तदङ्गानि रसादयः।
अङ्गीभूयोपकुर्वन्ति पुष्णन्ति तञ्च सर्वदा।।
लिङ्गशरीरमेतेषां तत्त्वानां सहवर्तिनाम्।
उपस्कारकभूतानां चमत्कारात्मनि स्थितम्।।[1]

प्रो० वेदालङ्कार ने काव्य का जीवन तत्त्व चमत्कार को घोषित करते हुए, उसे काव्य का अनिवार्य अङ्गी तत्त्व माना है तथा अन्य तत्त्वों यथा-रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्यादि का इसी (चमत्कार) में अन्तर्भाव बतलाया है। शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर में लिङ्गशरीरवत् इन सब उपकारक सहवर्ती तत्त्वों के साथ चमत्कार आत्मा रूप में स्थित है। इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए पुनः वे कहते हैं-

यथा महानदाः सर्वे गच्छन्ति सागरं प्रति।
निखिलाः सम्प्रदायास्ते चमत्कारं तथा गताः।।
रसे सारश्चमत्कारो रीतौ सारश्चमत्कृतिः।
ध्वनौ सारश्चमत्कारः सोऽलङ्कारेऽपि वर्तते।।

---

1. चमत्कारविचारचर्चा-तृतीय विचार-कारिका-125-35

रससारश्चमत्कारस्तं विना न रसो रसः।
सैव सारो ध्वनेश्चापि तं बिना न ध्वनिर्ध्वनिः।।
न तिष्ठन्ति बिना तेन गुणलङ्काररीतयः।
एवमस्य मता काव्येऽचला चावश्यिकी स्थितिः।।
औचित्यं वृत्तिरीती ते ध्वनिरसौ रसादयः।
चमत्कारं हि सेवन्ते मन्त्रिणो नृपतिं यथा।।
पद पदार्थवाक्येषु वाक्यार्थेऽथ प्रबन्धके।
चमत्कारः स संयोज्यः काव्यसौन्दर्यवृद्धये।।
जन्यतेऽसौ चमत्कारस्त्वलङ्काररसादिभिः।
जन्यजनकभावो वै तन्मध्ये सुप्रतिष्ठितः।।
चमत्कारस्तु विज्ञानामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्।।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।
सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।।
स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशो राष्ट्रदुर्गबलानि च।
अङ्गानि सप्तसङ्ख्यानि शास्त्रेषु प्रथितानि वै।।
यथा सप्ताङ्गराज्ये तु राजैव राजतेतराम्।
तथा मध्ये रसादीनां चमत्कारो विशिष्यते।।
सर्वाणीमानि तत्त्वानि काव्यशोभाकराणि वै।
समवेतानि जायन्ते भावयन्ति परस्परम्।।[1]

इस प्रकार प्रो० वेदालङ्कार ने काव्य की आत्मा के रूप में चमत्कार को प्रतिपादित किया है। आचार्य द्वारा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में की गयी यह मौलिक उद्भावना इस युग में क्रान्तिकारी परिवर्तन है। यह काव्यसमीक्षा को नया आयाम प्रदान करने वाली है। परन्तु जिस चमत्कार तत्त्व के अन्तर्गत प्रो० वेदालङ्कार जी अन्य समस्त तत्त्वों को अन्तर्भावित करते हैं, स्वयं उसकी अभिव्यक्ति का साधन भी व्यङ्ग्यार्थ ही है। जब तक काव्य में व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त नहीं होता, तब तक सहृदय को उस चमत्कार की प्रतीति (अनुभूति)

1. चमत्कारविचारचर्चा-तृतीय विचार-कारिका-136-47

नहीं होती । अतः काव्य में प्रथमतः व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है, तदनन्तर चमत्कार की प्रतीति होती है। इसलिए चमत्कार का कारण व्यङ्ग्यार्थ है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः चमत्कार कार्य हुआ और व्यङ्ग्यार्थ उसका कारण। जिस प्रकार प्रकाश एवं उसके उत्पादक, सूर्य, चन्द्र, दीपादि पृथक्-पृथक् हैं अथवा मेघ एवं उसमें उत्पन्न होने वाली विद्युत परस्पर भिन्न होते हुए भी संयुक्त रूप से प्रकाश का कारण है। उसी प्रकार काव्य में चमत्कार का कारण है व्यङ्ग्य अर्थ और व्यङ्ग्यार्थ का कारण है कवि, शरीर में परमात्मतत्त्व से आत्मतत्त्व की भाँति। अथवा (दूसरा पक्ष) यह भी कहा जा सकता है कि काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के घटित होने पर जो चमत्कारजन्य रस प्रतीति सहृदयों को होती है। उस रस (आनन्द) की प्रतीति में चमत्कार विशेषण रूप अलौकिकता के पर्याय का बोधक है। अभिनव गुप्त ने भी रस को अलौकिक बतलाया है। जिस प्रकार किसी रमणी के अनुपम सौन्दर्य को देखकर कोई भी व्यक्ति विशेष स्वभावतः (अनायास) कह उठता है कि आश्चर्यचकित कर देने वाला सौन्दर्य है, उसी प्रकार चमत्कार का भी वैशिष्ट्य (औचित्य) रसबोध प्रक्रिया में है। अतः चमत्कार काव्य का आत्मा नहीं हो सकता है। काव्य का आत्मा व्यङ्ग्यार्थ ही है। इसका तर्कसहित विवेचन ध्वन्यात्मत्वविमर्श में आगे किया जायेगा।

अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि को तत्तत् सम्प्रदाय वादियों ने काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। परन्तु इनका खण्डन कर व्यङ्ग्यार्थ को काव्य का आत्मा माना गया है। अलङ्कारादि को काव्यात्मा न मानने के सन्दर्भ में अर्वाचीन काव्यतत्त्वज्ञ प्रो० राजेन्द्र मिश्र का कथन है -

यथा दर्शन शास्त्रेषु ब्रह्ममायाऽत्मबुद्धयः।
अहङ्कारमनः पञ्चमहाभूतेन्द्रियादयः।।
सर्वेप्रत्यभिज्ञायन्ते निजादूढस्वरूपतः।
पुनर्लक्षणस्वातन्त्र्यं यथा तेषां न विद्यते।।
तथैव काव्यशास्त्रेऽपि किञ्च शास्त्रान्तरेऽखिले।
नास्ति सिद्धप्रमेयाणामन्यथा ख्यापनौचिती।।

गुणालङ्काररीतीनां यथाज्ञापितलक्षणम्।
विज्ञायापि मतिं कुर्यात्कस्तत्प्रतननान्तरे।।[1]

इस प्रकार गुण, अलङ्कार तथा रीत्यादि का खण्डन करते हुए प्रो० मिश्र ने कहा है कि इनका काव्यात्मत्व चाहे सैकड़ो-हजारों वाचिक तर्कों तथा बौद्धिक व्यायामों द्वारा समझाया जाय लेकिन वह बुद्धि रूपी राजमहल के प्रवेशद्वार की देहरी को (रीत्यादि के चिरपरिचित, रूढस्वरूप होने के कारण) पार नहीं कर पाता। इन सब को काव्य की आत्मा बतलाने वाले लोग खड्गन्यायेन (अर्थात् जबर्दस्ती) अपना सिद्धान्त समझाना चाहते हैं। यद्यपि अपने प्रयास वैफल्य को वे भली-भाँति जानते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो० मिश्र ने अभिनवगुप्त द्वारा बतलाये गये 'तलवार लक्षण' को प्रस्तुत किया है। अभिनव ने लोचन में कहा है -

इदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत्।
प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावः।।[2]

जैसे कि तलवार का लक्षण बताता हूँ, ऐसा कहकर कोई (सैनिक) विवरण दे- लम्बाई तथा चौड़ाई में फैलने वाला, लपेटा जा सकने वाला, समस्त शरीर को ढकने वाला, अत्यन्त कोमल, रङ्ग-बिरङ्गे धागों से बुना हुआ, सिमटने तथा फैलने में समर्थ, अच्छेदक (काटने में असमर्थ) तथा सरलता से (स्वयं) कट जाने वाला उत्कृष्ट खड्ग मुझे चाहिए, ऐसा कहता हुआ औरों द्वारा टोका जाय कि- इस प्रकार का तो वस्त्र होता है भाई ! खड्ग नहीं। ऐसा समझाने के बाद भी वह रट लगाये नहीं मुझे तो बस ऐसा ही खड्ग चाहिए। इसी प्रकार इन समस्त सम्प्रदायवादियों का अपना-अपना काव्यात्म सिद्धान्त के प्रति तर्क है, जिसे वे जबर्दस्ती मनवाना चाहते हैं, परन्तु इसका स्पष्टीकरण उपर्युक्त कथ्य से हो जाता है, तथापि इनके बौद्धिक तर्कों का काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में समादर है।

ध्वन्यात्मत्वविमर्श

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना तथा

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-आत्मतत्त्वोन्मेष-कारिका-9-12
2. ध्वन्यालोकलोचन-1-1, उद्धृत अभिराजयशोभूषणम्-पृ०-163

काव्य-समालोचना के क्षेत्र में क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात किया। आनन्दवर्धन का मत है कि उनके पूर्व ही ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित कर दिया गया था। परन्तु कुछेक आचार्य उस मत का खण्डन करते हैं और ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं मानते। इसलिए ध्वनिकार ने ध्वनि के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहा है-

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमुचूस्तदीयं।
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।[1]

आनन्दवर्धन ने दो प्रकार के अर्थ बतलाये- (i) वाच्य और (ii) प्रतीयमान । उनका कथन है-

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।[2]

इन दोनों अर्थों में जब प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य काव्य में चमत्कारिक रूप में अभिव्यक्त होता है, तब वह काव्य ध्वनिकाव्य कहलाता है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[3]

ध्वनिकार का मत है ध्वनि का मूल प्रतीयमान अर्थ है, जो महाकवियों की वाणी में कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रूप में काव्य में, काव्य के विभिन्न अङ्गों यथा-गुण, अलङ्कारादि से भिन्न होकर रमणियों में लावण्य की भाँति प्रतीत होता है तथा सहृदयहृदयाह्लाद का कारण है। यही अर्थ काव्य की आत्मा है जो आदिकवि वाल्मीकि की वाणी में काव्यरूप होकर प्रस्फुटित हुआ था-

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।[4]

---

1. ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-1
2. वही-कारिका-3
3. ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत-कारिका-4
4. वही-कारिका-5

ध्वनिकार के मतानुसार यह अर्थ तीन प्रकार का होता है-(i) रस (ii) अलङ्कार और (iii) वस्तु। इसी आधार पर उन्होंने ध्वनि के तीन भेद किये- (i) रसध्वनि (ii) अलङ्कारध्वनि और (iii) वस्तुध्वनि। इन तीनों में भी ध्वनिकार ने रसध्वनि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया तथा महाकवियों की रचनाओं से इसके विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये। ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाकर ध्वनिकार ने काव्य के अन्य तत्त्वों यथा-अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति आदि की उपेक्षा नहीं की अपितु काव्य में उनका यथोचित स्थान निर्धारित किया। काव्य में ध्वनि को केन्द्र बिन्दु मानकर अन्य तत्त्वों को उसके उत्कर्षा धायक (उपकारक) के रूप में प्रतिपादित किया।

ध्वन्यालोक में इस सन्दर्भ का ध्वनिकार ने विस्तारशः विवेचन किया है तथा उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, पद, समास, वाक्य-प्रबन्ध तक ध्वनि का क्षेत्र निर्धारित कर रस को भी ध्वनि का अङ्ग बतलाया है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने आनन्दवर्धन का ही समर्थन करते हुए व्यङ्ग्यार्थ को काव्य की आत्मा माना है। उनका कथन है कि- इस भूतल पर शब्द-शास्त्रज्ञ सामान्य वैय्याकरण पदार्थ-जीवी तथा मीमांसा शास्त्र के पण्डित वाक्यार्थ जीवी माने जाते हैं। परन्तु सहृदय (साहित्यशास्त्रज्ञ) तो जन्म से ही काव्यार्थ-जीवी होते हैं, क्योंकि उनके चित्त की विश्रान्ति मात्र काव्यार्थ से होती है। इसलिए काव्यार्थ रूप काव्य का आत्मा भी सजातीय सम्बन्ध के कारण कोई न कोई काव्यार्थ ही होना चाहिए। तो फिर कौन हो सकता है वह काव्यार्थ जो काव्य की आत्मा बनने का दावा कर सके? प्राचेतस वाल्मीकि के द्वारा (अपने काव्यनायक) राघव की ही भाँति उस विशिष्ट काव्यार्थ की खोज की जानी चाहिए।[1] क्योंकि-

वाच्यार्थो न स काव्यार्थो नूनं सकलगोचरः।
शब्दार्थोभय सङ्केतसम्बन्धेन नियन्त्रितः।।[2]

प्रो० मिश्र का मानना है कि वाच्यार्थः (सङ्केतितार्थ, अभिधेयार्थ, मुख्यार्थ, कोषसम्मतार्थ) तो काव्यार्थ हो नहीं सकता, क्योंकि वह निस्सन्देह सकलगोचर

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-तृतीय अंश-कारिका-58-61
2. वही-कारिका-62

(स्थूल) होता है। क्योंकि वह शब्द और अर्थ के पारस्परिक सङ्केत सम्बन्ध के कारण नियन्त्रित (निश्चित) होता है। अपि च-

लक्ष्यार्थोऽपि स काव्यार्थो भवितुं नार्हति ध्रुवम्।
कोविदेषु प्रयुक्तत्वात् स्थूणात्रयसमाश्रितः।।[1]

लक्ष्यार्थ भी निश्चित रूप से वह (काव्यात्मभूत) काव्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसके दो कारण हैं- प्रथम तो वह मात्र कोविदों में ही व्यवहृत होता है। अतः उसका क्षेत्र सङ्कीर्ण या सङ्कुचित है। द्वितीय-वह स्थूणात्रय (स्तम्भत्रय) पर टिका हुआ है। अतः नैसर्गिक या सहज नहीं है, आरोपित मात्र है। इसलिए-

नूनं सहृदयश्लाघ्यो व्यङ्ग्यार्थ एव केवलम्।
काव्यार्थस्तादृशो यत्र मनो विश्राम्यतिद्रुतम्।।
काव्यार्थभूतकाव्यस्य सजातीयतया स्थितः।
आत्मा स एव व्यङ्ग्यार्थ एवमानन्दवर्धनः।।
वाच्यार्थात्सर्वथा भिन्नो लक्ष्यार्थादपि दूरगः।
व्यङ्ग्यार्थोऽयं भवत्येव गूढगूढो विलक्षणः।।
प्रतीतिरेव सम्भाव्या यतोऽर्थस्यास्य केवलम्।
ततः प्रतीयमानोऽर्थोऽप्ययं विद्भिस्समुच्यते।।
यथा गन्धो हि मृल्लोष्टे चिरकालं नु तिष्ठति।
यावच्चासौ न वर्षाभिः प्रसह्यानीयते वहिः।।
विद्यमानस्तथैवायं ननु वाच्यार्थगह्वरे।
यावन्न वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तस्तावन्न व्यज्यते।।
ततश्चैव समाख्यातो लावण्यप्रतिमोऽप्ययम्।
लीनं यदङ्गनादेहे नैव निर्वण्येते पृथक्।।
वक्त्रनेत्रकपोलादिदेहावयवसंश्रितम्।
सौन्दर्यन्तु विलासिन्याः सामान्यैरपि दृश्यते।।
किन्तु लावण्यतत्त्वन्तु ललनाया वपुः स्थितम्।
नागरैर्विरलैरेव लोचनाभ्यां निपीयते।।

1. अभिराजयशोभूषणम्-तृतीय अंश-कारिका-63

तादृग्गुणविशिष्टोऽयं व्यङ्ग्यार्थः प्रतिभोत्थितः।
काव्यात्मेति मतं स्वीयं भणत्यानन्दवर्धनः।।[1]

निश्चय ही एकमात्र सहृदयों द्वारा श्लाघ्य व्यङ्ग्यार्थ ही उस प्रकार का काव्यार्थ है, जिसमें चित्त द्रुतगति से विश्रान्त हो जाता है। काव्यार्थभूत काव्य के सजातीय धर्म वाला वही व्यङ्ग्यार्थ काव्य की आत्मा है, ऐसा आनन्दवर्धन का भी मत है। वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न और लक्ष्यार्थ से भी अलग-थलग यह व्यङ्ग्यार्थ (स्वरूपदृष्ट्या) अतिशय गूढ़ (रहस्यमय) तथा विलक्षण होता ही है। क्योंकि इस काव्यार्थ की प्रतीति-मात्र होनी सम्भव है। इसे वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ की भाँति शब्दार्थ के माध्यम से लिखा नहीं जा सकता। इसलिए विद्वज्जनों द्वारा इसे प्रतीयमान अर्थ भी कहा जाता है।

जिस प्रकार मिट्टी के ढेले में गन्ध अनन्तकाल तक रची बसी रहती है, जब तक कि जलवृष्टियों के द्वारा उसे जबर्दस्ती बाहर नहीं लाया जाता, उसी प्रकार वाच्यार्थ के गह्वर (अन्तराल) में निश्चित रूप से विद्यमान यह व्यङ्ग्यार्थ जब तक वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त नहीं होता, तब तक अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। इसीलिए इस व्यङ्ग्यार्थ को लावण्य के सदृश्य माना गया है जो कि रमणी के शरीर में लीन रहता है, परन्तु पृथक् परिलक्षित नहीं हो पाता। मुख, नेत्रयुगल, कपोलादि शरीर के अङ्गों में संश्रित रमणी की सुन्दरता का बोध तो (ऐरे-गैरे) सामान्य सौन्दर्य चेतना वाले लोग भी कर लेते हैं। परन्तु रमणी के साङ्गोपाङ्ग व्यक्तित्त्व में परिव्याप्त लावण्यतत्त्व का बोध तो बिरले ही नागरों द्वारा नेत्रों द्वारा ग्राह्य हो पाता है।

कवि प्रतिभा-प्रसूत, तादृग्गुण-विशिष्ट अर्थात् लावण्य के ही समान गूढ़तया निर्वर्ण्यमान वह व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य का आत्मा है, ऐसा ध्वनिकार का भी कथन है। रसरूपी सर्वस्व से युक्त इसी व्यङ्ग्यार्थ द्वारा अधिष्ठित जो काव्यविशेष अङ्गी होता है, उसे स्पष्टतः ध्वनि कहा जाता है। जहाँ (काव्य में प्रयुक्त शब्द) अपने सङ्केतित अर्थों को तथा अर्थ स्वयं अपने अस्तित्व को गौण बनाकर, परस्पर समवेत भाव से (एक) नूतन, विलक्षण अर्थ को प्रकाशित करते हैं। निश्चित रूप से वह काव्य-विशेष ध्वनिकाव्य सञ्ज्ञा वाला होता है,

1. अभिराजयशोभूषणम्-तृतीय अंश-कारिका-64-73

ऐसा ध्वनिकार प्रमाणपूर्वक निस्सन्देह कहते हैं। इसलिए निश्चयेन व्यङ्ग्यार्थरूपी अपर सञ्ज्ञा वाला प्रतीयमान अर्थ व्यञ्जनावादी आचार्यों द्वारा ध्वन्यर्थ भी कहा जाता है।

जिस प्रकार मिट्टी का ढेला नेत्रों को दिखाई देता है, वर्षा भी दिखाई पड़ती है। परन्तु वर्षा के कारण, मिट्टी के ढेले में छिपी (बैठी) परन्तु अब बाहर निकली हुई वह गन्ध तो बस अनुभवमात्र की जाती है। ठीक उसी प्रकार व्यङ्ग्य (अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित होने वाला) अर्थ केवल अनुभव का विषय होता है- वस्तु के रूप में अथवा अलङ्कार के रूप में। परन्तु परमार्थतः रस के रूप में।[1] वस्तु एवं अलङ्कार रूप दोनों व्यङ्ग्यार्थ तो निश्चित रूप से ब्राह्मणश्रमणन्यायेन भले ही वाच्यता को प्राप्त हो जाएँ। परन्तु रस के रूप में जो व्यङ्ग्यार्थ अनुभव किया जाता है वह स्वप्न में भी शब्दों के माध्यम से वाच्यता को नहीं प्राप्त कर सकता, वह सदैव व्यङ्ग्य ही होता है।[2]

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने आनन्दवर्धन के मातानुसार व्यङ्ग्यार्थ को ही काव्य की आत्मा माना है तथा इस सम्बन्ध में अपने तर्कों को उपस्थापित किया है। मैं भी इसी व्यङ्ग्यार्थ को काव्य की आत्मा मानने का पक्षधर हूँ। क्योंकि काव्य में जब यही व्यङ्ग्यार्थ, मिट्टी के ढेले में छिपी गन्ध तथा रमणी के रूप में लावण्य की भाँति प्रतीत होता है तभी सहृदय-हृदय उसकी अनुभूति से आह्लादित हो उठता है। अतः यही व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य की आत्मा कहा जाने योग्य है। अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्यादि इसी को परिपुष्ट करने वाले हैं। इसका क्रमबद्ध सुव्यवस्थित विवेचन ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में कर दिया है। प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने चमत्कार को काव्य की आत्मा माना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने विभिन्न युक्तियाँ भी दी हैं। जिसका विवेचन चमत्कारात्मत्वविमर्श में किया गया है। परन्तु इस सन्दर्भ में मेरा मानना है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ काव्य में (वक्रोक्ति रूप में) प्रतीत न हो तो सहृदय को चमत्कार की अनुभूति कैसे होगी? अतः चमत्कार का भी कारण व्यङ्ग्यार्थ ही

---

1. अभिराजयशोभूषणम्- आत्मतत्त्वोन्मेष- कारिका-74-79 तथा वृत्ति
2. वही- कारिका-80-81 तथा वृत्ति

है। इसलिए इस सन्दर्भ में ध्वनिकार प्रतिपादित प्रतीयमान अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) (जिसका समर्थन प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने भी किया है) ही काव्य की आत्मा है, वही मुझे भी अभीष्ट है। जैसा कि ध्वनिकार ने स्पष्ट किया है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवाङ्गनासु।।[1]

जिस प्रकार स्त्रियों में अन्य समस्त सौन्दर्याधायक अङ्गो के विराजमान होते हुए भी जो लावण्यरूपी अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो सहृदय-हृदय को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, जिससे हृदय को अपूर्वानन्द की प्राप्ति होती है तथा जिसे प्राप्त कर सहृदय-हृदय आनन्द विभोर हो उठता है अर्थात् ब्रह्मानन्दसहोदर की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उसका कारण वह अनिर्वचनीय लावण्यरूप तत्त्व शरीर के समस्त अङ्गों से व्यतिरिक्त कुछ और ही अनुभव संवेद्य है। उसी प्रकार काव्य में भी अन्य समस्त सौन्दर्याधायक काव्यधर्मों के रहते हुए भी काव्य में व्यङ्ग्यार्थ रूप में प्रतीत होने वाला तत्त्व (कुछ अपूर्वानन्द की अनुभूति कराने वाला) अनिर्वचनीय ही है।

इस व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने वाली जो शक्ति है, वह है प्रतिभा, जो कवियों की वाणी में विलास करती है। यह काव्य का कारण तो है ही, काव्य में आनन्दोत्पत्ति का भी कारण है, शरीर में परमात्मतत्त्व से आत्मतत्त्व के प्रवेश की भाँति। अर्थात् जिस प्रकार परमात्मतत्त्व से भिन्नाभिन्नत्व का बोध कराता हुआ आत्मतत्त्व शरीर की चैतन्यता का कारण है, उसी प्रकार काव्य में प्रतिभाबलातोत्पन्न व्यङ्ग्यार्थ काव्य की जीवन्तता का कारण है। उसी के होने से काव्य में जीवन्तता आती है तथा सहृदयों को रसानन्दानुभूति होती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य का आत्मा है।

---

1. ध्वन्यालोक- प्रथम उद्योत - कारिका-4

पञ्चम अध्याय

कविव्यापार एवं सहृदय निरूपण

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू कहकर वेद एवं उपनिषद्कर्त्ता ऋषियों ने कवि की प्रतिष्ठा को अमरत्व प्रदान किया है। शिवलीलार्णव में तो अखण्डब्रह्माण्डनायक परमपिता परमात्मा को ही कवि की उपाधि से विभूषित किया गया है। ग्रन्थकार का कथन है-

स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि,
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्णं,
काष्ठा परा सा कविता ततो नः।।[1]

कवि के विषय में कहा गया है- कवयः क्रान्तदर्शिनः । कवि क्रान्तदर्शी होता है। लोक में भी यही परम्परा प्रचलित है। कवि अपने प्रतिभापूर्ण वैदुष्य से काव्य को जीवन्त बना देता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति विशेष ही किसी विषय विशेष का सम्यक् साक्षात्कार कर उसका प्रतिपादयिता बनता है, उसी प्रकार कवि भी अपने काव्यप्रादुर्भाव के पूर्व उसका साक्षात्कार अपने अन्तः करण में कर लेता है। जिस प्रकार कोई मन्त्रद्रष्य ऋषि 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' इस महत्तर उपाधि को धारण करता है, उसी प्रकार कोई बिरला पुरुष ही कवि की उपाधि को धारण कर पाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य भट्टतौत का कथन है-

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।

---

1. शिवलीलार्णव-1-6, संस्कृत आलोचना-पृ०-16 पर उद्धृत

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ लोकेरूढा कविश्रुतिः।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना।।[1]

कवि अनृषि नहीं होता, वह भी ऋषि ही होता है; क्योंकि उसके द्वारा किया गया वर्णन लोकदर्शन से परिपूर्ण होता है। कवि वह जादूगर है जिसकी जादूगरी से जगत् का प्रत्येक पदार्थ रसभाव सम्पन्न प्रतीत होने लगता है। जिस प्रकार जगत्स्रष्ट्य की सृष्टि में सदैव नूतनता और विलक्षणता दिखाई देती है, उसी प्रकार कवि द्वारा की गई काव्यरूपी सृष्टि भी सर्वथा विलक्षण प्रतीति वाली होती है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने कवि को प्रजापति की उपाधि से विभूषित करते हुए कहा है–

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं प्रवर्तते।।
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्।।
भावनाचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।।[2]

अतः कवि अपने वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कर्म (कविव्यापार) के द्वारा काव्य को रसभावान्वित बना देता है, जिसका आस्वादन सहृदयजन किया करते हैं।

1. कविव्यापार

कवि का मुख्य उद्देश्य है वर्णना निपुण कवि कर्म अर्थात् काव्यसंरचना। अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत का कथन है–

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।[3]

कवि अपनी प्रज्ञा द्वारा जीवन्त वर्णन करने में निपुण होता है। आचार्य

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र–पृ०–8 पर उद्धृत।
2. ध्वन्यालोक–तृतीय उद्योत–कारिका–43 की वृत्ति
3. हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन अध्याय–1, सूत्र–3 में तथा अभिराजयशोभूषणम् –पृ०–35 पर उद्धृत काव्यकौतुक का अंश।

मम्मट का भी कथन है-**लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म।**[1] कवि का कर्म है, लोकोत्तरवर्णन में निपुणता। कवि अपनी प्रतिभा (कवित्वशक्ति) के बल से वस्तु के यथावस्थित स्वरूप के वर्णन में अतिशय हृदयहारिता उत्पन्न कर देता है, जिससे सहृदय-हृदय अनायास उसकी ओर आकर्षित हो जाता है।

कवि का कलरव पक्षियों के कलरववत् हृदयहारी होता है। वह सहृदयों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। महाकवि सुबन्धु का अधोलिखित पद्य प्रस्तुत सन्दर्भ में समीचीन प्रतीत होता है, जिसमें उन्होंने कहा है-

अविदित-गुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगत परिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला।।[2]

आचार्य भामह का कथन है-

अधनस्येव दातृत्वं क्लीवस्येवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्।।
विनयेन बिना का श्रीः का निशा शशिना बिना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता।।[3]

इसलिए सत्कवित्व में वाग्वैदग्ध्य (भङ्गीभणिति) का प्राधान्य आवश्यक है। इसके बिना कवि का व्यापार शोभाशालिता को प्राप्त नहीं होता। जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि रसादि तात्पर्य के बिना परिपाकवान् कवियों का व्यापार ही शोभित नहीं होता। रसादि में तात्पर्य होने पर तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अभिमत रस का अङ्ग बनाने पर चमक न उठे अर्थात् प्रशस्तगुणयुक्त न हो जाय। अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं हैं जो कि ढङ्ग से, उचित रस के विभाव रूप से अथवा (उनके साथ) चेतन व्यवहार के सम्बन्ध द्वारा रस का अङ्ग न बन सकें।[4]

---

1. काव्यप्रकाश-प्रथम उल्लास-कारिका-2 की वृत्ति
2. वासवदत्ता-श्लोक-11, संस्कृत आलोचना-पृ०-13 पर उद्धृत
3. काव्यालङ्कार-प्रथम परिच्छेद-कारिका-3-4
4. यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते रसादितात्पर्ये च सति, नास्त्येव तद्वस्तु, यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणी भवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-43 की वृत्ति

सत्कवियों की इसी रसभावानुकूल भङ्गीभणिति (सहृदयहृदयाह्लाद-कारीकथन) को कविव्यापार कहा गया है। आचार्य कुन्तक का मत है कवियों का काव्यकरणस्वरूप व्यापार कविव्यापार कहलाता है। उसकी वक्रता अर्थात् (लोक अथवा शास्त्रादि में) प्रसिद्ध स्थान से भिन्न वैचित्र्य से युक्त वक्रभाव के छः प्रकार अर्थात् प्रभेद सम्भव होते हैं अर्थात् रूप से उतने (छः भेद) ही सम्भव होते हैं। उनमें से हर एक भेद के बहुत प्रकार अर्थात् भेद विशेष सम्भव होते हैं। कैसे भेद विशेष-सम्भव होते हैं? विच्छित्त से शोभित होने वाले अर्थात् विचित्रता से युक्त चमत्कारपूर्ण भङ्गिमा से कान्तिमान भेद विशेष सम्भव होते हैं (इस क्रिया का वाक्य के साथ सम्बन्ध है)।[1]

कविव्यापार वक्रता के सन्दर्भ में आचार्य कुन्तक का कथन है-

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद्धृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्।।
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम्।।
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
बिना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्।।
यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते।[2]

कुन्तक का मत है अर्थ का पर्यालोचन किये बिना भी (अर्थात् बिना अर्थ को समझे हुए ही) वाक्य के विन्यास की सौन्दर्य रूप सम्पत्ति के द्वारा जो गीत के सदृश सहृदयों के हृदय को आह्लादित तथा वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) से अतिरिक्त व्यङ्ग्यरूप रसादि के द्वारा गुड-मरिचादि से रसास्वाद के आनन्द को प्रदान करता है। तथा जैसे प्राण के बिना शरीर तथा स्पन्द के बिना प्राण

---

1. कवीनां व्यापारः कविव्यापारः काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यं तस्य प्रकाराः प्रभेदाः षट् सम्भवन्ति। मुख्यतया तावन्त एवं सम्भवन्तीत्यर्थः। तेषां प्रत्येकं प्रकाराः वहवो भेदविशेषाः। कीदृशाः- विच्छित्तिशोभिनः वैचित्र्यभङ्गीभ्राजिष्णवः। सम्भवन्तीति सम्बन्धः। वक्रोक्तिजीवितम्-प्रथम उन्मेष
2. वही- प्रथम उन्मेष- कारिकाएँ- 37-40 पर वृत्ति

निष्प्राण हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस तत्त्व के बिना विद्वानों के वाक्य निष्प्राण (सहृदयाह्लादकारिता से हीन) हो जाते हैं। एवं जिस (तत्त्व) से केवल काव्यतत्त्व को जानने वाले (सहृदयों) द्वारा ज्ञातव्य किसी (अपूर्व अलौकिक) रमणीयता की सरस्वती (कविवाणी) प्राप्त हो जाती है, उस कविव्यापार की वक्रता का विवेचन करता हूँ।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने कविव्यापार के महत्त्व को निर्धारित करते हुए उसके छः भेद बतलाये हैं। उनका कथन है-

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।
प्रत्येकं वहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः।।
वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः।।[1]

काव्यरचना रूप कवियों के व्यापार के मुख्य रूप से छः भेद सम्भव होते हैं। उन छः प्रकारों में से प्रत्येक (प्रकार) के (रचना के) वैचित्र्य की भङ्गिमा से सुशोभित होने वाले बहुत से भेद हो सकते हैं। परन्तु मुख्य छः ही भेद बतलाये हैं- (1) वर्णविन्यासवक्रता (2) पदपूर्वार्द्धवक्रता-रूढ़ि वैचित्र्य से इसके 8 अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। (3) प्रत्ययाश्रितवक्रता-कारक एवं पुरुष वैचित्र्य से इसके 3 अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। (4) वाक्यवक्रता (5) प्रकरणवक्रता और (6) प्रबन्धवक्रता। इस प्रकार कुन्तक ने कविव्यापार की वक्रता को अवान्तर भेदों सहित सोदाहरण निरूपित किया है। विस्तार के साथ यह प्रकरण तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। आचार्य राजशेखर का कथन है -

वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्त्रः।
आशु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते।।
रीतिरूपंवाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति।।[2]

राजशेखर का मत है उपर्युक्त तीनों रीतियों में साक्षात् सरस्वती निवास करती हुई सी प्रतीत होती हैं। इन तीनों रीतियों वाले वाक्यों को काकु (भङ्गीभणिति) अनेक प्रकार का बना देती है।

---

1. वक्रोक्तिजीवितम्-प्रथम उन्मेष- मूल कारिकाएँ - 18-19
2. काव्यमीमांसा-सप्तम अध्याय-पृ०-75

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी का कथन है- **अलम्भावमाधातुं कविना सम्पाद्यमाना प्रक्रिया कवि व्यापारः। स च चतुर्धा-वृत्ति-रीति-मार्ग-रस भेदात्। तत्र नियतवर्णगतो व्यापारो वृत्तिः। पदविशेषगतो व्यापारो रीतिः। अर्थविषयको व्यापारो मार्गः। आस्वाद विषयको व्यापारो रसः।**[1] प्रो० त्रिपाठी की दृष्टि में अलम्भाव (पूर्णता) के आधान के लिए कवि द्वारा सम्पाद्यमान प्रक्रिया कविव्यापार है। वह वृत्ति, रीति, मार्ग और रस के भेद से चार प्रकार का है। नियत वर्णगत व्यापार वृत्ति, पदविशेषगत व्यापार रीति, अर्थविषयक व्यापार मार्ग तथा आस्वाद विषयक व्यापार रस है। रीति, वृत्ति आदि के स्वरूप का विवेचन प्रबन्ध के अग्रिम षष्ठ अध्याय में किया जायेगा।

प्रो० त्रिपाठी ने प्राक्तन् रीतियों के अतिरिक्त चार प्रकार की नवीन रीतियों का विधान किया है। ये हैं- **विश्लिष्य कथनं व्यासरीतिः। अनुकृत्याभासेन विडम्बनरीतिः। मनोवृत्ति निरूपणेन चेतनाप्रवाहरीतिः। पाठकं प्रति सम्बोधनेन वार्तालापरीतिः।**[2] विश्लिष्य कथन व्यास रीति, अनुकृत्याभास विडम्बन रीति, मनोवृत्ति निरूपण चेतना प्रवाह रीति तथा पाठक के प्रति सम्बोधन वार्तालाप रीति है।

प्रो० त्रिपाठी का मत है- **सामासाभावो विश्लिष्य कथनं चास्य रीतेर्लक्षणम्।** व्यासरीति का लक्षण है- समास रहित विश्लेषणात्मक कथन। इस रीति का प्रयोग विशेषतः गद्यात्मक साहित्य यथा-ललितनिबन्ध, यात्रावृत्त एवं कथा आदि में अद्यतन संस्कृत-साहित्य में आचार्यों द्वारा किया जा रहा है। व्यासरीति-वचोविन्यास निपुण कवियों की कृतियों में कहीं-कहीं अभिनवविच्छित्ति (शृंगार प्रिय भावभङ्गिमा) को प्रकट करती है। प्रो० त्रिपाठी ने अर्वाचीन कवि कलानाथ शास्त्री की कथा आवाहनम् को इस रीति से युक्त बतलाकर उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है तथा इसमें सभी गुणों और रसों का समावेश बतलाया है।

वस्तुतः अनुकरण नहीं, अनुकृति का आभास विडम्बन रीति है। यह रीति हास्यास्पद भाव का प्रकटीकरण करती है। अर्वाचीन रचनाओं में

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-द्वितीय अध्याय
2. वही-पृ०-49

महामहोपाध्याय रामावतारशर्मा कृत मुद्गरदूतम् इसका उत्तम उदाहरण है। इसके अतिरिक्त बसन्त त्र्यम्बक शेवडे कृत गर्दभाख्यान, पं० बच्चू लाल अवस्थी कृत उलूकलपितम् तथा श्येनउवाच और दीनानाथ त्रिवेदी कृत गर्दभगर्वोक्तयः आदि काव्य इस रीति के उदाहरण हैं।

मनोवृत्ति निरूपण चेतना-प्रवाह रीति है। पाश्चात्य साहित्य में इस रीति को "Stream of Consciousness" कहा जाता है। आंग्लभाषा के कथाकारों में यूलिसिस उपन्यास के प्रणेता जेम्सज्वाईस तथा कथाकर्त्री वर्जीनियावुल्फ इस रीति के प्रयोक्ताओं में अग्रगण्य हैं। इस रोति में नृत्यप्रायजनित श्लेष, पृथक्पदत्व रूप माधुर्य, आरोहावरोहक्रम रूप समाधि और पद सौकुमार्य आदि गुण सविशेष उन्मेषित होते हैं। वर्तमान संस्कृत-साहित्य में कथाकार केशवचन्द्रदाश, इस रीति के प्रमुख प्रयोक्ता हैं। कनीयसी कथा के प्रणेता हरिररविन्द ने भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग किया है।

पाठक के प्रति सम्बोधन वार्तालाप रीति है। अर्वाचीन रचनाओं में 'प्रिय पाठक!', इस प्रकार का सम्बोधन कर, जो रचनाकार अपनी रचनाओं में पाठक के परोक्ष होते हुए भी, उनको प्रत्यक्षवत् परिकल्पित कर सम्बोधित कर रहे हैं, वे इस रीति के प्रयोक्ता हैं। इस रीति का प्रयोग ललित-निबन्धों में यत्र-तत्र हो रहा है। प्रो० राजेन्द्र मिश्र की कथाओं में विशेषतः यह दर्शनीय है।[1] इस प्रकार प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने उपर्युक्त विवेचित चार प्रकार की नवीन रीतियों का कथन कर काव्यशास्त्रीय परम्परा का विस्तार किया है। प्रो० त्रिपाठी ने अर्वाचीन काव्यरचनाकारों की रचनाओं में इन रीतियों का अनुसन्धान कर प्रवर्तन किया है। इन नवीन रीतियों की उद्भावना के साथ प्रो० त्रिपाठी ने इन रीतियों का प्रयोग किन काव्यरचनाकारों ने अपनी किन कृतियों में किया है, इसको भी उदाहृत किया है। निश्चयेन ही इन नवीन रीतियों की सङ्कल्पना अर्वाचीन काव्यशास्त्र में विद्वान् आचार्य का मौलिक सत्प्रयास है।

कवि द्वारा प्रयुक्त वृत्ति-कैशिकी, सात्त्वती, भारती तथा आरभटी (नाट्य), उपनागरिका, परुषा,-(ग्राम्या)-कोमला-(काव्य), रीति-(गौडी, वैदर्भी,

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-द्वितीय अध्याय

पाञ्चाली तथा लाटी आदि), मार्ग- (अर्थविषयक व्यापार) तथा रस-(आस्वाद विषयक व्यापार) इत्यादि को काव्यमर्मज्ञों ने कवि व्यापार बतलाया है। इनके उचित प्रयोग द्वारा कवि को सरस (रसानुकूल) काव्य की रचना करनी चाहिए। क्योंकि रसपूर्ण काव्यरचना से ही कवि ख्याति प्राप्त करता है तथा रसज्ञ (सहृदय) उसकी कविता से आनन्दानुभूति करते हैं। सत्कवियों के व्यापार के विषय में ध्वनिकार का कथन है-

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः।।
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः।।
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याजा नीतिरेषा मनीषिणा।
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः।।[1]

आनन्दवर्धन का मत है सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं, उनके निबन्धन में उन्हें सदैव प्रमाद-रहित (जागरूक) रहना चाहिए। क्योंकि कवि का जो नीरस काव्य है वह (उसके लिए) महान् अपशब्द है। उस नीरस काव्य से वह कवि ही नहीं रहता। कवि रूप में कोई उसका नाम भी याद नहीं करता। स्वच्छन्द रचना करने वाले जो पूर्वकवि प्रसिद्ध हो गये हैं, उनके उदाहरणों को लेकर बुद्धिमान नवकवि को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिए। क्योंकि वाल्मीकि, व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं, उनके अभिप्राय के विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नहीं की है।

2. सहृदय

साहित्यशास्त्र में काव्य का जितना व्याख्यान हुआ, उसके प्रमाण के रूप में काव्यतत्त्वज्ञों ने सहृदयों को ही उपस्थापित किया है। यद्यपि कवि की भाँति सहृदय के सम्बन्ध में साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने विस्तार के साथ नहीं लिखा

1. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-19 की वृत्ति की कारिकाएँ

है तथापि यत्र-तत्र सूत्र रूप में कुछ न कुछ उनके सन्दर्भ में भी लिखा है। समस्त सूत्रों का सङ्कलन कर पं० विद्यानिवास मिश्र ने सहृदय पर "सहृदय" नामक पुस्तक की रचना की है जो साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित है।

जिस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से काव्यरचना में अर्थगाम्भीर्य की स्थापना कर काव्य को जीवन्त बना देता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपनी प्रतिभा के द्वारा उस काव्य के गूढ़-अर्थगाम्भीर्य को सम्यग्रूपेण अवगत करने में समर्थ होता है। यदि कवि काव्यनिर्माता है तो सहृदय उस काव्य का तत्त्वार्थदर्शी है। वह राजशेखर के आलोचक की भाँति कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा से युक्त होता है। कवि और सहृदय दोनों का काव्य से अभिन्न सम्बन्ध होता है। दोनों काव्यार्थ-तत्त्वदर्शी होते हैं, परस्पर सापेक्ष होते हैं। इसका प्रमाण किसी अज्ञात कवि के प्रस्तुत पद्य में द्रष्टव्य है-

इतरतापशतानि वितरितानि सहे चतुरानन्।

अरसिकेषु कवित्व निवेदनं सिरसि मा लिख् मा लिख् मा लिख्।।

जिस प्रकार रमणी का कटाक्ष, उसकी हृदयाकर्षक मुस्कान एवं उसका सलज्ज चाञ्चल्य प्रज्ञाचक्षु के समक्ष व्यर्थ है तथा रमणियों का रतिजन्य सीत्कार बधिर प्रियतम के समक्ष व्यर्थ है, उसी प्रकार अरसिक (असहृदय) व्यक्ति के सम्मुख कविता रूपी नायिका का समस्त सौन्दर्यात्मक रति-रसायन व्यर्थ ही है। क्योंकि उसका आस्वादयिता तो केवल सहृदय ही हो सकता है, जिसे शास्त्रकारों ने (भली-भाँति)- सम्यक् रूपेण अर्थ के ज्ञाता (काव्यतत्त्वज्ञ) के रूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य भरतमुनि का प्रेक्षक के सन्दर्भ में कथन है-

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।।[1]

मृदुललित पदार्थ, गूढशब्दार्थ हीन, विपश्चितों के सुख-योग्य, बुद्धिमानों

1. ना० शा०-अध्याय-17-कारिका-123

के नृत्त योग्य, अनेक रसों तथा सन्धियों से युक्त नाटक प्रेक्षकों (सहृदयों) के योग्य होता है। पुनः नाट्यशास्त्र के 27वें अध्याय में भरतमुनि ने प्रेक्षकों के गुणों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनका कथन है-

चरित्राभिजनोपेताः शान्तिवृत्तश्रुतान्विताः।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विताः।।
षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः समाः।
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः।।
देशभाषाविधानज्ञाः कलाशिल्प विचक्षणाः।
चतुराभिनयज्ञाश्च सूक्ष्मता रसभावयोः।।
शब्दच्छन्दोविधानज्ञाः नानाशास्त्रविचक्षणाः।
एवं विधास्तु कर्त्तव्याः प्रेक्षका नाट्यदर्शने।।
अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोहविशारदः।
व्यक्तदोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः।।
यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः।।[1]

इस प्रकार प्रेक्षक के लक्षण, उनकी गुणज्ञता का निर्धारण कर उनके ज्ञान, कर्म तथा विषयाश्रय (अपने-अपने विषय के प्रति विशेष रुचि रखने के कारण) से उनके भेद का कथन करते हुए पुनश्च भरत मुनि ने कहा है-

न चैते गुणाः सर्वे एकस्मिन् प्रेक्षके स्मृताः।
तस्माद्बहुत्वात् ज्ञानानामल्पत्वादायुषस्तथा।।
उत्तमाधममध्यानां सङ्कीर्णायां तु संसदि।
न शक्यमधमैर्ज्ञातुमुत्तमानां विचेष्टितम्।।
यद्यस्य शिल्पं नेपथ्यं कर्म वाक् चेष्टितं तथा।
तस्य तेनैव तत् साध्यं स्वकमविषयाश्रयम्।।
उत्तमाधममध्यानां बृद्धबालकयोषिताम्।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।।

---

1. नाट्यशास्त्र-अध्याय-27-कारिका-50-55

अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।।
शूरा वीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः।।
बाला मूर्खास्त्रियश्चैव हास्यनैपथ्ययोः सदा।
एवं भावानुकरणैर्यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः।।
प्रेक्षकस्तु स मन्तव्यो गुणैरेतैरलंकृतः।।[1]

इस प्रकार भरतमुनि ने प्रेक्षक को सर्वगुण सम्पन्न बतलाया है। उनका मत है कि अवस्था, (आयु) के वैशिष्ट्य से प्रेक्षक अपने-अपने अनुरूप विषय-विशेष में रुचि रखने वाले होते हैं। ध्वनिकार का कथन है-

वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः।
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा।।[2]

जौहरी रत्नों के तत्त्व को समझते हैं और सहृदय काव्य के रसज्ञ होते हैं। सहृदय के सन्दर्भ में ध्वन्यालोक ग्रन्थ पर लोचन टीका लिखने वाले अभिनवगुप्त का कथन है-

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदय संवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम्-

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।।[3]

जिनका हृदय-दर्पण काव्य के गहन अनुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है तथा उस हृदय-दर्पण में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की क्षमता आ गयी है, वे ही काव्यार्थ के साथ अपने हृदय का संवाद स्थापित करने वाले सहृदय हैं। जैसा कि कहा गया है- हृदय से हृदय मिलाने वाला जो अर्थ होता है, उसी का भाव रस का उन्मीलक होता है, जैसे-सूखे काष्ठ में

---

1. नाट्यशास्त्र-अध्याय-27-कारिका-56-62
2. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-48 की वृत्ति
3. ध्वन्यालोकलोचन-उद्धृत सहृदय पृ०-47-परिशिष्ट भाग

जरा-सी आग रख दें तो वह धधक् उठती है, वैसे-अर्थ में रस के प्रकाश की तैयारी रहती है। इसी रसगर्भित अर्थ को आनन्दवर्धन ने वाच्य तथा प्रतीयमान रूप से दो भेदों वाला बतलाया है। यही सहृदयश्लाघ्य अर्थ है। इसी में सहृदयहृदय विश्रान्ति अनुभूत करता है।

पं० विद्यानिवास मिश्र का कथन है- सरस्वती वस्तुतः सहृदय व्यापार की ही देवता है। यह सरस्वती जातीय संवेदना है, जातीय स्मृति है, जातीय प्रज्ञा है, जातीय चिति है, जातीय जीवन निष्ठा है, और जातीय श्रद्धा है। इस श्रद्धा का हो जाना ही सहृदयता है। श्रद् और हृद एक ही शब्द के दो रूप हैं और इसका स्थान मन चित्त दोनों से ऊपर है, मन में जो राग-द्वेष रहते हैं, पहले उनका साधारणीकरण होता है, चित्त में जो समझदारी रहती है, फिर उसका साधारणीकरण होता है, इसके अनन्तर अपने आप एक ऐसे विग्लन की तैयारी हो जाती है कि कुछ अभ्यास नहीं करना पड़ता, द्रुति में अपने आप प्रवाह होता है।[1]

हृदय का व्यापार तो यह द्रुति ही मुख्य रूप से है, पर द्रुति तभी होती है, जब अभितप्त अवस्था पहले आ जाय। मानस-व्यापार और चैतस-व्यापार से क्रमशः स्मृति की सघनता और ध्यान की तीव्र दाहकता और प्रकाशकता से हृदय के द्रवण की भूमिका बनती है। जो सहृदय होता है, उसके भीतर सघन स्मृति होती है, उसमें ध्यान-योग होता है, धी होती है, रचयित्री और भावयित्री प्रतिभा का तीक्ष्ण प्रकाश होता है, उस प्रकाश में सृष्टि धुलकर नवोन्मीलित हो जाती है।

सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है, लोक के बीच रहते हुए, लोक का सुख-दुख झेलते हुए, पर समस्त उस झेलने में लोकमात्र को समाविष्ट करते हुए एक ऐसे लोक के नागरिक होने के लिए, जिसमें किसी भी लौकिक विषय की विस्मृति नहीं होती, किसी से संसर्ग नहीं छूटता, उल्टे संसर्ग कुछ अधिक गहरा हो जाता है, जो अपना मित्र नहीं, बन्धु नहीं, सम्बन्धी नहीं, अपना समकालीन नहीं, अपना कुटुम्बी नहीं, जो इतिहास क्रम में अपना कोई पुरुष

---

1. सहृदय-द्वितीय व्याख्यान-पृ०--29-30

नहीं, उसके सुख-दुःख के साथ संसर्ग ऐसा गहरा हो जाता है कि अपना सुख-दुःख विस्मृत हो जाता है, छोटा पड़ जाता है।[1] यथा कालिदास के रघुवंश के अधोलिखित पद्य में तन्मयीभवन योग्यता का उत्तम निरूपण किया गया है-

नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेपि।।[2]

अर्थात् मयूरों ने नृत्य करना छोड़ दिया, वृक्षों ने कुसुमों को झहरा दिया, हरिणी ने मुँह में ली हुई घास गिरा दी। सीता के दुःख में दुखी होकर जङ्गल फूट-फूटकर रो पड़ा। सीता निर्वासन के प्रस्तुत प्रसङ्ग को पढ़ते समय जिसका हृदय सीता की करुण स्थिति से आविद्ध कवि के हृदय के साथ है, जिसका हृदय लौकिक प्रत्यक्ष में अनुपस्थित, पर काव्यपारायण से उद्भूत कल्पना में जीते-जागते रूप में उपस्थित सीता के साथ है, वे सहृदय हैं।

पं० विद्यानिवास मिश्र ने साहित्य अकादमी, दिल्ली की वार्षिक व्याख्यान माला में 18 एवं 19 फरवरी सन् 1993 ई० में 'सहृदय' विषय पर व्याख्यान दिया था, जो पुस्तकाकार रूप में साहित्य अकादमी, दिल्ली से ही सन् 1994 ई० में प्रकाशित है। 'सहृदय' पर विस्तृत जानकारी तद्ग्रन्थ में ही दर्शनीय है। विस्तार भय से इसके प्रस्तुत अंश को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। सहृदय भी काव्यमर्मज्ञ होता है, क्योंकि कवियों द्वारा विरचित व्यञ्जनागर्भ काव्य के रसास्वादयिता सुकुमार मति वाले वही (सहृदय) ही हो सकते हैं और कोई नहीं। सहृदय के लक्षण एवं उनकी कोटियों का निर्धारण आचार्य भरतमुनि तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने बतला दिया है। अतः इस विषय में कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। प्राचीन परम्परा के प्रायः समस्त आचार्यों ने सहृदय की चर्चा तो अपने ग्रन्थों में की है, परन्तु उनके लक्षण (गुण) का निर्धारण कतिपय आचार्यों ने ही किया है। प्राचीन परम्परा के इन आचार्यों के अतिरिक्त वर्तमान (20वीं शताब्दी) की परम्परा के भी किसी आचार्य ने सहृदय पर

1. सहृदय-द्वितीय व्याख्यान-पृ०-29-30
2. रघुवंशम्-उद्धृत-सहृदय-पृ०-30 से।

चर्चा नहीं प्रस्तुत की है। प्राचीन परम्परा से रूढ़ सहृदय इस वर्तमान सदी की (अर्वाचीन) परम्परा में उसी रूप में काव्य का आस्वादयिता तथा कवियों की ही भाँति काव्यमर्मज्ञ के रूप में अर्वाचीन आचार्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। सम्भवतः यही कारण हो सकता है कि आचार्यों ने काव्यतत्त्वज्ञ सहृदय पर चर्चा अथवा उसके लक्षणादि का निर्धारण नहीं किया है। आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में केवल पं० विद्यानिवास मिश्र ने सहृदय पर चर्चा की है। अतः उनके ही मत को यहाँ उद्धृत किया गया है।

षष्ठ अध्याय

रीति-वृत्ति, प्रवृत्ति, गुणालङ्कार तथा दोष विवेचन

रीति- काव्य में रीति का प्रयोग प्रारम्भिक समय में भौगोलिक विशेषताओं के कारण प्रदेश विशेष की शैली या मार्ग के रूप में प्रवर्तित हुआ था, परन्तु कालान्तर में शैली (मार्ग) प्रदेश विशेष से सम्बन्धित न रहकर कवि की प्रवृत्तियों से सम्बिन्धित हो गई। प्राक्तन् आचार्यों का मत है कि विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले आचार्य अपने प्रदेशीय शैली में काव्यरचना किया करते थे, जिसके कारण ये शैलियाँ (मार्ग) प्रदेश विशेष के नाम से प्रसिद्ध हो गईं। यथा-गौड प्रदेश में रहने वाले आचार्य समास-बहुल गौडी शैली में, विदर्भ में रहने वाले समास रहित वैदर्भी तथा पाञ्चाल में रहने वाले अल्प-समास युक्त पाञ्चाली शैली में काव्यरचना किया करते थे।

राजशेखर का कथन है- रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः।[1] सुवर्णनाभ नामक आचार्य रीतिविषयक ग्रन्थ के प्रथम प्रणयनकर्त्ता हैं, परन्तु उनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। आचार्य भामह और दण्डी ने रीति के लिए रीति पद का प्रयोग न कर मार्ग पद का प्रयोग किया है। भामह ने काव्यभेद के रूप में वैदर्भ और गौड मार्ग को स्वीकृत किया है, रीति रूप में नहीं। भामह का कथन है- इन मार्गों से काव्य का आन्तरिक तथा तात्त्विक वैशिष्ट्य व्यक्त नहीं हो सकता, अतः ये उपक्षेणीय हैं।[2] भामहाचार्य के अनन्तर दण्डी ने भी रीति के लिए मार्ग पद का

---

1. काव्यमीमांसा - प्रथम अध्याय - पृ०-3
2. काव्यालङ्कार-प्रथम परिच्छेद - कारिका- 31-36

प्रयोग किया तथा वैदर्भ और गौड मार्ग का गुणों के आधार पर विवेचन किया है। दण्डी के अनुसार सूक्ष्म-भेद के कारण काव्यरचना के मार्ग अनन्त हैं-

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।।[1]

परन्तु मुख्य मार्ग दो हैं, जिनके भेदों की गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्येक कवि का अलग-अलग मार्ग होता है-

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः।।[2]

उसी प्रकार जिस प्रकार- इक्षु, क्षीर तथा गुड़ादि के माधुर्य में महान् अन्तर होता है, जिसका आख्यान सरस्वती भी नहीं कर सकती-

इक्षुक्षीरगुड़ादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते।।[3]

आचार्य दण्डी ने इन दोनों मार्गों के भौगोलिक महत्त्व का भी वर्णन किया है। काव्यरचना के इन दोनों मार्गों का भरत द्वारा बतलाये गये 10 गुणों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर इन्हें वैदर्भ मार्ग का प्राण तथा गौड में इनका विपर्यय बतलाया है-

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।।[4]

आचार्य वामन ने रीतितत्त्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर उसे काव्यात्मा के रूप में प्रतिपादित किया । उनका कथन है- **विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।**[5] वामन के मतानुसार विशिष्ट पदरचना रीति है और पदरचना

1. काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद-कारिका-40
2. काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद-कारिका-101
3. काव्यादर्श - प्रथम परिच्छेद-कारिका-102
4. वही-कारिका-41-42
5. काव्यालङ्कारसूत्र - द्वितीय अध्याय-सूत्र-7-8

का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता है। वह रीति तीन प्रकार की है- (i) वैदर्भी (ii) गौडी और (iii) पाञ्चाली।

(i) वैदर्भी- समग्रगुणा वैदर्भी- ओज प्रसाद आदि सभी गुणों से युक्त वैदर्भी है- इसका परिकर श्लोक इस प्रकार है-

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते।।[1]

(ii) गौडी- ओजः कान्तिमती गौडीया- ओज तथा कान्ति गुणों से युक्त रीति गौडी कहलाती है। इसका परिकर श्लोक इस प्रकार है-

समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।[2]

(iii) पाञ्चाली- माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली- माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त रीति का नाम पाञ्चाली है। इससे सम्बन्धित परिकर श्लोक इस प्रकार है-

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चाली कवयो विदुः।।[3]

इस प्रकार वामन ने पदों की सङ्घटना में गुणों का वैशिष्ट्य स्थापित कर रीति-तत्त्व की व्याख्या की तथा इन तीनों रीतियों में वैदर्भी को श्रेष्ठ(ग्राह्य)और अन्य दोनों को अग्राह्य बतलाया है। आचार्य रुद्रट काव्यशास्त्रीय प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने रीतितत्त्व को भौगोलिक बन्धनों से मुक्त कर काव्य व्यवहार की परम्परा से संयोजित किया। इन्होंने वामन की वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक तीन रीतियों में चौथी रीति लाटी को भी संयुक्त किया। रुद्रट ने रसौचित्यानुसार रीतियों का संयोजन भी किया ।[4]

आचार्य राजशेखर का मत है- वचनविन्यासक्रमोरीतिः।[5] वचन विन्यास

---

1. काव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अध्याय-सूत्र-11 तथा व्याख्या
2. काव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अध्याय-कारिका-12 तथा व्याख्या
3. वही-द्वितीय अध्याय-सूत्र-13 तथा व्याख्या
4. काव्यालङ्कार-द्वितीय अध्याय-कारिका- 3-6 तथा 18-31
5. काव्यमीमांसा-तृतीय अध्याय- पृ०-22

क्रम रीति है। इन्होंने रीतियों का विवेचन आलङ्कारिक रूप से किया तथा उनके साथ वृत्तियों और प्रवृत्तियों का भी सम्बन्ध स्थापित किया है। आचार्य भोज ने छः रीतियाँ स्वीकार की हैं। उनका कथन है-

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।।
वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते।।[1]

(i) वैदर्भी - तत्रासमासा निःशेषश्लेषादि गुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरीष्यते।।[2]

समास रहित, श्लेषादि सम्पूर्ण गुणों से समन्वित तथा वीणा की ध्वनि की भाँति श्रुतसुखद रीति वैदर्भी कही जाती है।

(ii) पाञ्चाली -समस्तपञ्चषपदामोजः कान्तिविवर्जितम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालां कवयो विदुः।।[3]

जिस पद सङ्घटना में पाँच-छः पदों का समास हुआ हो,जो ओज तथा कान्ति गुणों से विशेष रूप से हीन हो, किन्तु मधुर एवं कोमल हो, उसे कवि लोग पाञ्चाली के नाम से जानते हैं।

(iii) गौडीया- समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः।।[4]

अत्यधिक आडम्बरबद्ध पदों का जिसमें समास हो तथा कान्ति नामक गुण विशेष रूप से विद्यमान हो, उस रीति को रीतिज्ञ लोग गौडीया के नाम से जानते हैं।

(iv) आवन्तिका - अन्तराले तु पाञ्चालीवैदर्भ्योर्यावतिष्ठते।
सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।।[5]

---

1. सरस्वतीकण्ठाभरण-द्वितीय परिच्छेद-कारिका-27-28
2. वही-कारिका-29
3. काव्यालङ्कार - द्वितीय अध्याय-कारिका- 30
4. सरस्वतीकण्ठाभरण-द्वितीय परिच्छेद-कारिका- 31
5. वही-कारिका-32

पाञ्चाली तथा वैदर्भी रीतियों के मध्य जो अवस्थित रहती है तथा जो दो या तीन पदों के समास से युक्त होती है, वह आवन्तिका रीति है।

(v)-(vi) लाटीया तथा मागधी-

समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरुच्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी।।[1]

जिसमें प्रायः समस्त रीतियाँ सम्मिश्रित रहती हैं, वह लाटीया रीति कही जाती है। पहले प्रारम्भ की गई रीति का निर्वाह न करने से जब वह रीति खण्डित हो जाती है और दूसरी रीति का ग्रहण किया जाता है तब मागधी रीति कहलाती है।

आचार्य कुन्तक ने रीति पद का प्रयोग न करके मार्ग पद का प्रयोग किया है, उनका कथन है-

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।[2]

इस प्रकार कुन्तक ने वैदर्भी रीति को सुकुमारमार्ग, गौडी को विचित्रमार्ग तथा पाञ्चाली को मध्यममार्ग नाम दिया है। उनका मत है कि इन मार्गों का भौगोलिक महत्त्व नहीं है, अपितु ये कवि के आन्तरिक गुणों एवं स्वभाव की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। मार्ग का सम्बन्ध कविस्वभाव से है। कविस्वभाव के अनन्त होने से मार्ग अनन्त हो सकते हैं, परन्तु इनको तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुन्तक ने कालिदासादि को सुकुमारमार्ग का, मातृगुप्त आदि को मध्यममार्ग का तथा बाणभट्ट, भवभूति आदि को विचित्रमार्ग का साधक कवि बतलाया है।

शारदातनय ने वचनविन्यासक्रम को रीति का आधार माना है। उन्होंने प्राचीन चार रीतियों-वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी के अतिरिक्त अन्य दो रीतियों- सौराष्ट्री और द्राविडी का भी विवेचन किया है। उनका कथन है-

---

1. सरस्वतीकण्ठाभरण-द्वितीय परिच्छेद-कारिका-33
2. वक्रोक्तिजीवित-प्रथमोन्मेष-कारिका-24 तथा वृत्ति

बुद्धयारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते।
रीतिर्वचन विन्यासक्रमः सापि चतुर्विधा।।
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः।
सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम्।।
तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक्।
समाससौकुमार्यादितारतम्यात्क्वचित्क्वचित्।।
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः।
तथा सौराष्ट्रिका भेदाद्द्राविडीभेदतोऽपि च।।
प्रतिवचनं प्रतिपुरुषंतदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात्संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा।।
तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः।
ग्रन्थविस्तरभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते।।
त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पदपङ्क्तयः।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती।।
तस्माच्चतुर्धा बोद्धव्या रीतिभेदप्रकल्पना।।[1]

रीतितत्त्व पर अन्य समस्त आलङ्कारिक आचार्यों की भाँति ध्वनिवादी आचार्यों ने भी विचार किया। उन्होंने पदसङ्घटना को रीति कहा और इसे काव्य का बाह्य तत्त्व प्रतिपादित किया। ध्वनिकार का कथन है-

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता।।[2]

असमास (वैदर्भी), समासेन मध्यमेन च भूषिता (पाञ्चाली) और दीर्घ समासा (गौडी) तीन ही सङ्घटना प्रकार (रीतियाँ) हैं और वे-

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।।[3]

---

1. भावप्रकाशन-प्रथम अधिकार-कारिका-84-90
2. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-5
3. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-6

माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके स्थित होती हुई रसों को अभिव्यक्त करती हैं तथा इनके नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य ही है।

आचार्य मम्मट का मत है – वर्णों का विशिष्ट विन्यास क्रम रीति है। उन्होंने रीति का समावेश वृत्यानुप्रास के अन्तर्गत किया है तथा उसके तीन भेद किये हैं- (i) उपनागरिका (ii) परुषा और (iii) कोमला। मम्मट का कथन है- इनको ही कुछ लोग वैदर्भी आदि रीतियाँ मान लेते हैं।[1] आचार्य विश्वनाथ का कथन है-

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्धा।।
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।।[2]

अङ्गों की रचना के समान पदों की सङ्घटना रीति है और यह रस का उपकार करती है। ये रीतियाँ चार हैं- (i) वैदर्भी (ii) गौडी (iii) पाञ्चाली और (iv) लाटी।

(i) वैदर्भी - माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।।[3]

माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्णों से अवृत्ति (समासरहित) वा अल्पवृत्ति (छोटे समास) से युक्त सुकुमारस्वरूप रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं।

(ii) गौडी - ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समास बहुला गौडी।।[4]

ओज गुणों को प्रकाशित करने वाले अक्षरों से उद्धत वर्णघटित रचना और प्रचुर समासों से युक्त रीति को गौडी कहते हैं।

---

1. केषाञ्चिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः।

काव्यप्रकाश- नवम उल्लास- सूत्र- 110

2. साहित्यदर्पण - नवम परिच्छेद-कारिका- 1
3. वही-कारिका-2
4. वही-कारिका-3

(iii) पाञ्चाली – वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता।।[1]

वैदर्भी और गौडी रीतियों के अवशिष्ट वर्णों से उपलक्षित, पाँच व छः पदों के समास से युक्त रीति पाञ्चाली मानी गई है।

(iv) लाटी– लाटी तु रीतिवैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता।
क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः।।[2]

वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य में रहने वाली दोनों के कुछ लक्षणों से युक्त रीति को लाटी कहते हैं। इनमें कहीं पर वक्ता आदि (वाच्य और प्रबन्ध) के औचित्य से लक्षण से विरुद्ध भी रचना आदि पर (वृत्ति और वर्ण) ये सब दृष्ट होते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट की भाँति उपनागरिकादि वृत्तियों एवं वैदर्भी आदि रीतियों में अभेद माना है। परन्तु उन्होंने अन्य रीतियों का विवेचन न करके केवल वैदर्भी का किया है तथा उसकी रचना में कवि को सावधान रहने का निर्देश दिया है।[3]

जिस प्रकार काव्यशास्त्र की प्रस्तुत पूर्ववर्ती परम्परा ने रीति-तत्त्व के विवेचन में अपने-अपने मतों का प्रस्तुतीकरण किया है, उसी प्रकार अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने भी रीतितत्व पर अपने-अपने मत अभिव्यक्त किये हैं। क्रमशः इनके मतों को उपस्थापित किया जा रहा है।

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रीति का चतुर्धा विवेचन किया है।[4] आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा के अनुसार ही रीति तत्त्व का विवेचन काव्यशोभाकर धर्म के रूप में किया है। उनका कथन-

---

1. साहित्यदर्पण – नवम परिच्छेद-कारिका-4
2. वही-कारिका-5
3. आस्याश्च निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्, अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात्। रसगङ्गाधर-प्रथम आनन
4. साहित्यमञ्जरी-गुण-रीति प्रकरण-पृ०-20

रीतियश्च गुणाः प्रोक्ताः काव्यशोभाकरा यतः।
ततस्तासां च तेषां च क्रियतेऽद्य निरूपणम्।।[1]

परम्परा सम्बन्ध से रसोत्कर्षजनक रीति और साक्षात् सम्बन्ध से रसोत्कर्ष जनक गुण होते हैं। रीति-भेद के सम्बन्ध में उनका कथन है-

तत्तद्रसोपकारिण्यः तत्तद्देशसमुद्भवाः।
भवन्ति रीतयो गौडी वैदर्भी लाटिका तथा।।
गौडीदीर्घसमासास्यादनुप्रासान्विता तथा।
अल्पवृत्तिस्तु वैदर्भी लाटिका मृदुभिः पदैः।।[2]

डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित ने आचार्य वामन के अनुसार रीतियों की सङ्ख्या तीन ही मानी है- (i) वैदर्भी (ii) गौडी और (iii) पाञ्चाली। उनका मत है कि वैदर्भी समग्रगुणोपेत होती है, गौडी ओज और कान्ति से निष्पाद्य होती है तथा पाञ्चाली माधुर्य और सौकुमार्य से।[3]

डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने भी परम्परा का अनुसरण करते हुए रीति पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। प्राक्तन् आचार्यों की अलङ्कारवादी एवं ध्वनिवादी परम्परा के जो भिन्न-भिन्न मत रीति के सन्दर्भ में रहे हैं। उनका इन्होंने समीक्षात्मक विवेचन किया है। परन्तु इनको कौन-कौन सी रीतियाँ अभीष्ट हैं; इसका इन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया है।[4] प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र में कविव्यापार निरूपण प्रसङ्ग में रीतियों का विवेचन करते हुए वैदर्भी आदि के अतिरिक्त चार प्रकार की नवीन रीतियों का उल्लेख किया है। ये रीतियाँ हैं- (i) व्यासरीति (ii) विडम्बनरीति (iii) चेतनाप्रवाह रीति तथा (iv) वार्तालाप रीति।[5] इनका विस्तृत विवेचन प्रबन्ध के पञ्चम् अध्याय में कविव्यापार निरूपण के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। अतः लक्षण एवं उदाहरण सहित ये वहीं पर द्रष्टव्य हैं।

---

1. साहित्यबिन्दु-चतुर्थ बिन्दु-कारिका-1
2. साहित्यबिन्दु-चतुर्थ बिन्दु-कारिका-2-3
3. काव्यतत्त्वविमर्श-पृ०-2
4. अभिनवकाव्यशास्त्र-सप्तम अध्याय-सूत्र-263-71
5. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-द्वितीय अध्याय

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने रीतितत्त्व का विवेचन परम्परानुसार ही प्रस्तुत किया है। वामन, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के मत को संग्रहीत करते हुए उनका कथन है-

रीतिं नैव गुणाद्भिन्नां वृत्तिं नाऽलंकृतेरपि।
मन्यते ध्वनिकारोऽसौ लोचनकृत्समर्थितः।।
एवं स्थितेऽपि पूर्वेषां मन्तव्यपरिशीलनम्।
वृत्तिरीतीतिहासार्थं युक्तियुक्तं प्रतीयते।।
स्थाने-स्थाने यथा काये विलसन्त्यस्थिसन्धयः।
संघटनाः पदानां तास्तद्वत्काव्येऽपि संस्थिताः।।
पदानां रचना कापि विशिष्टा यावलोक्यते।
काव्यात्मपदवीं रूढा सा रीतिरिति वामनः।।
गुणानुप्राणिता रीतिरङ्गीभूता कलेवरे।
साक्षाद्रसोपकर्त्रीयं गुणैरेव न संशयः।।[1]

पुनश्च रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उसकी ऐतिहासिकता का उल्लेख करते हुए प्रो० मिश्र कहते हैं-

सम्बन्धं रीतिगुणयोर्नित्यमेव हि मन्यते।
रीतिपक्षधरो विद्वान् सूत्रकर्त्ता स वामनः।।
आदौ देशाश्रिता रीतिस्तद्भाषारुचिपोषिणी।
पश्चात्कवेर्निसर्गस्य वहिर्व्यक्तिरभूदियम्।।
प्रवृत्त्यभिधया ख्याता मुनिना भरतेन या।
सैव मार्ग इति प्रोक्ता दण्डिभामहकुन्तकैः।।
प्रवृत्तयश्चतस्त्रः स्युरादौ तिस्त्रश्च रीतयः।
पश्चाच्चतस्त्रः षड्वापि द्वादशापि निरूपिताः।।
दीप्तत्वान्मसृणत्वाच्च मध्यमत्वाच्च वृत्तयः।
अनुप्रासस्य तास्तिस्त्रः प्रख्याता परुषादयः।।
परुषा परुषत्वे स्याल्लालित्ये ललिताभिधा।
मध्यमा मध्यमत्वेऽसौ कोमलापि समुच्यते।।[2]

---

1. अभिराजयशोभूषणम् - वपुस्तत्वोन्मेष- (द्वितीय खण्ड) - कारिका- 70-74
2. वही-(द्वितीय खण्ड)-कारिका-75-80

इस प्रकार प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों ने रीतितत्त्व के सम्बन्ध में अपने-अपने मतों को प्रस्तुत किया है। यद्यपि आचार्यों द्वारा रीति, मार्ग, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि को पर्यायभूत मानते हुए ध्वनिवादी परम्परा में इसे वृत्ति रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, तथापि काव्यशास्त्र के आरम्भिक समय में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न विवेचित किया गया है। आचार्य वामन ने रीति को गुणों से सम्बद्ध किया तथा कुन्तक ने इसे कविव्यापार के रूप में अङ्गीकृत किया है। वस्तुतः इनका काव्य से अभिन्न सम्बन्ध है। क्योंकि काव्य में कवि की भौगोलिक स्थिति एवं उसकी भाषा-शैली से उसकी प्रवृत्ति का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। क्रमशः इनके स्वरूप और इतिहास को प्रस्तुत किया जा रहा है।

वृत्ति- साहित्यशास्त्र में वृत्ति नाम से अनेक काव्यतत्त्वों का उल्लेख मिलता है। भरतमुनि सम्मत कैशिकी आदि नाट्यवृत्तियाँ और भट्टोद्भट एवं मम्मट सम्मत उपनागरिका आदि काव्यवृत्तियाँ हैं। इनमें शब्दव्यवहार में शब्दरचना की दृष्टि से उपनागरिकादि को और अर्थावबोधानुकूल व्यापार की दृष्टि से लक्षणा, व्यञ्जना तथा तात्पर्या आदि को वृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार काव्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं- (i) शब्दवृत्ति और (ii) अर्थवृत्ति। शब्द की उपनागरिकादि शब्दवृत्तियाँ तथा कैशिकी आदि अर्थवृत्तियाँ हैं।

आचार्य राजशेखर ने वृत्ति को परिभाषित करते हुए कहा है- विलास विन्यास क्रमो वृतिः[1] अर्थात् नृत्य गीतादि के विलास-विन्यास का नाम वृत्ति है। भरतमुनि का कथन है कि-भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं जो समस्त काव्यों की माताएँ हैं। इनके द्वारा ही दशरूपकों का अभिनय किया जाता है-

सर्वेषामेव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिस्सृता ह्यतद्दशरूपे प्रयोगतः।।[2]

---

1. काव्यमीमांसा - तृतीय अध्याय-पृ०-22
2. नाट्यशास्त्र-विंश अध्याय-कारिका-4

(i) भारती वृत्ति

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या,
स्त्री वर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।।[1]

पुरुषों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत-वाणी को भारती वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इनका प्रयोग स्वनामधेय भरतादि के द्वारा होने से इसका नाम भारती है।

(ii) सात्त्वती

या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता,
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा,
सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः।।[2]

जो सत्त्वगुण, न्याय-सम्पन्न वृत्त से युक्त तथा हर्ष से उत्कट एवं शोक रहित है। उसे सात्त्वती वृत्ति कहते हैं।

(iii) कैशिकी

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा,
स्त्रीसंयुता या बहुवृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा,
तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।[3]

जो मनोरञ्जक नेपथ्य से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीगण से व्याप्त तथा गीत, नृत्य से परिपूर्ण एवं जिसका उपचार कामसुखभोग का उत्पादक हो, वह कैशिकी वृत्ति कहलाती है।

1. नाट्यशास्त्र-द्वाविंश अध्याय-कारिका-25
2. वही-कारिका-38
3. वही-कारिका-47

(iv) आरभटी

प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति।।[1]

जिसमें प्रस्ताव पात, प्लुति, लङ्घन आदि चेष्टाएँ, माया, इन्द्रजाल तथा युद्ध वैचित्र्य प्रदर्शित किया जाता है, उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इन वृत्तियों की उत्पत्ति आचार्य भरतमुनि ने चारों वेदों से मानी है। उनका कथन है-

ऋग्वेदाद्भारती वृत्तिः यजुर्वेदात्तु सात्त्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा।।[2]

दशरूपककार धनञ्जय ने भी तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः[3] कहकर नायिकादि के व्यवहार को वृत्ति कहा है तथा नाट्यशास्त्र के अनुसार ही कैशिकी आदि चार प्रकार की वृत्तियों का विवेचन किया है।

आचार्य भोज ने भरत सम्मत इन चार वृत्तियों के अतिरिक्त पञ्चम "विमिश्रा" नामक वृत्ति का भी कथन किया है- **मुखादिसन्धिषु च व्याप्रियमाणानां नायकोपनायकादीनां मनोवाक्कायकर्म निबन्धना पञ्च वृत्तयो भवन्ति-भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्तवती, विमिश्रा चेति।**[4]

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन में उद्भट और भोज के मत को प्रकट करते हुए चतुर्धा वृत्ति का विवेचन किया है। उनका कथन है-

---

1. नाट्यशास्त्र-द्वाविंश अध्याय-कारिका-57
2. वही-कारिका-24
3. दशरूपक-द्वितीय प्रकाश-कारिका-47
4. शृङ्गारप्रकाश-द्वादश प्रकाश-द्रष्टव्य-Bhoja's Sringara Prakash by- Dr. V. Raghvan, Madras-Edition-1963, pp. 195.96 (उद्धृत-भावप्रकाशन-सम्पादक-प्रो० मदन मोहन अग्रवाल द्वि०सं०-1938-टिप्पणी भाग-प्रथम अधिकार-पृ०-474)

वृत्तिश्चतुर्विधा ऋग्यजुस्सामाथर्वसम्भवा।।
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च।
औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते।
अर्थवृत्तेरभावात्तु विश्रान्तां पञ्चमीं परे।।[1]

नाट्यशास्त्र (अध्याय-22) में वर्णित कथा के आधार पर वृत्ति की ऐतिहासिकता का रहस्योद्घाटन करते हुए पुनश्च शारदातनय का कथन है-

मधुकैटभासुराभ्यां नियुद्धमार्गेण युध्यतो विष्णोः।।
वृत्तित्रयं प्रसूतं भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे।
अपरे तु नाट्यदर्शन समये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः।।
शृङ्गारादिचतुष्टयसहिता वृत्तीः समाचख्युः।
दाक्षिणात्या तथाऽऽवन्त्या पौरस्त्या चौद्रमागधी।।
प्रवृत्तयश्चतस्त्रोऽपि वागारम्भाः स्युरेकदा।
तद्व्यापारात्मिकाः प्रोक्ता वृत्तयश्च चतुर्विधाः।।
वाचिकं सात्विकं नृत्तमाहार्यं च तथाङ्गिकम्।
यथाक्रमं नियमितं भारत्याद्यासु वृत्तिषु।।[2]

इन समस्त वृत्तियों का प्रयोग किन-किन रसों के निमित्त होता है। इसको बतलाते हुए शारदातनय कहते हैं-

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।।[3]

इन वृत्तियों को अर्थवृत्ति कहा गया है। इनके अतिरिक्त काव्य में शब्दवृत्तियाँ भी होती हैं, जिनका सम्बन्ध पदों की संघटना से होता है। आचार्य भट्टोद्भट ने अनुप्रास प्रकारों को -परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या (कोमला) नामक तीन वृत्तियों के रूप में माना है। इनका लक्षण करते हुए उनका कथन है-

---

1. भावप्रकाशन-प्रथम अधिकार-कारिका-86
2. भावप्रकाशन-प्रथम अधिकार-कारिका-87-92
3. वही-कारिका-93

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्ह्याद्यैश्च संयुता।।
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिका बुधाः।।
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।।
सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।।[1]

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी शब्दगत और अर्थगत दो प्रकार की वृत्तियों को माना है। उनका कथन है-

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्थिताः।।[2]

ध्वनिकार का मत है रसादि के अनुकूल शब्द और अर्थ का जो उचित व्यवहार है, वही दो प्रकार की काव्यवृत्तियों के रूप में माना जाता है। आनन्दवर्धन ने वृत्ति को परिभाषित एवं स्पष्ट करते हुए पुनश्च कहा है- व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुणऔचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः। इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।[3] अर्थात् व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। उनमें रसानुगुण औचित्य युक्त जो वाच्य (अर्थ) का व्यवहार है, वे कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं और वाचक (शब्द) के आश्रित जो व्यवहार है, वे उपनागरिकादि वृत्तियाँ हैं। रसादि के अनुकूल प्रयुक्त की गई कैशिकी तथा उपनागरिकादि वृत्तियाँ क्रमशः नाटक और काव्य में कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं। रसादि उन दोनों प्रकार की वृत्तियों के आत्मभूत हैं और कथावस्तु आदि शरीरभूत हैं।

---

1. अलङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति-प्रथम वर्ग-पृ॰ 256-60
2. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-33
3. वही-कारिका-33 की वृत्ति

आचार्य मम्मट ने उद्भट के मतानुसार ही तीन प्रकार की शब्दवृत्तियों-उपनागरिका, परुषा तथा कोमला को ही माना है। उनका कथन है-**वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।**[1] वृत्ति नियत वर्णगत रस विषयक व्यापार है। इसका विवेचन उन्होंने अनुप्रास अलङ्कार के दो भेदों छेक तथा वृत्ति के प्रसङ्ग में किया है।

(i) **उपनागरिकावृत्ति**- मम्मट का कथन है- **माधुर्य व्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते**[2] माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त (वृत्ति उद्भट के मत में) उपनागरिका (और वामन के मत में वैदर्भी रीति) कहलाती है।

(ii) **परुषावृत्ति- ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा।**[3] ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त (वृत्ति उद्भट के मत में) परुषा वृत्ति (और वामन के मत में गौडी रीति कहलाती) है।

(iii) **कोमलावृत्ति- कोमला परैः।**[4] शेष वर्णो (अर्थात् उपनागरिका के माधुर्य और परुषा के ओज व्यञ्जक वर्णों के अतिरिक्त) से (युक्त तीसरी वृत्ति उद्भट के मत में) कोमला (वृत्ति और वामन के मत में पाञ्चाली रीति) होती है।

प्रवृत्ति- आचार्य राजशेखर का कथन है- **वेषविन्यास क्रमो प्रवृत्तिः।**[5] अर्थात् देशों के वेष-विन्यास-क्रम का नाम प्रवृत्ति है। आचार्य भरतमुनि ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। उनका कथन है-

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी।।

अत्राह-प्रविृत्तिरिति कस्मादिति? उच्यते-पृथिव्यां नानादेशवेषभाषावार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।[6] उत्तरवर्ती आचार्यों ने भरतमुनि के आधार पर ही

---

1. काव्यप्रकाश-नवम उल्लास-कारिका-79 की वृत्ति
2. वही-सूत्र-107
3. वही-सूत्र-108
4. काव्यप्रकाश-नवम उल्लास-सूत्र-109
5. काव्यमीमांसा-तृतीय अध्याय-पृ०-22
6. नाट्यशास्त्र-चतुर्दश अध्याय-कारिका-36 तथा वृत्ति

प्रवृत्तियों का निरूपण किया है। सिंहभूपाल का कथन है- तत्तदेशोचिता भाषा क्रियाः वेषाः प्रवृत्तयः।[1] अर्थात् देशविशेष की भाषा, क्रिया तथा वेष-भूषा ही प्रवृत्तियाँ हैं।

शारदातनय का मत भी भरत अनुसार ही है, परन्तु इन्होंने भरत सम्मत चार प्रकार की प्रवृत्तियों के अतिरिक्त पैशाची, सौरसेनी, शकार, अभीर, चाण्डाल, शवर, द्रविड़, आन्ध्रज भाषा-विभाषा का भी कथन किया है। उनका मन्तव्य है-

देशभाषाक्रियाभेदलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यंप्रयोजयेत्।।
उक्तास्ता वृत्तयः साङ्ग भोजसोमेश्वरादिभिः।
तस्मादासां स्वरूपं तु दिङ्मात्रं समुदाहृतम्।।
देश्याः प्रवृत्तयस्तत्तद्देश्यैर्ज्ञेया विचक्षणैः।
क्रियाभेदा न शक्यन्ते ज्ञातुं वक्तुं च केनचित्।।
तस्माद्यतः प्रवृत्तिर्वा क्रिया वा यत्र दृश्यते।
तत्र तज्ज्ञैः सह ज्ञेयास्सर्वैः सर्वाः प्रवृत्तयः।।
भाषा स्यात्सप्तधा दैश्या विभाषाऽपि च सप्तधा।
मागध्यवन्तिका प्राच्या शौरसेन्या च मागधी।।
पैशाची दाक्षिणात्या च तत्तद्देशेषु भाष्यते।
शकाराभीर चण्डालशबरद्रविडान्ध्रजाः।
हीनां वनेचराणां च तत्तजातिषु दृश्यते।
देशभेदक्रियाभेदांस्तत्र तत्रोपलक्षयेत्।।[2]

इस प्रकार आचार्यों ने प्रवृत्ति का निरूपण देश-वेष-भूषा-भाषा-क्रिया के आधार पर किया है। प्रवृत्ति का सम्बन्ध देश-वेष-भाषा तथा आचार-विचार सभी से है तथा रीति का केवल वचन-विन्यास से है। प्रवृत्ति को काव्य का बाह्य एवं रीति को आन्तरिक तत्त्व माना गया है। रीति कवि के स्वभाव तथा प्रवृत्ति भौगोलिक परिवेश से सम्बद्ध है। रीति अपने आरम्भिक काल से

1. रसार्णवसुधाकर-प्रथम विलास (रङ्गकोल्लास)-कारिका-297
2. भावप्रकाशन- प्रथम अधिकार-कारिका-95

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली आदि के स्वरूप से परिवर्तित होती हुई शब्दों की उपनागरिकादि वृत्तियों के रूप में उपन्यस्त हो चुकी है। काव्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ बतलायी गई हैं-शब्दवृत्ति तथा अर्थवृत्ति। इनमें शब्द वृत्तियाँ (उपनागरिकादि) काव्य प्रयोज्य तथा कैशिकी आदि अर्थवृत्तियाँ नाट्य प्रयोज्य हैं। देश-विशेषगत प्रवृत्ति काव्य (नाट्य) के बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत है जो वर्तमान में भी नाट्यकलाओं में दर्शनीय है। रीति (मार्ग)-वृत्ति, कवियों द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द व्यवहार है जो कविव्यापार के रूप में वर्तमान आचार्यों द्वारा भी आख्यात है। इसका विवेचन कविव्यापार में तथा रीति के प्रसङ्ग में किया गया है।

गुण- संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यसमालोचना के प्रारम्भिक समय से ही काव्यगत गुणों पर विचार-विमर्श किया जाता रहा है। आचार्य भरतमुनि ने 10 प्रकार के गुणों को बतलाया है-

> श्लेषः प्रसाद समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।।[1]

आचार्य भामह ने तीन प्रकार के गुणों का कथन किया है- (i) माधुर्य (ii) ओज और (iii) प्रसाद।[2] दण्डी ने भरत सम्मत 10 गुण माने हैं।[3] आचार्य भोज ने 24 प्रकार के गुणों का निरूपण किया है।[4] आचार्य वामन ने 10 शब्द गुण तथा 10 अर्थ गुण के रूप में 20 गुणों का वर्णन किया है। उनका कथन है- **काव्यशोभायाः कत्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः।** यथा-

> युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
> विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः।।
> यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।

---

1. नाट्यशास्त्र-सप्तदश-अध्याय-कारिका-96
2. काव्यालङ्कार द्वितीय परिच्छेद-कारिका-1-3
3. काव्यादर्श-प्रथम परिच्छेद-कारिका-41-42
4. सरस्वतीकण्ठाभरण-प्रथम परिच्छेद-कारिका-58-65

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते।।[1]

वामन का मत है- जिस प्रकार के युवती शरीर में सौन्दर्य आदि गुणों के होने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के वर्धक बन पाते हैं, उसी प्रकार की स्थिति काव्य में भी है। काव्य में ओज, प्रसाद आदि गुणों के होने पर ही उपमादि अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं। अतः ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य के नित्यधर्म हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारवादी आचार्यों के समस्त गुणों का अन्तर्भाव- माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक इन्हीं तीनों गुणों में कर दिया। आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कर गुणों का नियत अङ्गत्व प्रतिपादित किया। उनका कथन है-

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्।।[2]

काव्य के आत्मभूत रसादिरूप ध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं और अलङ्कार अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म हैं जो रमणी के आभूषणवत् शब्दार्थरूपी शरीर का आश्रय लेते हैं।

ध्वनिकार के मतानुसार ही मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों का निरूपण किया है। आचार्य मम्मट ने समस्त आचार्यों के मतों का समन्वित सारांश प्रस्तुत किया है। उनका कथन है-

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।[3]

शरीर में आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान (काव्य के आत्मभूत) प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं। ये गुण तीन हैं- (i) माधुर्य (ii) ओज और (iii) प्रसाद।

(i) माधुर्य- मम्मटचार्य का कथन है- आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे

---

1. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-तृतीय अधिकरण-प्रथम अध्याय-सूत्र-1-2 तथा वृत्ति
2. ध्वन्यालोक-द्वितीय उद्योत-कारिका-6
3. काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास-कारिका-66

द्रुतिकारणम्।[1] चित्त के द्रवीभाव का कारण और शृङ्गार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है, वह माधुर्य (नामक गुण कहलाता) है। यह माधुर्य नामक गुण सामान्यतः सम्भोग शृङ्गार में रहता है, परन्तु-करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।[2] करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस में उत्तरोत्तर अधिक चमत्कार जनक होता है। माधुर्य गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हैं-

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।[3]

अर्थात् ट ठ ड और ढ को छोड़कर, स्पर्श अर्थात् क से लेकर म पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, तथा पवर्ग) समस्त वर्ण, ह्रस्व स्वर से व्यवहित र और ण वर्ण माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं। समास रहित अथवा अल्पसमास वाली मधुर रचनाएँ भी माधुर्य की अभिव्यञ्जक होती हैं।

(ii) ओज- मम्मट का कथन है- दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।[4] चित्त के द्रवीभाव का कारणभूत आह्लादकत्व जिस प्रकार माधुर्य गुण कहलाता है, उसी प्रकार वीर रस में रहने वाली (आत्मा अर्थात्) चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज (कहलाती) है। मम्मट का मत है- चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः।[5] चित्त के विस्तार दीप्तत्व का जनक ओज गुण कहलाता है। यह ओज सामान्यतः वीर रस में रहता है, परन्तु- वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।[6] वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः इसका आधिक्य रहता है। ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हैं-

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादि शषौ वृत्तिदैर्ध्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।[7]

---

1. काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास-कारिका-68
2. काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास-कारिका-69 सूत्र-90
3. वही-कारिका-74
4. वही-कारिका-69, सूत्र- 91
5. वही-कारिका-91 की वृत्ति
6. वही-कारिका-92
7. वही-सूत्र-75

वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का अपने बाद के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों के साथ संयोग (क-ग, च-ज, त-द, प-ब, का, ख-घ, छ-झ, थ-ध, फ-भ के साथ संयोग), वर्णों का र के साथ संयोग, तुल्य वर्णों का योग, टवर्ग के प्रथम चार वर्ण (ट, ठ, ड, ढ) श और ष ये सभी वर्ण ओज गुण के अभिव्यञ्जक हैं। दीर्घ समास उद्धत रचना भी ओज गुण की अभिव्यञ्जक होती है।

(iii) प्रसाद गुण- मम्मट का कथन है-

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।[1]

सूखे इन्धन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ (धुले हुए वस्त्र में) जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र (सब रसों में) रहने वाला प्रसाद गुण कहलाता है। प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जक वर्ण हैं-

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः मतः।।[2]

जिस (शब्द समास या रचना) के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सब (वर्णों, समासों तथा रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद गुण माना जाता है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने तीन गुणों, उनके अभिव्यञ्जक वर्णों तथा उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल गुणों के लक्षण तथा उनके अभिव्यञ्जक वर्णों को प्रस्तुत किया गया है, उदाहरणों को नहीं। उदाहरण तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य हैं।

जिस प्रकार अलङ्कारवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों की पूर्वपरम्परा में काव्यगत गुणों पर विस्तृत विवेचन किया गया है, उसी प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी गुणों का निरूपण किया है। इस सदी के भी आलङ्कारिकों में कतिपय ने भरत सम्मत 10 गुणों को माना है तथा कुछ ने

---

1. काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास-कारिका-70
2. वही-कारिका-76

ध्वनिवादी आचार्य मम्मट द्वारा बतलाये गये तीन गुणों- माधुर्य, ओज और प्रसाद का ही कथन किया है। क्रमशः इनके मतों को उपस्थापित किया जा रहा है।

पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने मम्मटानुसार ही तीन प्रकार के गुणों-माधुर्य, ओज और प्रसाद का विवेचन किया है। उनका कथन है-

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।।[1]

पं० शास्त्री ने गुणों के स्वोपज्ञ लक्षण और उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। आचार्य सर्वेश्वर कवि ने भरत सम्मत दश गुणों का निरूपण किया है।[2] आचार्य छज्जूराम शास्त्री ने मम्मट के अनुसार तीन गुणों को ही बतलाया है। उनका कथन है- गुणा माधुर्यमोजश्च प्रसादश्चेति ते त्रयः।[3] प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने गुणों की सङ्ख्या के विषय में अपना कोई मत नहीं दिया है। उनका कथन है कि अर्थ संयोजन में कुछ विद्वान् गुणों का दर्शन करते हैं, परन्तु उनका काव्यशरीर के पूर्णभाव में लय हो जाता है-

गुणेषु रसधर्मत्वमपि केषाञ्चन स्थितम्।
वैखरी ध्वनि पारुष्यादिकं तद्व्यञ्जनाद् गुणः।।
अर्थ संयोजने केचिद् दृश्यन्ते ये गुणा बुधैः।
ते तु काव्यशरीरस्य पूर्णभावे लयं गताः।।[4]

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा प्राचीन एवं अर्वाचीन सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने केवल दो प्रकार के गुणों को माना है। उन्होंने तृतीय गुण प्रसाद को अर्थ की स्पष्टता के कारण सत्यता में अन्तर्भावित मान लिया है, उसे पृथक् नहीं माना है। उनका कथन है-

सत्ये या तीव्रता प्रोक्ता सा शरीरेऽपि जायते।
अनयैव कठोरत्वम् शैथिल्यं तस्य किञ्चन।।

---

1. साहित्यमञ्जरी-गुणरीति-प्रकरण-पृ०-18-20
2. साहित्यसार-द्वितीय प्रकाश-कारिका-83-89
3. साहित्यबिन्दु-चतुर्थ बिन्दु-कारिका-4
4. काव्यालङ्कारकारिका-नवम अधिकरण-कारिका-211-12

शैथिल्ये द्रुतिश्चित्ते कठोरत्वे च दीप्तता।
माधुर्यगुण इत्येकः अन्यश्चौजोगुणो मतः॥[1]

डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने गुण विवेचन के सन्दर्भ में भरत तथा उनके उत्तरवर्ती अलङ्कारवादी एवं ध्वनिवादी दोनों के अनुसार बतलाये गये गुणों का समीक्षात्मक विवेचन किया है।[2] प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने भी मम्मट के मतानुसार ही गुणों का त्रिधा विवेचन किया है। परन्तु उन्होंने इन तीनों गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) के उदाहरण अर्वाचीन काव्यों से उद्धृत किये हैं। गुणों के प्रसङ्ग में उनका कथन है–

अङ्गीभूतो रसःकाव्ये गुणानां समुपाश्रयः।
अङ्गानि चापि शब्दार्थावलङ्कारा यदाश्रिताः॥
यथा शौर्यादयोऽस्माकं नितरामात्मनो गुणाः।
न जातुचन देहस्य तथा काव्येऽपि दृश्यते॥
आत्मनैव भवेच्छूर आत्मनैव च भीरुकः।
वपुषा न भवेद्वीरो वपुषानापि निर्भयः॥
धनाढ्याश्च हतात्मनो दृश्यन्ते कृपणा भुवि।
निर्धनास्त्यक्तसर्वस्वा महासत्त्वतया खलु॥
नाऽभविष्यद् गुणो धर्मो हन्त केवलमात्मनः।
कः स्पृशेज्जन्तुशालायां निर्भयं निहितं हरिम्??॥
यत्र तत्र तदात्मत्वं तत्र तत्रैव ते गुणाः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुभावन्योन्यमाश्रितौ॥[3]

इस प्रकार गुणों को (शरीरस्थ) आत्मा का नित्य धर्म बतलाने के बाद प्रो० मिश्र काव्यगत गुणों की भी अवस्थिति काव्य में आत्मा के शौर्य आदि धर्मों के समान बतलाते हुए पुनश्च कहते हैं–

माधुर्यादि गुणाः काव्येऽप्येवमेव रसाश्रिताः।
सगुणावेव शब्दार्थौ सरसाविति निश्चितम्॥

---

1. काव्यसत्यालोक–चतुर्थ उद्योत–कारिका– 62–63
2. अभिनवकाव्यशास्त्र–सप्तम आयाम–सूत्र–271–73
3. अभिराजयशोभूषण–वपुस्तत्वोन्मेष (द्वितीयखण्ड)–कारिका–81–86

गुणानां नित्य सम्बन्धो रसैः सार्धमिति ध्रुवम्।
रसाभिव्यञ्जकास्तस्मान्माधुर्यादिगुणाः स्मृताः।।
माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्ते त्रयो न पुनर्दश।
तत्प्रपञ्चो हि वोद्धव्य आकरग्रन्थपङ्क्तिभिः।।
मन्वते केचिदाचार्या ननु शब्दार्थयोः पृथक्।
गुणान् विंशतिसङ्ख्यकान् तत्परेषां न सम्मतम्।।[1]

इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने गुणों के सन्दर्भ में अपने-अपने मत अभिव्यक्त किये हैं। इस अर्वाचीन परम्परा के अधिकांश आचार्यों ने ध्वनिवादी आचार्य मम्मट के अनुसार विवेचित तीन प्रकार के गुणों-माधुर्य, ओज और प्रसाद का ही कथन किया है।

अलङ्कार- मात्र अलङ्कार का विवेचन करने वाले जिन-जिन आलङ्कारिक ग्रन्थों को प्रस्तुत प्रबन्ध में सम्मिलित किया गया है, उनमें विवेचित अलङ्कारों का परिचय प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ परिचय के साथ दे दिया गया है। सम्पूर्ण आचार्यों के लक्षणों उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत कर पाना असम्भव है, अतः वे तत्तत् ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य हैं। प्राचीन आलङ्कारिकों की ही भाँति अर्वाचीन आलङ्कारिक आचार्यों ने भी स्वोपज्ञ लक्षणों तथा उदाहरणों के साथ अलङ्कारों का विवेचन किया है तथा कुछ नवीन अलङ्कारों की उद्भावना भी की है। डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यसत्यालोक, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत-काव्यालङ्कारकारिका, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कृत अभिनव-काव्यालङ्कारसूत्र तथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र कृत अभिराजयशोभूषणम्, इस प्रबन्ध में सम्मिलित प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ हैं। अतः इन्हीं के मतों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जहाँ एक ओर डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा द्वारा कृत अलङ्कार विवेचन परम्परा अभिप्रेत होते हुए भी मौलिकता के तथ्यों की पुष्टि करता है, वहीं दूसरी ओर प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी कृत विवेचन अ-पारम्परिक होते हुए भी नूतन अलङ्कारों की उद्भावना के साथ अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का उपकारक है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी अलङ्कारवादी आचार्य हैं, लेकिन उन्होंने अलङ्कारों का विवेचन नहीं किया है। प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने यद्यपि किन्हीं मौलिक नवीन

---

1. अभिराजयशोभूषण-वपुस्तत्वोन्मेष-द्वितीय खण्ड-कारिका-87-90

अलङ्कारों की सृष्टि नहीं की है तथापि उन्होंने अपने नवनिर्मित लक्षणों तथा उदाहरणों को प्रस्तुत कर काव्यशास्त्रीय परम्परा को संस्कारित किया है। प्रो० मिश्र ने अलङ्कारों के समस्त उदाहरण अर्वाचीन कवियों के काव्यों से उद्धृत किये हैं। इनमें अधिकांश पद्य प्रो० मिश्र की स्वयं की रचनाओं से संग्रहीत हैं। इस सन्दर्भ में प्रो० मिश्र का कथन है-

शब्दार्थसंश्रिता ये वै काव्यशोभां प्रतन्वते।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
काव्यं चेन्निरलङ्कारं रसमात्रेण जीवति।
सालङ्कारमपि प्रायो नीरसं म्रियते खलु।।
यद्यप्यनित्यधर्मा हि प्रोक्ताः काव्यस्य सूरिभिः।
अलङ्कारा रसं सन्तं तथाप्याशूपकुर्वते।।
तत्र शब्दाश्रिताः शब्दालङ्कारा यमकादयः।
अर्थाश्रितास्तथैवाऽर्थालङ्कारा उपमादयः।।[1]

शब्दार्थ आश्रित काव्यशोभाविवर्धक, हारादि के समान अलङ्कार हैं। इस प्रकार उनकी काव्य में अवस्थिति का निरूपण कर प्रो० मिश्र अलङ्कारों की सङ्ख्या की ऐतिहासिकता को उद्घाटित करते हुए पुनः कहते हैं-

मुनिना भरतेनादौ चत्वार उपकल्पिताः।
ते च कुवलयानन्दे सङ्गणिता शताधिकाः।।
कल्पिताः पूर्वमाचार्यैः स्वेच्छयैव यथारुचि।
तथैवाऽद्यापि कल्प्यन्तेऽलङ्कारा नूतना इमे।।
तच्च सारस्वतं किञ्चिद् प्रातिभं धीविजृम्भणम्।
प्राप्यते कृतिना नूनं वीणापाण्यनुकम्पया।।
प्रमुखा येऽप्यलङ्काराः शब्दस्यार्थस्य सम्मताः।
त एव नवया शैल्या प्रस्तूयन्ते विदाम्मुदे।।[2]

इस प्रकार प्रो० मिश्र ने प्रमुख अलङ्कारों के नवीन लक्षण एवं उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। इनके लक्षण एवं उदाहरण तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य हैं।

---

1. अभिराज यशोभूषणम् (वपुस्तत्वोन्मेष) द्वितीयखण्ड-कारिका-91-94
2. वही-कारिका-95-98

विस्तारभयेन उन्हें यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा का कथन है-

सूक्ष्मधर्मादयो येऽत्र उपायाः केऽपि दर्शिताः।
अलङ्काराभिधानं ते भजन्त इति मे मतिः॥[1]

काव्य में सत्यगत अनुभूति (सत्यानुभूति-काव्यात्मा) के निमित्त (शब्दगम्य अर्थ, व्यापार तथा भावयोग आदि) जो उपाय बतलाये गये हैं। वे अभिधान ही अलङ्कार हैं। डॉ० शर्मा का मत है कि सत्यगत सूक्ष्मता के लिए हमने जो उपाय निरूपित किये हैं, वे अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कार पद वाच्य हैं। इनमें प्रथम, जो उपाय है, वह स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा गया है। इसके अनन्तर सादृश्य विधान में सादृश्यमूलक उपमादि, समर्थन उपादान में अर्थान्तरन्यास, हेतु उपादान में काव्यलिङ्ग तथा विरोध उपादान में विरोधमूलक अलङ्कार स्वीकृत हैं। इस प्रकार डॉ० शर्मा ने प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों के समीचीन मत का ग्रहण तथा असमीचीन मत का निराकरण करते हुए अलङ्कारों का विवेचन किया है। डॉ० शर्मा द्वारा व्याख्यात यह प्रकरण विस्तार के साथ तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। उसका केवल संक्षिप्त सार ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। डॉ० शर्मा ने अपने द्वितीय ग्रन्थ वस्त्वलङ्कारदर्शनम् में समस्त अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। इन अलङ्कारों की सङ्ख्या का वर्णन प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ परिचय के साथ दे दिया गया है।

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने आभ्यान्तर एवं बाह्य के भेद से दो प्रकार के अलङ्कार बतलाये हैं। पर्याप्ति, वारण, भूषण की प्रक्रियाओं के साथ आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक के भेद से इनके पुनः तीन प्रकार हो जाते हैं। पुनः संरचना की दृष्टि से अलङ्कार के पदगत, पदार्थगत, वाक्यगत, प्रकरणगत तथा प्रबन्धगत ये पाँच भेद होते हैं तथा शब्द-व्यापार की दृष्टि से वाच्यगत, लक्ष्यगत तथा व्यङ्ग्यगत ये तीन भेद होते हैं।[2]

1. काव्यसत्यालोक-द्वितीय उद्योत-कारिका-22
2. अलङ्कारा द्विविधाः- आभ्यान्तराश्चबाह्यश्च। पर्याप्ति-वारण-भूषण-प्रक्रियाभिः आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन इमे पुनस्त्रिधा। पुनश्च पदपदार्थवाक्यप्रकरण-प्रबन्धगतत्वेन पञ्चविधाः। त्रिविधाश्च शब्दव्यापारदृशा।
अभिनकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-चतुर्थ अध्याय

(1) आभ्यान्तर अलङ्कार- प्रो० त्रिपाठी ने 11 प्रकार के आभ्यान्तर अलङ्कारों को बतलाया है। उनका कथन है- आभ्यान्तरा एकादश। यथा-

आभ्यान्तरा अलङ्कारा प्रेमाऽऽह्लादो विषादनम्।
विभीषिका तथा व्यङ्ग्यं कौतुकं च जिजीविषा।।
अहङ्कारः स्मृतिः साक्ष्यमुदात्तमिति ते स्मृताः।।[1]

प्रो० त्रिपाठी का मत है- ये आभ्यान्तर अलङ्कार समस्त काव्यों में परिव्याप्त रहते हैं तथा इनमें ही रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। उदात्त अलङ्कार में वीर रस का, प्रेम और आह्लाद में शृङ्गार तथा हास्य का, विषादन में करुण का, विभीषका में वीभत्स और भयानक का, व्यङ्ग्य में हास्य का, कौतुक में अद्भुत का, अहङ्कार में रौद्ररस का तथा साक्ष्य अलङ्कार में शान्तरस का अन्तर्भाव हो जाता है।

(2) वाह्य अलङ्कार- प्रो० त्रिपाठी ने वाह्य अलङ्कारों के चार प्रकार बतलाये हैं तथा सम्पूर्णता के साथ इनकी सङ्ख्या 18 बतलायी है। वाह्य अलङ्कारों के चार प्रकार हैं-(i) सङ्घटनाश्रित (ii) विरोधमूलक (iii) औपम्यमूलक और (iv) वृत्तिमूलक। प्रो० त्रिपाठी का कथन है-

अन्यथाकरणं छायाजातिश्चातिशयस्तथा।
इमे चत्वार एव स्युराद्याः सङ्घटनाश्रिताः।।
अपह्नुतिर्विरोधश्चासङ्गतिर्विषमं तथा।
द्वन्द्वं च तानवं च स्युर्वर्गे विरोधमूलके।।
उपमारूपकं चैव चोत्प्रेक्षा दीपकं तथा।
इमे चत्वार एव स्युर्वर्गे चौपम्यमूलके।।
नादानुवृत्तिर्यमकं श्लेषश्चापि लयस्तथा।
एते सन्ति च चत्वारोऽलङ्कारा वृत्तिमूलकाः।।[2]

1. संघटनाश्रित- (i) अन्यथाकरण (ii) छाया (iii) स्वभाव (जाति) और (iv) अतिशय, चार अलङ्कार हैं।

---

1. अभिनकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-पञ्चम अध्याय
2. वही-षष्ठ अध्याय

2. विरोधमूलक-(i) अपह्नुति (ii) विरोध (iii) असङ्गति (iv) विषम (v) द्वन्द्व और (vi) तानव, छः अलङ्कार हैं।
3. औपम्यमूलक-(i) उपमा (ii) रूपक (iii) उत्प्रेक्षा और (iv) दीपक, चार हैं।
4. वृत्तिमूलक- (i) नादानुवृत्ति (ii) यमक (iii) श्लेष और (iv) लय, चार हैं।

इस प्रकार वाह्य अलङ्कार की कोटि में कुल 18 अलङ्कार हैं, जिनका लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन प्रो० त्रिपाठी जी द्वारा किया गया है। इन अलङ्कारों को लक्षण एवं उदाहरण सहित तद्ग्रन्थ में ही देखा जा सकता है, परन्तु जो मौलिक नवीनोद्भावना उद्भूत अलङ्कार हैं, उनका परिचयात्मक लक्षण प्रकृत ग्रन्थ के अग्रिम सप्तम अध्याय (अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का मौलिक अवदान) में दिया जायेगा।

दोष- संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्य समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन के साथ आचार्यों ने काव्यदोषों पर भी विचार किया है। काव्यशास्त्र के आचार्यों का मत है कि काव्यरचना निर्दोष होनी चाहिए। इसलिए कवियों को काव्यरचना करते समय दोषों से सावधान रहना चाहिए। क्योंकि दोष काव्य में विपत्तिरूप (चारुत्व के अपकर्षक) तथा गुण सम्पत्ति-रूप (चारुत्व के उत्कर्ष हेतु) होते हैं। जैसे कि कहा भी गया है-

काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः।
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा।।[1]

आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम दोषों का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में उन्होंने 10 दोषों को सलक्षण प्रस्तुत किया है।[2] आचार्य भामह का कथन है-

सर्वथा पदमप्येकं न निगद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।

---

1. काव्यादर्श-चतुर्थ परिच्छेद में उद्धृत -प्रक्षिप्तांश के रूप में मान्य
2. नाट्यशास्त्र-सप्तदश-अध्याय-कारिका-88-94

अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।।[1]

कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि काव्य में एक भी दोषयुक्त शब्द का प्रयोग न हो। दोष से युक्त काव्य कुत्सित पुत्र के समान निन्दनीय होता है। कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न व्याधि, न दण्ड किन्तु बुरी कविता को विद्वान् साक्षात् मरण कहते हैं। आचार्य दण्डी का कथन है–

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।[2]

काव्य में किसी प्रकार छोटे से दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सुन्दर शरीर भी श्वेत कुष्ठ के एक चिह्न मात्र से कुरूप हो जाता है। आचार्य दण्डी ने 10 प्रकार के दोषों का कथन किया है–

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं संशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्।।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः।।[3]

इस प्रकार इन प्राचीन आचार्यों ने काव्यगत दोषों को सामान्य रूप में ही वर्णित किया। आचार्य वामन ने सर्वप्रथम दोषों का वर्गीकरण पद–पदार्थ के रूप में किया। भरतमुनि से लेकर कविराजविश्वनाथ पर्यन्त काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने दोषों के स्वरूप तथा भेद का विवेचन किया है। इनमें आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा किया गया विवेचन समन्वित एवं समीचीन है। अतः इन्हीं के आधार पर दोषों के स्वरूप तथा भेद को प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य मम्मट का कथन है–

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।[4]

---

1. काव्यालङ्कार–प्रथम परिच्छेद–कारिका–11–12
2. काव्यादर्श–प्रथम परिच्छेद–कारिका–7
3. वही–चतुर्थ परिच्छेद–कारिका–125–26
4. काव्यप्रकाश–सप्तम उल्लास–कारिका–49

मुख्य अर्थ का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष हैं। काव्य में रस ही मुख्य अर्थ है, अतः रस का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष हैं। क्योंकि रसाभिव्यक्ति शब्दार्थ का आश्रय लेकर होती है, इसलिए ये दोष शब्द और अर्थ में भी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ का भी मत है- रसापकर्षकाः दोषाः।[1] रस के अपकर्षक तत्त्व दोष हैं।

मम्मट ने तीन प्रकार के काव्य दोषों को बतलाया है-(i) पद-दोष (ii) अर्थ-दोष और (iii) रसदोष।

पुनश्च पद दोष के भी तीन भेद किये हैं-(i) पद (ii) पदांश और (iii) वाक्य दोष। इस प्रकार मम्मट ने दोषों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है- (i) पदगत (ii) पदांशगत (iii) वाक्यगत (iv) अर्थगत और (v) रसगत दोष। आचार्य मम्मट ने दोषों का विवेचन वामनाचार्य के आधार पर किया है। वामन ने इन दोषों के अतिरिक्त अलङ्कार दोषों का भी विवेचन किया है।[2] परन्तु मम्मट ने इनके स्वतन्त्र अस्तित्व को अस्वीकारते हुए इनका अन्तर्भाव पद दोषों में ही कर दिया है। मम्मट का कथन है-

एषा दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन्।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः।।[3]

1. पददोष- पदगत दोषों के 16 भेदों का वर्णन करते हुए मम्मट का कथन है-

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहितार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृति समासगतमेव।।[4]

(i) श्रुतिकटु- श्रुतिकटुपरुषवर्णरूपं दुष्टं-कठोरवर्णरूप रसापकर्षक पद श्रुतिकटु कहलाता है।

---

1. साहित्यदर्पण-सप्तम परिच्छेद-कारिका-1
2. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति-द्वितीय अधिकरण-प्रथम और द्वितीय अध्याय
3. काव्यप्रकाश-दशम उल्लास-कारिका-142
4. वही-सप्तम उल्लास-कारिका-50-51

(ii) च्युतसंस्कृति-	च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं- जो पद व्याकरण नियमानुकूल न हो।
(iii) अप्रयुक्त-	अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम्- व्याकरण कोशादि सम्मत, परन्तु कवियों द्वारा न अपनाया हुआ शब्द प्रयोग अप्रयुक्त दोष होता है।
(iv) असमर्थ-	असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः- अभीष्ट अर्थ का वाचक होने पर भी यदि पद प्रसङ्गविशेष में अपने अर्थ का प्रतिपादन न कर सके तो वहाँ असमर्थ दोष होता है।
(v) निहितार्थ-	निहितार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्-जो (शब्द) दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी (अपेक्षाकृत) अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हो।
(vi) अनुचितार्थ-	यदि किसी पद से अनुचित अर्थ की प्रतीति हो।
(vii) निरर्थक-	निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्- केवल पादपूर्तिमात्र के लिए प्रयुक्त च आदि पद निरर्थक होते हैं।
(viii) अवाचक-	यदि किसी पद विशेष का प्रयोग किसी ऐसे अर्थ में हो जो कोशादि के अनुसार उसका वाचक न हो।
(ix) अश्लील-	त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वाद्-अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है। अनुचित व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल के होने पर यह दोष होता है।
(x) सन्दिग्ध-	जहाँ किसी पद की दो अर्थों में सङ्गति हो, परन्तु उनमें यह सन्देह बना रहे कि कौन-सा अर्थ प्रयुक्त हुआ है? तो सन्दिग्ध दोष होता है।
(xi) अप्रतीत-	अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्- किसी शास्त्र विशेष के परिभाषिक शब्द का प्रयोग साधारण रूप में करना।

(xii) ग्राम्य- वह पद जिसका प्रयोग ग्राम्य-जनों के द्वारा किया जाता हो, शिष्ट-जनों के द्वारा नहीं।

(xiii) नेयार्थ- नेयः रूढ़ि-प्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थः यत्र- जहाँ रूढ़ि और प्रयोजन रूप लक्षणा के हेतुओं के न होने पर भी कवि अपनी इच्छा से यों ही लक्षणा से शब्द का प्रयोग कर दें।

(xiv) क्लिष्ट- क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता-जिस पद से अर्थ की प्रतीति (साक्षात् न होकर) व्यवधान से होती हो।

(xiv) अविमृष्टबिधेयांश- अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्- जहाँ विधेय अंश (प्रधान अंश) का प्राधान्येन निर्देश न किया गया हो।

(xvi) विरुद्धमतिकृत- जहाँ विवक्षित अर्थ से विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ विरुद्धमतिकृत दोष होता है।

2. पदांश दोष- आचार्य मम्मट का कथन है-

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन्।।[1]

च्युतसंस्कार असमर्थ और निरर्थक (इन तीन पद दोषों) को छोड़कर ये सब दोष वाक्य में भी होते हैं और कुछ पदांश में भी।

मम्मट ने 7 पदांश गत दोषों को बतलाया है- (i) श्रुतिकटु (ii) निहितार्थत्व (iii) निरर्थकत्व (iv) अवाचकत्व (v) अश्लीलत्व (vi) सन्दिग्धत्व और (vii) नेयार्थत्व। इन दोषों के स्वरूप वे ही हैं, जो पदगत दोषों के हैं।

3. वाक्यदोष- काव्यप्रकाश सप्तम प्रकाश की कारिका- 52 (जो

---

1. काव्यप्रकाश- सप्तम उल्लास-कारिका-52

पदांश दोष के सन्दर्भ में प्रस्तुत की जा चुकी है) में मम्मट का कथन है- अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते।। च्युति संस्कृति, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष (16 पदगत दोषों में से) 13 पदगत दोष वाक्यगत दोष भी होते हैं। इस प्रकार मम्मट ने दो प्रकार के वाक्य दोषों को बतलाया है। इन वाक्यगत दोषों के अतिरिक्त अन्य 21वाक्य दोषों का भी उन्होंने कथन किया है-

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धिहतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।।[1]

(i) प्रतिकूलवर्णता (ii) उपहतविसर्गता (iii) विसन्धि (iv) हतवृत्तता (v) न्यूनपदता (vi) अधिकपदता (vii) कथितपदता (viii) पतत्प्रकर्षता (ix) समाप्तपुनरात्तता (x) अर्थान्तरैकवाचकता (xi) अभवन्मतसम्बन्ध (xii) अमतयोग (xiii) अनभिहितवाच्यता (xiv) अस्थानपदता (xv) अस्थानसमासता (xvi) सङ्कीर्णता (xvii) गर्भितता (xviii) प्रसिद्धिविरोध (xix) भग्नप्रक्रमता (xx) अक्रमता (xxi) अमतपरार्थता।

ये 21 प्रकार के वाक्य दोष आचार्य मम्मट ने बतलाये हैं जो केवल वाक्य में ही रह सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 23 वाक्यदोष बतलाये हैं। उन्होंने मम्मट के विसन्धि नामक दोष के तीन भेदों-विश्लेष, अश्लीलत्व और कष्टत्व की गणना अलग रूप में की है।

4. अर्थदोष- मम्मट और विश्वनाथ दोनों आचार्यों ने 23 प्रकार के अर्थ दोष भी बतलाये हैं। आचार्य मम्मट का कथन है-

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः।

---

1. काव्यप्रकाश-सप्तम उल्लास-कारिका- 53-55

साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।।

विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः।।[1]

(i) अपुष्ट (ii) कष्ट (iii) व्याहत (iv) पुनरुक्त (v) दुष्क्रम (vi) ग्राम्य (vii) सन्दिग्ध (viii) निर्हेतु (ix) प्रसिद्धिविरुद्ध (x) विद्याविरुद्ध (xi) अनवीकृत (xii) नियम में अनियम (xiii) अनियम में नियम (xiv) विशेष में अविशेष (xv) अविशेष में विशेषरूप परिवृत्त (xvi) साकाङ्क्षता (xvii) अपदयुक्तता (xviii) सहचरभिन्नता (xix) प्रकाशितविरुद्धता (xx) विध्ययुक्तत्व (xxi) अनुवादायुक्तत्व (xxii) त्यक्त पुनःस्वीकृत और (xxiii) अश्लील। ये 23 प्रकार के अर्थदोष कहे गये हैं।

5. रसदोष- सर्वप्रथम रस दोष का विवेचन ध्वनिकार ने किया था[2], परन्तु काव्यशास्त्रीय आचार्यों को वह अधिक व्यवस्थित नहीं लगा। तदनन्तर मम्मट और विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थों में रसदोषों का तर्कसङ्गत विवेचन किया। मम्मट ने 13 तथा विश्वनाथ ने 14 रसदोष बतलाये हैं। मम्मट का कथन है-

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।[3]

(i) व्यभिचारी भावों (ii) रसों अथवा (iii) स्थायिभावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कहना (स्वशब्दवाच्यता) (iv) अनुभाव और (v) विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति (vi) (रस के) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण करना (vii) (रस की) बार-बार दीप्ति (viii) (रस का) अनवसर

---

1. काव्यप्रकाश-सप्तम उल्लास-कारिका-55-57
2. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-19-20
3. काव्यप्रकाश-सप्तम उल्लास-कारिका-60-62

में विस्तार कर देना (ix) अनवसर में विच्छेद कर देना (x) अप्रधान (अङ्गरस) का भी अत्यधिक विस्तार कर देना (xi) (अङ्गी) प्रधान रस को त्याग देना (xii) प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और (xiii) अनङ्ग (अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है, उस) का कथन। इस प्रकार से रस में रहने वाले 13 दोष होते हैं । इन दोषों के अतिरिक्त ध्वनिकार ने जो कहा है कि-

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।[1]

अनौचित्य वर्णन ही रसभङ्ग का सबसे बड़ा कारण है। औचित्य का वर्णन ही रस परिपोष का परम रहस्य है। इसका समर्थन मम्मट ने भी किया है तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इसी को रस के 14 वें दोष के रूप में वर्णित किया है।

दोषों का नित्यत्व और अनित्यत्व– दोषों के विवेचन प्रसङ्ग में मम्मट ने यह भी कहा है कि- **अनुकरणे तु सर्वेषामु।**[2] अनुकरण में समस्त दोषों की अदोषता है अर्थात् दूसरों के दूषित पदों के प्रयोग का अनुकरण करके बतलाते समय वक्ता, जो उन दोषयुक्त पदों का उच्चारण करता है, उनसे वक्ता दोषभाक् नहीं होता है। क्योंकि -**वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ।**[3] वक्ता आदि के औचित्य के कारण कहीं दोष भी गुण हो जाते है और कहीं (गुण या दोष) दोनों नहीं होते हैं।

रसगत दोषों का अनित्यत्व तथा परिहार- पूर्वोक्त 13 प्रकार के रस दोष सभी अवस्थाओं में दोष नहीं रहते, विशेष अवस्थाओं में उनमें दोषत्व न रहकर गुणत्व ही हो जाता है। मम्मट का कथन है- **न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित्।**[4] कहीं ये (व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता आदि रस दोष; दोष नहीं रहते हैं। तथा-**सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।**[5]

---

1. ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत-कारिका-14 की वृत्ति
2. काव्यप्रकाश-सप्तम उल्लास-सूत्र-79
3. वही-कारिका- 59
4. वही-सूत्र-82
5. वही-सूत्र-63

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारीभाव (अनुभाव तथा विभाव) आदि का बाध्यत्वेन कथन करना (दोष नहीं अपितु) गुणाधायक होता है। पुनश्च आचार्य मम्मट ने कहा है–

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।।[1]

जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी है उसको भिन्न आश्रय में वर्णित करना चाहिए और जो नैरन्तर्य से विरोधी (रस) है उसको दूसरे (अविरोधी) रस से व्यवहित कर देना चाहिए। क्योंकि–

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।।[2]

विरोधी रस भी यदि – (i) स्मर्यमाण रूप में अथवा (ii) साम्य से विवक्षित हो तो दोष नहीं होता है। इसी प्रकार जो दो विरोधी रस (iii) किसी तीसरे प्रधान रस में अङ्गता को प्राप्त हों, वे परस्पर विरोधी (दुष्ट) नहीं रहते हैं।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने दोषों का विवेचन करते हुए उनकी अदोषता आदि का भी निरूपण किया है। मम्मट का कथन है कि कोई भी दोष सभी अवस्थाओं में दोष नहीं रह सकता। कवि अपनी प्रतिभा के बल से दोषों को भी गुणों में परिणत कर सकता है। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ दोनों आचार्यों ने दोषों के गुणों में परिणत होने वाली अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया है। यह सब प्रकरण उदाहरण सहित आकर ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य है। आचार्य विश्वनाथ का कथन है–

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता।।[3]

विद्वान् मनुष्य औचित्य की दृष्टि से दोषों में भी अदोषता, गुणता या दोष–गुणता का परिशीलन कर लेते हैं। जिस प्रकार आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्ती

---

1. काव्यप्रकाश–सप्तम उल्लास–कारिका–64
2. वही–कारिका–65
3. साहित्यदर्पण–सप्तम परिच्छेद–कारिका–32

काव्यशास्त्रीय परम्परा में विवेचित दोष स्वरूप तथा उनके भेद-प्रभेदों का विस्तार सहित विवेचन किया है, उसी प्रकार अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के भी कतिपय आचार्यों ने काव्यगत दोषों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है, परन्तु इनके द्वारा किया गया विवेचन आचार्य मम्मट द्वारा किये गये विवेचन से पूर्णतः प्रभावित है। इस शताब्दी के जिन-जिन आचार्यों ने दोष-दर्शन पर विचार किया है, क्रमशः उनके मतों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

पं० सीताराम शास्त्री ने अपने ग्रन्थद्वय-साहित्योद्देश तथा साहित्यसिद्धान्त में दोषों के विवेचन में मम्मट के मत को ही उद्धृत किया है।[1] पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने भी मम्मट एवं विश्वनाथ के अनुसार ही दोषों के स्वरूप तथा भेद का विवेचन किया है। इन्होंने रसापकर्षकाः दोषाः[2] कहते हुए पाँच प्रकार के दोषों-पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस दोषों का विवेचन किया है। आचार्य सर्वेश्वर कवि ने अपने ग्रन्थ साहित्यसार में 25 पद दोषों, 16 वाक्यदोषों तथा 7 प्रकार के वाक्यार्थ दोषों का विवेचन किया है।[3] इन्होंने भी विस्तारशः दोषों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। आचार्य छज्जूराम शास्त्री का कथन है-

काव्यापकर्षकाः दोषाः काव्यज्ञैः समुदीरिताः।
ते मयापि प्रदर्श्यन्ते छात्रबोध-बिबुद्धये।।[4]

काव्यापकर्षक जिन दोषों का काव्यज्ञों ने विवेचन किया है, शास्त्री जी का मत है कि वे भी छात्रबोध के निमित्त उसका निरूपण कर रहे हैं। इन्होंने 9 प्रकार के पद दोषों, 14 प्रकार के वाक्य दोषों तथा अर्थ दोषों का विवेचन करते हुए अलङ्कारगत दोषों का भी विवेचन किया है।

अभिनवकाव्यप्रकाशकार पं० गिरिधर लाल व्यास शास्त्री ने भी मम्मट के अनुसार ही दोषों का वर्णन किया है। इनके द्वारा किया गया विवेचन अतिविस्तृत है। यह प्रकरण अभिनवकाव्यप्रकाश के द्वितीय खण्ड के पाँच

---

1. साहित्योद्देश-उदाहरण परिशिष्ट भाग-पृ-179-201 तथा साहित्यसिद्धान्त-पृ० 122-29
2. साहित्यमञ्जरी-दोष प्रकरण-पृ०-6-18
3. साहित्यसार-द्वितीय प्रकाश-कारिका-38-82
4. साहित्यबिन्दु-तृतीय बिन्दु-कारिका-1

प्रकाशों में स्वोपज्ञ (कारिका) लक्षण तथा उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया गया है।[1] डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित ने अपने आङ्गलभाषीय ग्रन्थ UNIVERSAL POETICS में छः प्रकार के काव्यगत दोषों का विवेचन किया है।[2] डॉ० शङ्करदेव अवतरे ने पद, वाक्य तथा अर्थ आदि दोषों का विवेचन नहीं किया है। इन्होंने केवल रस दोषों तथा उनकी अदोषता का ही वर्णन किया है। इनके द्वारा किया गया रस दोष विवेचन भी मम्मट तथा विश्वनाथ पर ही आधृत है।[3] कविशेखर बदरीनाथ झा ने भी मम्मटानुसार ही पाँच प्रकार के दोषों यथा-पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रसदोषों का वर्णन किया है।[4]

इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में काव्यगत दोषों का विवेचन किया है। इनमें से कुछेक आचार्यों ने लक्षण तथा उदाहरण स्वनिर्मित दिये हैं तथा कुछ ने मम्मट के मत को यथावत् प्रस्तुत कर दिया है। प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी तथा प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने अपने ग्रन्थों में काव्यगत दोषों पर विचार-विमर्श नहीं किया है। काव्य दोषों पर प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों आचार्यों ने अपने-अपने मत अभिव्यक्त किये हैं। काव्यदोष की अधिकांश विवेचना तो बौद्धिक विलास का विषय बन जाती है, परन्तु जो सामान्य प्रकार के दोष हैं, उन पर कवि को जरूर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि काव्य के लक्षण प्रसङ्ग में समस्त पूर्वाचार्य तथा अर्वाचीन आचार्य एक स्वर में यही कहते हैं कि शब्दार्थौ सगुणौ दोषवर्जितौ काव्यम्। इसलिए दोष की परिहार्यता काव्य में अनिवार्य है।

---

1. अभिनवकाव्यप्रकाश-द्वितीय खण्ड-दशम से त्रयोदश उल्लास
2. यूनिवर्सल पोयटिक्स-तृतीय भाग-पृ०-23-29
3. अभिनवकाव्यशास्त्रम्-चतुर्थ आयाम-सूत्र-183-84
4. मैथिलकाव्यविवेक-छठम विराम-पृ०-75

सप्तम अध्याय

अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का मूल्याङ्कन

1. अर्वाचीन परम्परा पर पूर्ववर्तियों का प्रभाव -

काव्यशास्त्रविदों ने काव्यशास्त्र के रचना काल को चार भागों में विभाजित किया है-

(1) प्रारम्भिक काल-प्रारम्भ(वैदिक काल)से लेकर भामह तक

(2) रचनात्मक काल-सन्-550-750 ई० तक

(3) निर्णयात्म काल-सन्-751-950 ई० तक

(4) व्याख्या काल-सन्-951-1700 ई० तक

इन चारों कालखण्डों में क्रमानुसार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचनाएँ एवं उनका व्याख्यान होता चला आया है। प्रारम्भिक काल से प्रत्येक शताब्दी के आचार्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करते रहे हैं तथा इन ग्रन्थों पर परवर्ती आचार्यों द्वारा टीका-टिप्पणी भी की जाती रही है। परन्तु यदि पूर्वकृत ग्रन्थ में किसी तथ्य की व्याख्या अवशिष्ट रह गई अथवा उनमें कोई गुन्जाईश या कमी रह गई तो परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभा के बल से उसे पूरा करने का प्रयास किया है। ग्रन्थकृत उस कमी-वेशी (न्यूनाधिक्य)को पूरा करने के साथ-साथ तत्तत् युगीन आचार्यों द्वारा अपने-अपने ग्रन्थों में किञ्चिद् मौलिक अवधारणाओं का भी प्रादुर्भाव किया जाता रहा है। इसी प्रकार की प्रक्रिया का दर्शन अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में किया जा सकता है। यद्यपि पण्डितराजजगन्नाथ पर्यन्त काव्यशास्त्र का पूर्णतः खण्डनात्मक-मण्डनात्मक मन्थन हो चुका था तथापि उसमें भी आचार्यों ने

व्याख्यान के अवसर का अनुसन्धान कर लिया और काव्यशास्त्रीय परम्परा को अग्रसारित किया।

जिस प्रकार काव्यशास्त्र की पूर्ववर्ती (प्राचीन) परम्परा में भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा प्रणीत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी मौलिक उद्भावनाओं को ग्रन्थबद्ध कर देने के अनन्तर भी, उन्हीं का व्याख्यान-पुनर्व्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रमशः होता चला आया है, उसी प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी पूर्वाचार्यों की अनुकृति पर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की और अपने नवीन तर्कों, किञ्चिद् मौलिक उद्भावनाओं के साथ काव्यशास्त्रीय परम्परा को समृद्धशील करने का प्रयास किया है। अर्वाचीन आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य लक्षणों एवं सिद्धान्तों को व्याख्यायित कर उसे विविध दृष्टिकोण से देख-परख कर, जहाँ सरलतम रूप में प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयत्न किया है, वहीं कहीं-कहीं विभिन्न तथ्यों के सन्दर्भ में अपनी मौलिक उद्भावनाओं का भी प्रकटीकरण किया है।

प्रायः समस्त आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों का अनुकरण करके ही ग्रन्थ-रचना में प्रवेश करते हैं और पूर्वाचार्यों के ही मत के प्रस्तुतीकरण (व्याख्यान) में परिष्कार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा किये गये परिष्कारपूर्वक व्याख्यान में भी नवीनता का बोध होता है। यह समस्त तथ्य अर्वाचीन काकशास्त्र की परम्परा में पूर्णतः परिलक्षित होते हैं। अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा पर पूर्ववर्तियों का प्रभाव भी किञ्चिद् काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के व्याख्यान में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यद्यपि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विवेचन के सन्दर्भ में अपनी विचारधारा की नूतन सरणि को उपस्थापित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनके द्वारा निर्मित किये जाने वाले वैचाधारिक राजमहल की नींव तो उन्हें पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा रूपी जमीन पर ही स्थापित करनी पड़ेगी। इस सन्दर्भ का स्पष्टतः निराकरण करने के लिए प्रो॰ राजेन्द्र मिश्र द्वारा कहा गया यह कथन समीचीन प्रतीत होता है-

यथा दर्शन शास्त्रेषु ब्रह्ममायाऽत्मबुद्धयः।

अहङ्कारमनः पञ्चमहाभूतेन्द्रियादयः।।
सर्वे प्रत्यभिज्ञायन्ते निजादूढस्वरूपतः।
पुनर्लक्षणस्वातन्त्र्यं यथा तेषां न विद्यते।।
तथैव काव्यशास्त्रेऽपि किञ्च शास्त्रान्तरेऽखिले।
नास्ति सिद्धप्रमेयाणामन्यथा ख्यापनौचिती।।
गुणालङ्काररीतीनां यथाज्ञापितलक्षणम्।
विज्ञायापि मतिं कुर्यात्कस्तत्प्रतननान्तरे।।[1]

प्रो० मिश्र का मानना है कि जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में ब्रह्म, माया, आत्मा, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चमहाभूत, तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ आदि समस्त तत्त्व अपने रूढ़ (शास्त्रसम्मत) स्वरूप से पहचाने जाते हैं। इसलिए उनके पुनर्लक्षण की स्वतन्त्रता (अधिकार) किसी को नहीं होती है। उसी तरह काव्यशास्त्र में भी अथवा यह कहा जाय कि अन्यान्य समस्त शास्त्रों में भी सिद्ध (सर्वात्मना निर्णीत एवं स्वीकृत) प्रमेयों के अन्यथाख्यापन (अन्य रूप में व्याख्या या स्थापना) का कोई औचित्य नहीं है। अतः गुणों, अलङ्कारों तथा रीतियों आदि समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के प्रतिष्ठित लक्षणों को जानकर भी कौन उनकी नई व्याख्या का समादर करेगा? क्योंकि सब कुछ तो पूर्व ही व्याख्यात हो चुका है। परन्तु फिर भी उन पूर्व व्याख्यात काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के सन्दर्भ में, प्रत्येक पूर्वाचार्य के मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना के अनन्तर, उत्तरवर्ती आचार्य उन तत्त्वों की स्थापना तो पुनः नहीं करते अपितु उनके व्याख्यान में अपने तर्कों और कसौटियों को संयोजित कर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। इसी का परिणाम है अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय चिन्तन, जिसमें विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी मौलिक विचारधाराओं से ओत-प्रोत ग्रन्थों की रचना कर उनका तर्कसहित व्याख्यान प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों के द्वारा किये गये व्याख्यान में उनकी मौलिकता प्रकट हुई है और पूर्ववर्ती आकर ग्रन्थों के प्रभाव भी परिलक्षित हुए हैं।

काव्यशास्त्र में रूढ़ (प्रचलित) काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों, तत्त्वों तथा शास्त्रीय शब्दादि को पूर्ववर्तियों से यथावत् ग्रहण करना भी, पूर्ववर्ती परम्परा

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-तृतीय अंश-कारिका-9-12

का उत्तरवर्ती परम्परा पर सामान्यरूपेण प्रभाव का ही द्योतक है। परन्तु काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के विश्लेषण के सन्दर्भ में आचार्यगण प्रायः अपने पूर्ववर्ती जिन-जिन आचार्यों के मतों का अनुकरण करते दीखते हैं, वे उससे प्रभावित प्रतीत होते हैं। फलतः अर्वाचीन आचार्यगण भी इस परम्परानुगत अनुकरणात्मक प्रभाव से वञ्चित नहीं रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तीन प्रकार (कोटि) के ग्रन्थ सम्मिलित हैं- प्रथम वे हैं, जिनमें मात्र अलङ्कारों के लक्षण एवं उदाहरण दिये गये हैं; जिनका परिचय प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है। इनमें किसी प्रकार के मौलिक चिन्तन या नवीनोद्भूत अलङ्कारों का सर्जन नहीं दिखाई देता है। प्रत्येक आचार्य केवल अलङ्कारों के सन्दर्भ में स्वोपज्ञ लक्षण एवं उदाहरणों को ही नवीन ढङ्ग से सरसता एवं सरलता के साथ प्रस्तुत करने में प्रयासरत दिखाई देते हैं। श्री गजानन शास्त्री करमलकर ने अलङ्कारों के सन्दर्भ में अपने ग्रन्थ लोकमान्यालङ्कार में नया प्रयास किया है। उन्होंने स्वोपज्ञ लक्षणों के साथ उदाहरणों में लोकमान्यबालगङ्गाधरतिलक की देशभक्ति एवं उनके भावगाम्भीर्यपूर्ण उज्ज्वल चरित्र को अङ्कित करने का उत्तम प्रयास किया है। पं० नित्यानन्द शास्त्री ने अपने ग्रन्थ लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण, जिसका अपर नाम 'देवीस्तवः' भी है, में आचार्य ने देवी भगवती (दधिमथी) की स्तुति में 40 पद्य रचे हैं। इन प्रत्येक पद्यों में कवि ने एक छन्द और एक अलङ्कार को समन्वित रूप में दर्शाया है। इस शताब्दी में विद्वान् आचार्य द्वारा किया गया यह पाण्डित्यपूर्ण प्रयास है। इसके अतिरिक्त डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने अपने ग्रन्थ वस्त्वलङ्कारदर्शनम् में किञ्चिद् मौलिक परिवर्तनों के साथ अलङ्कारों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है।

द्वितीय कोटिक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें काव्यशास्त्र के किसी एक या एक से अधिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। ये ग्रन्थ हैं- श्री आनन्द झा विरचित-ध्वनिकल्लोलिनी अथवा ध्वनिसाहस्री, पं० यदुनाथ झा विरचित व्यञ्जनावाद, पं० लेखनाथ झा विरचित रसचन्द्रिका, स्वामी करपात्री जी विरचित भक्तिरसार्णव, पं० रामावतार मिश्र विरचित रसचन्द्रिका तथा व्यञ्जनावृत्तिविचार, प्रो० जगन्नाथ पाठक विरचित सौन्दर्यकारिका, प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय विरचित

सौन्दर्यदर्शनविमर्श, प्रो० शिवजी उपाध्याय विरचित साहित्यसन्दर्भ, प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी विरचित रसवसुमूर्ति तथा प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार विरचित चमत्कारविचारचर्चा आदि। इन ग्रन्थों में विद्वान् आचार्यों ने अपनी-अपनी विलक्षण प्रतिभा से काव्यत्वों के विवेचन में मौलिकता के पुट उपस्थापित किये हैं। डॉ० हरिश्चन्द्र दीक्षित के ग्रन्थ भी इसी कोटि में आते हैं। उन्होंने काव्यात्मा, काव्यतत्त्वविमर्श तथा काव्यात्मनिर्णय जैसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों में विद्वान् आचार्य ने पूर्वाचार्यों मम्मट तथा विश्वनाथ आदि के मतों का यत्र-तत्र खण्डन-मण्डन करते हुए अपनी प्रतिभा प्रखरता का परिचय दिया है। इसी कोटि में प्रो० अमरनाथ पाण्डेय विरचित ग्रन्थ काव्यसिद्धान्तकारिका है। कविशिक्षा पर प्रो० पाण्डेय विरचित इसमें उत्तम कारिकाएँ हैं।

तृतीय कोटिक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें समस्त तो नहीं लगभग अधिकांश काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इनका भी विस्तृत परिचय प्रथम अध्याय में दिया जा चुका है। ये हैं-पं० श्रीपाद शास्त्री हसूरकर विरचित साहित्यमञ्जरी, श्री कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा विरचित साहित्यविमर्श, श्री सर्वेश्वर कवि विरचित साहित्यसार, आचार्य छज्जूराम शास्त्री विरचित साहित्यबिन्दु, पं० सीताराम शास्त्री विरचित साहित्योद्देश तथा साहित्यसिद्धान्त और डॉ० रमाशङ्कर तिवारी विरचित काव्यतत्त्वविवेक आदि। इन ग्रन्थों में अधिकांश ग्रन्थ आचार्य मम्मट से प्रभावित हैं। इन ग्रन्थों में जिन-जिन काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है, वे पूर्णतः मम्मट के ग्रन्थ काव्यप्रकाश पर आधारित हैं। प्रकृत ग्रन्थ में किये गये अध्याय विभाजन के अनुसार प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत क्रमशः जिन-जिन काव्यतत्त्वों के विवेचन का प्रसङ्ग आया है, वहाँ पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हुए अर्वाचीन आचार्यों के मत को भी प्रस्तुत किया गया है। पूर्ववर्ती (पण्डितराज तक) एवं परवर्ती (अर्वाचीन) परम्परा दोनों के मतों के प्रस्तुतीकरण के समय ही अर्वाचीन परम्परा के जो आचार्य प्राचीन परम्परा के जिस आचार्य से प्रभावित हैं, उसे वहीं उल्लिखित कर दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तृतीय कोटि में ही कतिपय ऐसे ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं,

जिन्हें इस ग्रन्थ का प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ कहा गया है। वे हैं- डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यसत्यालोक, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत काव्यालङ्कारकारिका, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र, प्रो० राजेन्द्र मिश्र प्रणीत अभिराजयशोभूषणम् तथा प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी प्रणीत नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा आदि। यद्यपि इन ग्रन्थों में विवेचित अधिकांश काव्यशास्त्रीय तत्त्वों में रचनाकारों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने मौलिकता के पुट पिरोये हैं, तथापि उन पर भी प्राचीन परम्परा के प्रभाव की ही परिपुष्टि होती है, क्योंकि वे प्राक्तन परम्परा से कहीं न कहीं से संग्रहीत हैं।

ii. अर्वाचीन परम्परा के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मौलिकता -

अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में कतिपय ग्रन्थों के प्रणेताओं ने अपने-अपने ग्रन्थों में किञ्चिद् नूतनोद्भूत मौलिक अवधारणाओं को भी उद्घाटित किया है। काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के सन्दर्भ में अर्वाचीन आचार्यों ने जो व्याख्यान दिये हैं, उनका जो कथन है, उन्होंने जो अपने मौलिक तर्क उपस्थापित किए हैं अथवा किसी भी तत्त्व की व्याख्या के प्रसङ्ग में उनकी मौलिक उद्भासना का जो विन्यास क्रम है या प्रकारान्तर से अपनी विचार-सरणि को उपन्यस्त करने का जो प्रयास है, वही उनकी मौलिक अवधारणाएँ हैं।

अर्वाचीन आचार्यों ने जहाँ एक ओर काव्यशास्त्र के विवेच्य विषयों यथा-काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, काव्यभेद, शब्दशक्ति, रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य आदि के सन्दर्भ में अपने मौलिक तर्कों के आख्यान-प्रत्याख्यान उपस्थापित किये हैं, वहीं किञ्चिद् नवीन मौलिक तथ्यों (उद्भावनाओं) को भी काव्यशास्त्र में उपन्यस्त (संयोजित) कर परम्परा को (संस्कारित) पल्लवित एवं पुष्पित करने का प्रयास किया है।

प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार ने अपने ग्रन्थ चमत्कारविचारचर्चा में काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध षट्सम्प्रदायों यथा-रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य सम्प्रदाय में सप्तम सम्प्रदाय के रूप में चमत्कार सम्प्रदाय और सिद्धान्त की उद्भावना (स्थापना) की, जो काव्यशास्त्र में वृद्धि का पर्याय है। उन्होंने चमत्कार को काव्य की आत्मा घोषित कर उसके लक्षण एवं स्वरूप का निर्धारण किया

है। इस सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ के काव्यात्मविमर्श नामक चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

इसी प्रकार प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ अभिनव-काव्यालङ्कारसूत्र में चार प्रकार की नवीन रीतियों तथा 10 प्रकार के नवीन अलङ्कारों का विवेचन किया है। इनमें रीतियों का विवेचन प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में कविव्यापार निरूपण के अन्तर्गत किया जा चुका है। अलङ्कारों का लक्षण सहित विवेचन इसी अनुक्रम में आगे किया जायेगा। प्रो० त्रिपाठी द्वारा अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में संयोजित की गई ये उनकी मौलिक अवधारणाएँ हैं। इसी क्रम में प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने अपने ग्रन्थ अभिराजयशोभूषणम् में काव्यशास्त्र का विस्तार करते हुए किञ्चिद् मौलिक तथ्यों की स्थापना की है। उन्होंने जहाँ एक ओर युगानुरूप (आज के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य को अभिलक्षित कर) महाकाव्य के लक्षण, नाटक के लक्षण, एकाङ्की, कथनिका तथा अन्यान्य अर्वाचीन युगीन काव्यविधाओं के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, वहीं अपने ग्रन्थ में प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष के अन्तर्गत गीतिसन्दर्भ के प्रकरण में गीति लक्षण, गजल-लक्षण, लोकगीतों में-कजरी, फाल्गुनिक (फाग), चैत्रक (चैता), रसिक (रसिया), वटुकगीत (वरुआ), नक्तम् (नकटा), प्रचरण (पचरा), उत्थापन (उठान), लाङ्गलिकम् (लांगुरिया), स्कन्धहारीय (कँहरवा), उष्ट्रहारिकम् - (उँटहारागीत) आदि का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया है। ये गीत विभिन्न प्रान्तों के सामाजिक रीति-रिवाजों तथा विवाहपद्धति आदि के सन्दर्भ में गाये जाते हैं। इन गीतों की महत्ता एवं उनका स्वरूप निर्धारण करते हुए प्रो० मिश्र का कथन है-

न तथा व्यञ्जनैस्तृप्तिर्यथा हि चषकाम्भसा।
ननु घर्माभितप्तस्य पथिकस्याभिजायते।।
तथैव रसिकस्याऽपि महाकाव्यानुशीलनात्।
जायते न तथाऽऽनन्दो यथा गीतेन तत्क्षणम्।।
अलङ्काररसौचित्यध्वनिवक्रोक्तिरीतिभिः।
तस्मादलं यतो गीतं काव्यस्यात्मेति निश्चितम्।।

अलङ्कारादयस्सर्वे कल्लोला इव चञ्चलाः।
उद्भवन्ति विलीयन्ते सन्ततं गीत सागरे।।
तस्मादद्यतने काव्ये गीतमेव महीयते।
अमन्दानन्दसन्दोहस्रोतस्वादधिसंस्कृतम्।।[1]

इस प्रकार कर्णकुहरों को अमृततुल्य अतिशयानन्द प्रदान करने वाले गीत का महत्व प्रतिपादित कर प्रो० मिश्र ने उसके दो भेदों को बतलाया है। उनका कथन है-

धातुमातुसमायुक्त यद्धि नादाऽक्षरात्मकम्।
कर्णामृतं विभक्तञ्च द्विधा गीत प्रशस्यते।।[2]

धातु एवं मातु से समन्वित होकर नादात्मक एवं अक्षरात्मक- इन दो रूपों में गीत विभक्त है। धातुज गीत वह है जो वीणा आदि यन्त्रसमूह से प्रस्फुटित होता है। मातुज गीत को मुखग कहा जाता है जो गायन के रूप में विद्यमान है। यही गीत जब शास्त्र-सम्मत रागों (भैरवी, केदार, धनाश्री आदि) के माध्यम से गाया जाता है तो रागकाव्य और सङ्गीतशास्त्रीय नियमों से विनिर्मुक्त होकर, किसी भी प्रकार के बन्धन (बन्दिश) से मुक्त होकर गाया जाता है तो लोकगीत कहा जाता है। इस प्रकार प्रो० मिश्र ने नाट्यशास्त्र तथा सङ्गीतशास्त्र में उल्लिखित गीतों के लक्षण एवं भेद को प्रस्तुत कर काव्यशास्त्र का विस्तार किया है। प्रो० मिश्र द्वारा अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा में किया गया यह प्रशंसनीय प्रयास है।

इसी क्रम में प्रो० रहस बिहारी द्विवेदी ने भी काव्यशास्त्रीय परम्परा में अपनी प्रतिभा पटिष्टता का परिचय देते हुए अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा को समृद्धशील किया है। उन्होंने संस्कृत हिन्दी में प्रचलित काव्यविधा के दोनों भेदों-दृश्य और श्रव्य काव्यों के लक्षणों को तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही वैदेशिक भाषा-साहित्य में प्रचलित हाईकू, तान्का तथा सीजो आदि काव्यों के भी लक्षण को संस्कृत में प्रस्तुत किया है। इन समस्त लक्षणों को इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय (काव्यभेद के प्रकरण) में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त

1. अभिराजयशोभूषणम्- (प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष)-पञ्चम अंश-कारिका-4-8
2. वही-कारिका-13

प्रो० द्विवेदी ने दो नवीन रसों-राष्ट्रभक्तिरस एवं विक्षोभरस की भी उद्भावना (परिकल्पना) की है। राष्ट्रभक्तिरस का लक्षण करते हुए प्रो० द्विवेदी का कथन है-

स्थायीभावोऽस्य राष्ट्रस्यानुरागस्तद्धिताहवहः।
आलम्बनं च राष्ट्राय जीवनाहुतिभावनम्।।
उद्दीपनं च राष्ट्रस्य शान्तिभङ्गोऽथ वञ्चकम्।
अनुभावोऽस्य राष्ट्रस्य संरक्षणविचेष्टितम्।।
व्यभिचारिण एतस्य हुतात्मत्वादिभावना।
राष्ट्रं सुरक्षितं भात्विति पोषमुपेत्यसौ।।[1]

इसी प्रकार विक्षोभरस का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है -

स्थायीभावोऽस्य संवेगः स च संवेदनात्मकः।
आलम्बनं च सन्तापो दलितानां च पीडनम्।
उद्दीपनं परौद्धत्यं दीनानां शोषणं छलम्।
अनुभावोऽस्य संघर्षचेष्टा क्लेशसमुद्भवा।।
व्यभिचारिण एतस्यामर्षवेगदयादयः।
सुखिनः सन्तु सर्वेऽपीति प्रक्षोभस्य भावना।।[2]

इस प्रकार प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा में इन नवीन उद्भावनाओं की अभिव्यक्ति की है। प्रो० द्विवेदी द्वारा संस्कृत-साहित्य एवं काव्यशास्त्र के क्षेत्र में किया गया यह प्रशंसनीय प्रयास है जो काव्यशास्त्रीय परम्परा की अभिवृद्धि का द्योतक है।

उपर्युक्त विवेचित समस्त काव्यांश अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में मौलिक अवधारणओं को अभिव्यक्ति करते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र की कीर्तिपताका को गौरवान्वित करने वाले एवं यशस्विता प्रदान करने वाले इन अंशों से अर्वाचीन की काव्यशास्त्रीय परम्परा अभिवृद्धि को प्राप्त हुई है। इन अतिरिक्त संयोजित काव्यांशों के अनन्तर अब ग्रन्थ में सम्मिलित प्रतिनिधिभूत

---

1. दूर्वा-द्वितीयोन्मेष- (अप्रैल-मई-जून-2005)-पृ०-95
2. वही-पृ०-95

ग्रन्थों के अन्तर्गत विवेचित काव्यशास्त्रीय अन्य तथ्यों के सन्दर्भ में आचार्यों ने जिन मौलिक अवधारणाओं की अभिव्यक्ति की है, उन्हें क्रमशः संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है, क्योंकि इनका विस्तृत विवेचन प्रबन्धगत तत्तत् अध्यायों में किया जा चुका है।

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में काव्य के विभिन्न तत्त्वों के विवेचन प्रसङ्ग में अपनी गहनानुशीलना विलक्षण बुद्धि के द्वारा अनेक मौलिक अवधारणाओं की स्थापना की है। सर्वप्रथम उन्होंने काव्य को अभिलक्षित करके उसका लक्षण किया है कि काव्य ज्ञानात्मक है और अलङ्कार उसकी आत्मा है। इस सन्दर्भ में उनका कथन है-

काव्यं ज्ञानं अलङ्कारस्तस्यात्मा मध्यमाभिधा।
संविद्व्यभिचारेण तत्रोपाधिश्च वाग्विदे।।[1]

काव्य ज्ञान है और अलङ्कार उसकी आत्मा है, उसमें बिना व्याभिचार के उपाधि बनती है मध्यमा संवित्, किन्तु वाक्तत्त्व के ज्ञाता के लिए। यद्यपि प्रो० द्विवेदी ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा माना, परन्तु वह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि प्राचीन आलङ्कारिकों- भामह, दण्डी आदि ने अलङ्कार को ही काव्य का आत्मा प्रतिपादित किया है। परन्तु एक लम्बे समय के अन्तराल (8-9 वीं शताब्दी के बाद 20वीं शताब्दी में) प्रो० द्विवेदी ने इस मान्यता में अपने मौलिक तर्क उपस्थापित किये हैं, जो उनकी मौलिक उद्भावना तथा अर्वाचीन काव्यशास्त्र में किया गया नूतन प्रयास है।

प्रो० द्विवेदी का मत है कि शब्दत्व वाणी के चार स्वरूपों यथा- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी में केवल बैखरी तक सीमित रहता है। मध्यमा, पश्यन्ती और परा संवित् हैं। बैखरी के रूप में भी शब्द काव्य नहीं है, क्योंकि अनुवाद में वह बदल जाता है और मूककवि में सर्वथा उसका अभाव रहता है। काव्य तक शब्द नहीं अपितु शब्द का ज्ञान पहुँच पाता है और वह भी काव्य की उपाधि ही बना रहता है काव्य नहीं। शब्द के परिवर्तन से काव्य नहीं केवल सङ्गीत धर्म ही परिवर्तित होते हैं। आनन्दकोष को उल्लसित करने वाला अलङ्कार से युक्त वाक्यार्थ होता है। अलङ्कार अलम्भावात्मक है। अल् का

1. काव्यालङ्कारकारिका- अधिकरण- 11 - कारिका - 251

अर्थ ब्रह्मतत्त्व भी है और वाणी भी जिसे अल् प्रत्याहार (अइउण्, हल् तक के अपौरुषेय वर्ण समाम्नाय) के रूप में देखा जाता है।

स्वात्मा ब्रह्म ही है, अतः आनन्दानुभूति का मुख्य केन्द्र ब्रह्म ही है, स्वात्मा या प्रत्यक्चैतन्य के रूप में। अतः 'अल' तत्त्व ही सौन्दर्यशास्त्र का सर्वप्रमुख तत्त्व है। रसादि अभिधेय नहीं हैं तो उपमादि अलङ्कार भी। माधुर्यादि गुण काव्यशरीर की पूर्णता के बोधक हैं और औपम्यादि उसमें लावण्यादि सदृश हैं। अर्थज्ञानात्मक काव्य में अनुप्रासादि अलङ्कार स्वरात्मक सङ्गीतधर्म हैं, इसलिए कुमारसम्भव के हिमालय से दुनिया दब नहीं जाती। शब्द, अर्थ और इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध-ये तीनों काव्य में केवल ज्ञानात्मक ही ठहरते हैं। अर्थज्ञान शब्दज्ञान से होता है, अतः इन तीनों ज्ञानों में सम्बन्ध भी ज्ञानात्मक ही होगा। इन सबका काव्यशरीर में प्रतिबिम्बवत् समवाय या तादात्म्य ही होता है। अलम्भावात्मक अलङ्कार काव्यशरीर में रहता है; अतः वही काव्य का आत्मा कहा जा सकता है, रस नहीं क्योंकि आस्वाद के रूप में रस सहृदय में रहता है और केवल उसकी अभिव्यञ्जक सामग्री काव्य में रहती है, जिसे रसोक्ति नामक अलङ्कार कहा गया है। काव्य का उपादान और निमित्त प्रतिभा बनती है; अतः काव्य में भी वेदान्त के समान अभिन्न- निमित्तोपादानवाद प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार प्रो० द्विवेदी ने काव्य के प्रयोजन के सन्दर्भ में कहा है कि कभी-कभी काव्यनिर्माण में कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसके उदाहरणस्वरूप वाल्मीकि और तुलसीदास को उपस्थापित किया है। इसके अतिरिक्त वृहत्तर प्रयोजन की भी चर्चा की है- जैसे राष्ट्रदेव प्रबोध तथा धर्मरक्षा आदि।

उपर्युक्त विवेचित काव्य सम्बन्धी समस्त मौलिक विचार धाराएँ प्रो० द्विवेदी की मौलिक अवधारणाएँ हैं, जो अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र में समीक्षकों के लिए समीक्षा का नया आयाम प्रदान करने वाली हैं। इसी प्रकार प्रो० द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ में अन्यान्य और भी मौलिक बातें बतलायी हैं। इसके विस्तृत ज्ञान के लिए तद्ग्रन्थ अनुशीलनीय है।

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी की भाँति डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा ने भी अपने ग्रन्थ काव्यसत्यालोक में काव्य में एक अभिनव तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वह है-सत्य। काव्य का लक्षण करते हुए डॉ० शर्मा का कथन है-

शब्दार्थवर्ति सत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयम् सत्यस्यात्र विशेषता।।[1]

काव्य में अवस्थित सत्य का रमणीय प्रतिपादन ही काव्य का लक्षण है, क्योंकि सत्य का इसमें वैशिष्ट्य रहता है। डॉ० शर्मा का मत है कि सत्य सभी को अभीष्ट होता है और काव्य में भी सत्य की स्थिति होती है। इस सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने से तीव्र प्रभावकारिता आती है। यह प्रभावकारिता ही काव्य में चमत्कार कहलाती है। शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को काव्य कहते हैं। यह काव्य-सत्य एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसमें शब्द, अर्थ, अलङ्कार, व्यञ्जना, रस, गुण आदि समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है।

इस प्रकार डॉ० शर्मा ने काव्य में सत्य की स्थापना कर उसे काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसी प्रकार उन्होंने तीन प्रकार के काव्य भेदों में- उत्तमकाव्य में लोकगत सत्य का वर्णन माना है। उनका कथन है कि जगत्क्षेत्र कर्मक्षेत्र है और कर्मयोग उत्तम होता है। मध्यम- काव्य में प्रतिपाद्य अलौकिक होता है तथा इस प्रतिपाद्य में वस्तु, पात्र के भावों का समावेश होता है। तृतीय प्रकार के अधम-काव्य में काव्यगत सत्य की केवल अनुभूति होती है, इसगें बौद्धिक सिद्धान्तों का प्राधान्य रहता है। इसमें केवल काव्याङ्गों की आभासरूपता रहती है। काव्यहेतु के रूप में डॉ० शर्मा ने शक्ति और श्रम को महत्त्व प्रदान किया है। उनका मत है कि शक्ति प्रधान होती है तथा श्रम की भी उपयोगिता रहती है। इसी प्रकार काव्यप्रयोजन के सन्दर्भ में उनका कथन है कि कवि की प्रवृत्ति जो सत्य में होती है, वही काव्य में परिवर्तित होती है, उसमें कोई प्रयोजन नहीं होता, अपितु कविस्वभाव ही प्रवर्तित होता है। डॉ० शर्मा ने काव्य में केवल दो प्रकार के गुण-माधुर्य और ओज को माना है। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों में भी सत्य की व्यापकता को निरूपित कर डॉ० शर्मा ने अपनी मौलिक अवधारणाओं की अभिव्यक्ति की है। यह अवधारणाएँ भी साहित्यशास्त्र में समीक्षा का दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी की भाँति अलङ्कारवादी

---

1. काव्यसत्यालोक-पञ्चम उद्योत-कारिका-64

आचार्य हैं। इन्होंने भी प्रो० द्विवेदी की तरह अलङ्कार को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है- **अलङ्कारः काव्यजीवनम्। आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिक विश्वत्रयसमुन्मीलन पुरस्सरं- भूषणवारणपर्याप्त्याधायकत्वमलङ्कारत्वम्।**[1]

अलङ्कार काव्य का जीवन है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, इस विश्वत्रय का जिसमें समुन्मीलन हो तथा जो भूषण, वारण और पर्याप्ति के आधायक तत्त्व हैं, वे अलङ्कार हैं। प्रो० द्विवेदी की ही भाँति प्रो० त्रिपाठी ने कहा है कि- **अलम्भावास्तुपूर्णता।**[2] पूर्णता ही अलम्भाव है। अलम्भाव का अधिष्ठान मनुष्य चैतन्य है अथवा चैतन्य इसी में प्रतिष्ठित है, यह भी कहा जा सकता है। प्रो० त्रिपाठी का मत है कि चेतना का व्यापकीभवन और तन्मयीभवन इसी के दो पक्ष हैं।

प्रो० त्रिपाठी ने **लोकानुकीर्त्तनमकाव्यं**[3] कहकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को काव्य में पर्यवसित बतलाया है। अनुन्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव और अनुव्याहरण-ये अनुकीर्त्तन की चार अवस्थाएँ हैं। इनके विनियोग से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्व काव्य में परिपूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। यही काव्य की परिपूर्णता है और यही अलङ्कार है। अतएव अलङ्कार ही काव्य है।

इसी प्रकार काव्यप्रयोजन के सन्दर्भ में **मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्** कहकर काव्य का प्रयोजन मुक्ति को बतलाया है तथा कतिपय नवीन अलङ्कारों की भी उद्भावना की है। ये अलङ्कार अधोलिखित हैं-

(i) प्रेमालङ्कार- इसका लक्षण करते हुए प्रो० त्रिपाठी का कथन है- **प्राणिषु परस्परमहैतुकी संवेदना प्रेमा।**[4] प्राणियों में परस्पर अहैतुकी संवेदना प्रेमालङ्कार है।

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-प्रथम अध्याय
2. वही-तृतीय अध्याय
3. वही-प्रथम अध्याय
4. वही-पञ्चम-अध्याय-पृ०-60

(ii) आह्लादालङ्कार- आह्लादस्तु आनन्त्यानुभूतिः[1] अलम्भाव के आधान के द्वारा काव्य में जिस आनन्त्य का समुल्लास होता है तथा जो कवि और भावक दोनों के मन में आनन्त्यानुभव का सृजन करता है वह आह्लादालङ्कार है।

(iii) विषादन- इष्यमाणार्थानामसिद्धौ विरुद्धानां च सम्प्राप्तौ विषादनम्।[2] इष्यमाण (अभीप्सित) अर्थों की असिद्धि और विरुद्ध (अनीप्सित) की प्राप्ति होने पर विषादन अलङ्कार होता है।

(iv) विभीषिका- जुगुप्सान्वितं तदेव विभीषिका स्यात।[3] जब विषादन अलङ्कार जुगुप्सा से अन्वित होता है तो विभीषिका अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार के द्वारा अमङ्गल, अशुचि, और परिजिहीर्षा अभिव्यञ्जित होती है।

(v) व्यङ्ग्यलङ्कार- विरूपीकरणं व्यङ्ग्यम्। विडम्बना वा।[4] विरूपीकरण व्यङ्ग्य अलङ्कार है। नामान्तर से इसी को विडम्बना कहा गया है। व्यङ्ग्य को विकलाङ्गत्व कहा गया है।

(vi) कौतुक- कुतूहलं तु कौतुकम्।[5] कुतूहल ही कौतुक अलङ्कार है।

(vii) जिजीविषा- जीवनेच्छा जिजीविषा।[6] जीवनेच्छा ही जिजीविषा अलङ्कार है।

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-पृ०-63
2. वही-पृ०-63
3. वही-पृ०-67
4. वही-पृ०-69
5. वही-पृ०-71
6. वही-पृ०-72

(viii) अहङ्कार- आत्मनोऽनुभवस्त्वहङ्कारः।[1] आत्मानुभव ही अहङ्कार अलङ्कार है।

(ix) स्मरण- पूर्वानुभूतस्य पुनरुन्मीलनं स्मृतिः।[2] पूर्वानुभूत का पुनरुन्मीलन ही स्मृति अलङ्कार है।

(x) साक्ष्य- जीवनस्य दर्शनं साक्ष्यम।[3] जीवन का दर्शन ही साक्ष्य अलङ्कार है।

इस प्रकार प्रो० त्रिपाठी ने इन 10 प्रकार के अलङ्कारों की सृष्टि की है। यहाँ पर केवल इनके लक्षणों को परिचय स्वरूप उपस्थापित किया गया है। इनके उदाहरण तद्ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य हैं। इन अलङ्कारों के अतिरिक्त प्रो० त्रिपाठी ने चार प्रकार की रीतियों की भी उद्भावना की है। ये हैं- व्यासरीति, विडम्बनरीति, चेतनाप्रवाहरीति तथा वार्तालापरीति। इनका लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त भी प्रो० त्रिपाठी ने साहित्यवृक्षकारिका के रूप में 13 मौलिक कारिकाओं में अद्भुत साहित्यवृक्ष की परिकल्पना की है।

प्रो० त्रिपाठी द्वारा की गई यह मौलिक उद्भावनाएँ अर्वाचीन साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवप्रयास हैं। प्रो० त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण यद्यपि भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र के 'भावानुकीर्तनं नाट्यम्' का ही अनुकरण है, तथापि प्रो० त्रिपाठी ने अपनी पारदर्शी प्रज्ञा के द्वारा इसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखने का सराहनीय प्रयास किया है। प्रो० त्रिपाठी प्रणीत ग्रन्थ अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र भी साहित्यशास्त्र में समीक्षा का केन्द्रबिन्दु है।

प्रो० राजेन्द्र मिश्र ध्वनिवादी (रसवादी) आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ अभिराजयशोभूषणम् में समग्र काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों के मतों का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए अनेक मौलिकता के तथ्य उद्घाटित किये हैं। प्रो० मिश्र ने भी किञ्चिद् नवीन उद्भावनाओं के साथ अपने ग्रन्थ में सम्पूर्ण

---

1. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र-द्वितीय अधिकरण-वही-पृ०-74
2. वही-पृ०-77
3. अभिराजयशोभूषणम्-परिचयोन्मेष नामक प्रथम अंश में काव्यलक्षण प्रकरण-कारिका-34

लक्षण स्वोपज्ञ नवीन युगानुरूप तथा उदाहरण अर्वाचीन काव्यग्रन्थों से उद्धृत किये हैं। इनमें अधिकांश उदाहरण प्रो० मिश्र के स्वयं के ग्रन्थों के हैं। प्रो० मिश्र ने परम्परा का निवर्हन करते हुए काव्य का लक्षण किया है-

काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्।
परत्रेह च निर्व्याजं यशोऽवाप्तिप्रयोजनम्।।[1]

प्रो० मिश्र का मत है- लोकोत्तर आख्यान ही काव्य है, जो रसगर्भ (रसात्मक) हो, स्वभावज हो तथा इहलोक और परलोक दोनों में सहज रूप में यशः प्राप्ति रूपी प्रयोजन वाला हो। इसी प्रकार काव्यभेद के सन्दर्भ में प्रो० मिश्र ने अपनी नूतन अवधारणा अभिव्यक्त की है। विधा के आधार पर वर्गीकृत प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत विधा में विरचित ग्रन्थों के अभिनव (युगानुरूप) लक्षण निबद्ध किये हैं। इनका विवेचन प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में विस्तार के साथ किया जा चुका है। प्रो० मिश्र ने रसनीयता के आधार पर काव्य के तीन भेद बतलाये हैं-सहृदयास्वाद्य, कोविदास्वाद्य तथा लोकास्वाद्य। इनका विवेचन प्रो० मिश्र ने अपने ग्रन्थ में काव्यशाखा प्रकरण के अन्तर्गत किया है। इस दिशा (सन्दर्भ) में प्रो० मिश्र का यह अभिनव प्रयास है। इसका भी सोदाहरण विवेचन प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया गया है। प्रो० मिश्र ने मम्मट के अनुसार ही तीन शब्दशक्तियाँ मानी हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। परन्तु प्रो० मिश्र ने इनमें अपने स्वरचित नवीन उदाहरणों को समाविष्ट कर इनका अत्यन्त सरलतम व्याख्यान किया है। इन सब काव्यशास्त्रीय विवेचनों के अतिरिक्त प्रो० मिश्र ने काव्यशास्त्रीय परम्परा में शास्त्रीय गीत एवं लोक गीतों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन कर परम्परा का संवर्द्धन किया है। अभिराजयशोभूषणम् नामक ग्रन्थ के सन्दर्भ में प्रो० मिश्र का कथन है-

एवं प्रपूर्यते ग्रन्थस्त्रिवेणीकविना मया।
नव्यानामुपकारार्थं प्रत्नानाञ्चापि तुष्टये।।
नूतने काव्यशास्त्रेऽस्मिन् समादृत्य पुरातनम्।
मयाऽऽत्मनीनमन्तव्यं यावत्किञ्चित्प्रकाशितम्।।

---

1. अभिराजयशोभूषणम्-प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष नामक पञ्चम अंश-कारिका-103-4

इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अन्यान्य मौलिक अवधारणाओं को प्रस्तुत कर काव्यशास्त्रीय परम्परा को परिपुष्ट, परिवर्धित, संवर्धित, पल्लवित, पुष्पित एवं संस्कारित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के आकर ग्रन्थों के मूल-मूल तथ्यों को ही उपस्थापित किया गया है। इनका विस्तृत अध्ययन तत्तत् ग्रन्थों में परिशीलनीय है।

उपसंहार

"संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा", प्रस्तुत ग्रन्थ में 20वीं तथा 21वीं शताब्दी के आरम्भिक समय तक प्रकाश में आये हुए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को अधिगृहीत कर लिखा गया है। अतः प्रकृत ग्रन्थ में इन्हीं ग्रन्थों का क्रम से संक्षिप्त परिचय देते हुए ग्रन्थ के रचनाकारों, ग्रन्थ में विवेचित विषय-सामग्री तथा उनके वैशिष्ट्य आदि का विवेचन किया गया है। इसमें आचार्य भरतमुनि से लेकर वर्तमान समय तक की अविच्छिन्न काव्यशास्त्रीय परम्परा का संक्षिप्त परिचय तो दिया ही गया है, साथ ही प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के सम्बन्ध में उनके मौलिक अभिमतों का भी समीक्षात्मक विवेचन करने का प्रयास किया गया है। प्रकृत प्रबन्ध के सन्दर्भ में मेरा अभिमत इस प्रकार है-

यानि मौलिकतथ्यानि उपस्थापितानि काव्यविचक्षणैः।
प्रबन्धेऽस्मिन् मया तानि संक्षेपेण प्रस्तूयते।।
क्व सूर्याः रेवाब्रह्माऽभिराजराधारहसबिहारिद्विवेद्यास्ते।
क्व चाहं लघुदीपकः तुल्यं किन्तूभयोर्लक्ष्यं शारदाशोधप्रकाशनम्।।
दुर्गमः शास्त्रकान्तारः स्वल्पा मम गतिर्मतिः।
तथाप्यत्र किञ्चिद् दुःसाहसं कृतम्मया।।
यथाशक्ति करिष्यामि काव्यतत्त्व विवेचनं।
सर्वं ज्ञातुं प्रवक्तुञ्च ब्रह्मणाऽपि न शक्यते।।
प्राक्तनैर्नूतनाचार्यैः प्राक् पश्चात् या चर्चिता।
काव्यतत्त्वविचाराणां चर्चा सैवात्र चर्च्यते।।

अतः इस ग्रन्थ में काव्यमीमांसा की परिधि में आने वाले काव्यशास्त्रीय

तत्त्वों रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, चमत्कार, ध्वनि, तथा काव्यलक्षण, कारण, प्रयोजन, भेद शब्दार्थशक्ति एवं गुण-दोष आदि को विवेचन का विषय बनाया गया है। इन तत्त्वों के सन्दर्भ में विद्वान् काव्यविचक्षण अर्वाचीन आचार्यों की क्या-क्या मौलिक अवधारणाएँ हैं? जो प्राक्तन् आचार्यों से भिन्न हैं। किन-किन तत्त्वों के विवेचन में इन्होंने पूर्ववर्त्तियों का अनुसरण किया है तथा काव्यशास्त्रीय परम्परा में विवेचित पूर्ववत् समस्त विषयों के अतिरिक्त उसमें क्या कुछ अधिकांश संयुक्त किया है? इन्हीं सब तथ्यों को समीक्षा का केन्द्रबिन्दु मानकर इस प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों में यथा स्थान विवेचित करने का प्रयास किया है।

परन्तु कहाँ काव्यविद्याविशारद्, काव्यविद्याविलासी, काव्यविद्या को भली-भाँति जानने वाले ये सब काव्यमर्मज्ञ और कहाँ अल्पविषयामति मैं? तथापि स्वमति अनुसार जो कुछ मुझे इन आचार्यों के मतों में समीचीन लगा उसको मैंने यथावत् स्वीकार कर लिया है। जहाँ-कहीं इन आचार्यों के विचारोद्गार मेरी अल्पीयसी मति के कारण मेरे अन्तःकरण में अवतरित नहीं हो सके, वहाँ मैंने अपनी खण्डनात्मक टिप्पणी भी दे दी है। मुझे जिन तथ्यों के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों तथा अर्वाचीन आचार्यों में मत वैषम्य नहीं दिखाई दिया तथा सिद्धान्तों का व्याख्यान समीचीन लगा, उसी में मैंने भी अपने मत का अन्तर्भाव कर दिया है। वस्तुतः मेरे द्वारा किया गया यह लघु-प्रयास खण्डन नहीं, मण्डन ही है, क्योंकि कहाँ बालबुद्धि मैं और कहाँ काव्यविद्या को हस्तामलकवत् करने वाले ये कविपुङ्गव पण्डित प्रवर। परन्तु फिर भी मैंने अपनी बालचापल्यता (धृष्टता) को यहाँ प्रस्तुत किया है। अतः विद्वज्जन मेरे प्रयास का उपहास नहीं करेगें।

यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ में मैंने अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के कतिपय आचार्यों के मन्तव्यों को प्रस्तुत किया है तथापि प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो० राजेन्द्र मिश्र तथा प्रो० रहसबिहारी द्विवेदी विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इस ग्रन्थ में व्याख्यायित होने वाले प्रतिनिधि ग्रन्थों में से हैं। ये ग्रन्थ क्रमशः वर्तमान समय में प्रकाश में आये हैं। अतः इनमें से प्रत्येक पूर्व के ग्रन्थ पर उत्तर के ग्रन्थाचार्य ने अपने

मतों को प्रस्तुत किया है। यथा-जिस प्रकार प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में काव्यस्वरूप के सन्दर्भ में शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर में शब्द को ज्ञानोत्पत्ति के बाद उसके नष्ट हो जाने की बात कहते हैं-

काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्वं नोपपद्यते।
शब्दस्य ज्ञानतायां च शब्दतैव विनश्यति।।

वहीं उनके उत्तरवर्ती डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा अपने ग्रन्थ काव्यसत्यालोक में प्रो० द्विवेदी के मतों का तर्क सहित खण्डन करते हुए अर्थ के भी विनष्ट होने की बात कहते हैं-

शब्दस्य ज्ञानतायां हि, शब्दो यदि विनश्यति।
अर्थस्य ज्ञानतायां हि, नश्येदर्थ इति ध्रुवम्।।

इस प्रसङ्ग का विवेचन ग्रन्थ में यथा स्थान किया गया है।

इसी प्रकार प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने इन आचार्यों के मतों का अपनी कृति अभिराजयशोभूषणम् में खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन किया है। प्रो० मिश्र ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में यत्र-तत्र युगावश्कतानुसार परिवर्तन भी किये हैं। यथा-नाटक तथा महाकाव्यादि के लक्षण के सन्दर्भ में। इसको भी यथा-स्थान दिखलाया गया है। वर्तमान आचार्यों ने जो बातें काव्यानुकूल कहीं हैं, उनको प्रो० मिश्र ने यथावत् स्वीकार किया है तथा जो बातें काव्यसिद्धान्त के प्रतिकूल हैं, उनका खण्डन भी किया है। इसी प्रकार अन्य भी जितने आचार्य हैं, उनके मत-मतान्तरों को यथा-स्थान प्रस्तुत किया गया है। प्रकृत ग्रन्थ में अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के 29 प्रमुख आचार्यों के लगभग 45-50 ग्रन्थों की विस्तृत सामग्री का सम्पूर्ण रूप से विवेचन सम्भव न हो पाने के कारण मैंने समस्त (विशेष रूप से प्रतिनिधि) ग्रन्थों के प्रमुख तत्त्वों पर ही संक्षिप्त रूप से विचार-विमर्श किया है। वस्तुतः कतिपय एकल-ग्रन्थों पर ही स्वतन्त्र रूप से शोध-कार्य किया जा सकता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा काव्यशास्त्र की परम्परा सम्वर्धन में किये गये इस सत्प्रयास का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। मैं ही नहीं समस्त काव्यविद्यानुरागी सहृदयजन, विद्वज्जन के इस प्रशंसनीय प्रयास का स्वागत करेगें। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जो निर्दोष हो। आलोचक ग्रन्थ में अपनी प्रतिभा से कुछ न कुछ

खण्डनात्मक तथ्यों का अनुसन्धान अवश्य ही कर लेते हैं। अतः काव्यालोचकों का भी स्वागत है, क्योंकि समालोचकों की समालोचकी दृष्टि से भी परम्परा का सम्वर्धन होता है तथा ग्रन्थकृत गुण-दोष प्रकाशित होते हैं और इससे काव्यविद्या के क्षेत्र में काव्यमीमांसा (विचार-विमर्श) का अवसर प्राप्त होता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ भी गुण-दोष संवलित है। विद्वज्जन ही इसका नीर-क्षीर विवेकेन निर्णय करेंगे।

प्रथम परिशिष्ट-काव्यशास्त्रीय परम्परा (प्राचीन)-100ई०-1900ई० (i)

	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	काल		ग्रन्थ	ग्रन्थकार	काल		ग्रन्थ	ग्रन्थकार	काल
			100-.500				1001-1500				
1.	अग्निपुराण	अग्निपुराणकार	अज्ञात	1.	औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र	1010-1050	24.	साहित्यरत्नाकर	धर्मसूरि	1501-1600
2.	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि	100-300	2.	व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट	1020-1050	25.	अलङ्कारकौस्तुभ	कर्णपूर	1525-1600
3.	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	-	400	3.	शृंगारप्रकाश/ सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज	1005-1050	26.	कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित	1554-1600
4.	ग्रन्थ अनुपलब्ध	मेधाविन	400	4.	काव्यप्रकाश	मम्मट	1050-1100	27.	काव्यचन्द्रिका	कविचन्द्र	1575-1625
				5.	नाटकलक्षणरत्नकोश	सागरनन्दी	1060-1150	28.	अलङ्कारशेखर	केशव मिश्र	-1563
		501-1000		6.	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र	1088-1173	29.	साहित्यसुधासिन्धु	विश्वनाथदेव	-1592
				7.	नाट्यदर्पण	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	1093-1143			1501-1900	
1.	भट्टिकाव्य	भट्टि	600	8.	अलङ्कारसर्वस्व	रुय्यक	1150-1200	1.	नाटकचन्द्रिका	रूपगोस्वामी	-1600
2.	ग्रन्थ अनुपलब्ध	धर्मकीर्ति	620	9.	अलङ्कारविमर्शिनी	जयरथ	1150-1200	2.	अलङ्कारतिलक	भानुदत्तमिश्र	-1600
3.	काव्यालङ्कार	भामह	500-620	10.	अलङ्काररत्नाकर	शोभाकर मित्र	1175-1225	3.	लोचनरोचनीटीका	जीवगोस्वामी	-
4.	काव्यादर्श	दण्डी	675-725	11.	भावप्रकाशन	शारदातनय	1175-1250	4.	रसगङ्गाधर	पण्डितराज जगन्नाथ	1620-1660
5.	अलङ्कारसारसंग्रह	उद्भट	750-850	12.	साहित्यमीमांसा	-	1175-1250	5.	श्रीभगवद्भक्तिरसायन	मधुसूदन सरस्वती	1650-1750
6.	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति	वामन	750-850	13.	चन्द्रालोक	जयदेव	1200-1300	6.	अलङ्कारदीपिका	आशाधरभट्ट	1675-1725
7.	काव्यालङ्कार	रुद्रट	750-850	14.	वाग्भयलङ्कार	वाग्भट प्रथम	1224-1248	7.	साहित्यसार	अच्युतराय	-1696
8.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	860-890	15.	अलङ्कारचिन्तामणि	अजितसेन	1250-1260	8.	गुरुमर्मविमर्शिनी	नागेशभट्ट	1700-1744
9.	अभिधावृत्तिमातृका	मुकुलभट्ट	883-925	16.	मन्दारमरन्द चम्पू	श्रीकृष्णभट्ट	1250-1350	9.	अलङ्कारमुक्तावली	विश्वेश्वर पण्डित	1100-1750
10.	काव्यमीमांसा	राजशेखर	900-980	17.	प्रतापरुद्रयशोभूषण	श्रीविद्यानाथ	1280-1325	10.	नञ्जराजयशोभूषणम्	नरसिंह कवि	1739-1750
11.	हृदयदर्पण	भट्टनायक	935-985	18.	एकावली	विद्याधर	1285-1325				
12.	काव्यकौतुक	भट्टतौत	950-980	19.	काव्यानुशासन्	वाग्भट द्वितीय	1300-1350				
13.	वक्रोक्तिकाव्य -जीवितम्	कुन्तक	950-1000	20.	काव्यकल्पलता	अमरचन्द्र	1300-1350				
14.	शृङ्गारतिलक	रुद्रभट्ट	950-1100	21.	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ कविराज	1300-1384				
15.	सहृदयालोकलोचन	अभिनवगुप्त	990-1015	22.	कविकल्पलता	देवेश्वर	1350-1400				
16.	दशरूपक	धनञ्जय	-1000	23.	रसार्णवसुधाकर	सिंगभूपाल	1300-1400				

द्वितीय परिशिष्ट-संस्कृत काव्यशास्त्र की अर्वाचीन परम्परा (अर्वाचीन)-1901ई०-2007-08 ई०

1901-2007-08

क्रम	ग्रन्थ	लेखक	वर्ष
1.	साहित्योद्देश एवं साहित्यसिद्धान्त	पं० सीताराम शास्त्री	1923
2.	व्यञ्जनावाद	पं० यदुनाथ मिश्र	1936
3.	साहित्यमञ्जरी	श्रीपादशास्त्री हसूरकर	1938
4.	भक्तिरसार्णव	स्वामी करपात्री जी	1940
5.	रसचन्द्रिका	पं० लेखनाथ झा	1940
6.	लोकमान्यालङ्कार	गजानन शास्त्री करमडकर	1941
7.	साहित्यविमर्श	कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वरशर्मा	1951
8.	साहित्यसार	सर्वेश्वर कवि	1952
9.	साहित्यबिन्दु	श्री छज्जूराम शास्त्री	1961
10.	कारिकाग्रन्थ	विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि	1961-1980
11.	अभिनवकाव्यप्रकाश	पं० गिरिधर लाल व्यास शास्त्री	1966-1985
12.	काव्यालङ्कारकारिका	प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी	1976
13.	ध्वनिकल्लोलिनी	आचार्य आनन्द झा	1978
14.	काव्यसत्यालोक	डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा	1980
15.	रसचन्द्रिका/ व्यञ्जनावृत्तिविचार	पं० रामावतार मिश्र	1985
16.	साहित्यसन्दर्भः	प्रो० शिवजी उपाध्याय	1990
17.	सौन्दर्यकारिका	प्रो० जगन्नाथ पाठक	1991
18.	मैथिलीकाव्यविवेक	कविशेखर वदरी नाथ झा	1994
19.	सौन्दर्यदर्शनविमर्श	प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	1995
20.	काव्यतत्त्वविवेक	डॉ० रमाशङ्कर तिवारी	1996
21.	काव्यात्मनिर्णय	डॉ० हरिशचन्द्र दीक्षित	1992-2000
22.	अभिनवकाव्यशास्त्र	डॉ० शङ्करदेव अवतरे	2001
23.	काव्यसिद्धान्तकारिका	प्रो० अमरनाथ पाण्डेय	2001
24.	रसवसुमूर्ति	प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी	2003
25.	चमत्कारविचारचर्चा	प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार	2004
26.	अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्र	प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी	2005
27.	अभिराजयशोभूषणम्	प्रो० राजेन्द्र मिश्र	2006
28.	लघुछन्दोऽलङ्कारदर्पण	पं० नित्यानन्द शास्त्री	2006
29.	नव्यकाव्यतत्त्वविमर्श	प्रो० रहस विहारी द्विवेदी	2007
30.	अलङ्कारविद्योतनम्	म० म० कृष्णमाधव झा	2008

टीका ग्रन्थ

क्रम	ग्रन्थ	टीकाकार	वर्ष
1.	कुवलयानन्द-चन्द्रिका व्याख्या	राम पिशारडी- आउट ऑफ प्रिन्ट	
2.	ध्वन्यालोकलोचन-वालप्रिया व्याख्या		
3.	चित्रमीमांसा की व्याख्या		
4.	काव्यप्रकाश की व्याख्या	सुदी झा	पाण्डुलिपिरूप
5.	ध्वन्यालोकोज्जीवनी	म०म०सु०नीलकण्ठ शास्त्री	1981
6.	रसमञ्जरी पर सुरभि व्याख्या	कवि शेखर वदरीनाथ झा-उपलब्ध चौ0 सं० प्रतिष्ठान	
7.	रसगङ्गाधर पर चन्द्रिका व्याख्या		
8.	ध्वन्यालोक पर दीक्षित व्याख्या		
9.	ध्वन्यालोकलोचनविमर्श	वैद्यनाथ झा	1978
10.	ध्वन्यालोक पर दीपशिखा टीका	चण्डिका प्रसाद शुक्ल	1983
12.	सहृदयालोकलोचन-लोचन पर	प्रो० तपस्वी नान्दी	2005

समीक्षा ग्रन्थ

क्रम	ग्रन्थ	लेखक	वर्ष
1.	काव्यतत्त्वसमीक्षा	डॉ० नरेन्द्र नाथ चौधुरी	1959
2.	काव्यात्ममीमांसा	डॉ० जयमन्त मिश्र	1964
3.	भक्तिरसविमर्श	डॉ० कपिलदेव ब्रह्मचारी	1980
4.	रसनिष्पत्तितत्त्वालोक	पं० भागवत् प्रसाद त्रिपाठी	1983
5.	नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम्	डॉ० रामजी उपाध्याय	1993
6.	काव्यविच्छित्तिमीमांसा	डॉ० जयमन्त मिश्र	1998

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

अभिनवरसमीमांसा, शर्मा ब्रह्मानन्द, अर्चना प्रकाशन, अजमेर, प्र० सं०-1975

अभिनवकाव्यप्रकाश, शास्त्री गिरिधर लाल व्यास, व्यास बन्धु, प्रकाशन, उदय पुर, राजस्थान, प्र० सं०- 1985

अभिनवकाव्यशास्त्रम्, अवतरे शङ्करदेव, साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, द्वि० सं० -2001

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, त्रिपाठी राधावल्लभ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र०सं०-2005

अलंब्रह्म, द्विवेदी रेवाप्रसाद, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, प्र०सं०-2005

अभिराजयशोभूषणम्, मिश्र राजेन्द्र, वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं०-2006

अलङ्कारविद्योतनम्, झा म० म० कृष्णमाधव, श्रीमती नन्दा झा सुस्मिता निवास, पथुरिआसाही, पुरी, संशोधित संस्करण -2008

काव्यालङ्कारकारिका, द्विवेदी रेवाप्रसाद, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-1977

काव्यसत्यालोक, शर्मा ब्रह्मानन्द, पारसी मन्दिर के पास, नसीराबाद रोड, अजमेर, राजस्थान, प्र० सं०-1980

काव्यात्मा, दीक्षित हरिश्चन्द्र, एक्सप्रेस प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, प्र० सं०-1985

काव्यात्मनिर्णय, दीक्षित हरिश्चन्द्र, समता प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, प्र० सं०-1992

काव्यतत्त्वविमर्श, दीक्षित हरिश्चन्द्र, देशा प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, प्र० सं०-1995

काव्यतत्त्वविवेक, तिवारी रमाशंकर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली / वाराणसी, प्र०सं०-1996

काव्यशास्त्रीयनिबन्धावली, दीक्षित हरिश्चन्द्र, समता प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर, प्र० सं०-2000

काव्यसिद्धान्तकारिका, पाण्डेय अमरनाथ, अजस्रा-अखिल भारतीय-संस्कृत परिषद्, लखनऊ-जनवरी-अप्रैल 2001 में प्रकाशित

काव्यालङ्कारकारिका, द्विवेदी रेवाप्रसाद, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, द्वि० सं०-2001

चमत्कारविचारचर्चा, वेदालङ्कार राम-प्रताप, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियार पुर, पञ्जाब, प्र० सं०- 2004

दीपशिखा टीका (ध्वन्यालोक), शुक्ल चण्डिका- प्रसाद, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०- 1983

ध्वनिकल्लोलिनी, झा आनन्द, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा बिहार, प्र० सं०-1978

नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा, द्विवेदी रहस बिहारी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशनाधीन-दूर्वा-द्वितीयोन्मेष अप्रैल-मई-जून-2005 में कालिदास अकादमी, उज्जैन से प्रकाशित

नाट्यानुशासनम्, द्विवेदी रेवाप्रसाद, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, द्वि० सं०-2008,

ब्रह्मानन्दाभिनन्दनम्, भट्टगङ्गाधर और शर्मा अशोक, शान्ति स्वाति प्रकाशन 7-क-15 जवाहर नगर, जयपुर, प्र० सं०-1996

भक्तिरसार्णव, स्वामी करपात्री जी, भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता, प्र० सं०- 1940

मैथिलीकाव्यविवेक, झा बदरीनाथ कविशेखर, कविशेखर बदरीनाथ झा ग्रन्थावली प्रकाशन समिति, शङ्कर दर्शन संस्कृत विद्यालय, सरिसब पाही, मधुबनी-बिहार, प्र० सं०- 1994

रसचन्द्रिका, मिश्र रामावतार, रुक्मिणी प्रकाशन, राँची, प्र० सं०-1985

रसालोचनम्, शर्मा ब्रह्मानन्द, 7-क-15-जवाहर नगर, जयपुर, राजस्थान, प्र० सं०-1985

रसविमर्श, दीक्षित हरिश्चन्द्र, शारदा प्रेस, कानपुर, प्र० सं०-2001
रसचन्द्रिका, झा लेखनाथ, सुआरसाही, पुरी उड़ीसा, प्र० सं०-2002
रसवसुमूर्ति, द्विवेदी चन्द्रमौलि, समज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-2002-03
लोकमान्यालङ्कार, करमलकर गजानन शास्त्री, गजानन रामचन्द्र करमलकर शास्त्री, तोफखाना, घ.न.-12, ग. नं.-2 इन्दूर, प्र० सं०-1941
लघुच्छन्दोऽलङ्कारदर्पण, शास्त्री नित्यानन्द , आचार्य नित्यानन्द शास्त्री स्मृति संस्कृत शिक्षा एवं शोध संस्थान, कलकत्ता, प्र० सं०- 2006
व्यञ्जनावाद, मिश्र यदुनाथ, वैशाली प्रेस मुजफ्फर पुर, बिहार,प्र० सं०-1936
वस्त्वलङ्कारदर्शनम्, शर्मा ब्रह्मानन्द, राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान, प्र०सं०- 1969
व्यञ्जनावृत्तिविचार, मिश्र रामावतार, रुक्मिणी प्रकाशन, राँची, प्र० सं०-1985
सहृदय, मिश्र विद्यानिवास, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्र० सं०- 1994
साहित्योद्देश, शास्त्री सीताराम, श्री हरियाणा शेखावटी-ब्रह्मचर्याश्रम महाविद्यालय, भिवानी, हरियाणा, प्र० सं०- 1923
साहित्यसिद्धान्त, शास्त्री सीताराम, श्री हरियाणा शेखावटी-ब्रह्मचर्याश्रम महाविद्यालय, भिवानी, हरियाणा, प्र० सं०-1923
साहित्यमञ्जरी, हसूरकर श्रीपाद शास्त्री, महाराजा होल्कर संस्कृत महाविद्यालय, इन्दूर, प्र०सं०-1940
साहित्यविमर्श, शर्मा कौत्स-अप्पल्ल सोमश्वर, तिरुमला, तिरुपति देवस्थान प्रेस, तिरुपति आन्ध्र प्रदेश, प्र० सं०- 1951
साहित्यसार, कवि सर्वेश्वर, तिरुमला तिरुपति देवस्थान प्रेस, तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश, प्र०सं०-1952
साहित्यबिन्दु, शास्त्री छज्जूराम, मेहरचन्द्र लछमनदास, दरियागंज, दिल्ली, प्र० सं०-1961
साहित्यसन्दर्भ, उपाध्याय शिवजी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र० सं०-1990
सौन्दर्यकारिका, पाठक जगन्नाथ, कोयटेली सासाराम, रोहतास, बिहार, प्र० सं०-19914

सौन्दर्यदर्शनविमर्श, पाण्डेय गोविन्द चन्द्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र०सं०-1995,

साहित्यशारीरकम्, द्विवेदी रेवाप्रसाद , सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-प्र०सं०-1998,

अनूदित ग्रन्थ

अग्रवाल मदन मोहन, भावप्रकाशन-शारदातनय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-1988

अवस्थी ब्रह्ममित्र, अभिधावृत्तमातृका-मुकुलभट्ट, इन्दु प्रकाशन 8/3 रूपनगर, दिल्ली, प्र० सं०- 1977

गुप्त धर्मेन्द्र कुमार, काव्यादर्श-दण्डी, मेहरचन्द लछमनदास, दरियागंज, दिल्ली, प्र०सं०-1973

झा ब्रजमोहन, औचित्यविचारचर्चा- क्षेमेन्द्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र० सं०- 1982

झा बेचन, काव्यालङ्कारसूत्र- वामन, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र० सं०- 1991

झा मदन मोहन, रसगङ्गाधर- पण्डितराज- जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, नवम संस्करण-2001

झा शशिनाथ, अलङ्कारसमुद्गः-म०म० इन्द्रपति, ग्राम-पत्रालय दीप, मधुबनी, बिहार, प्र० सं०-2001

दाहाल लोकमणि/ द्विवेदी त्रिलोकी नाथ-, साहित्यदर्पण-विश्वनाथ- कविराज, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-1995

द्विवेदी शिवप्रसाद, अग्निपुराण- व्यास/अग्निदेव, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, प्र० सं०-2004

द्विवेदी रेवाप्रसाद, व्यक्तिविवेक- महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र० सं०- 1984

नगेन्द्र, अभिनवभारती के तीन अध्याय- अभिनवगुप्त, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्र० सं० -1960

नगेन्द्र, नाट्यदर्पण- रामचन्द्र-गुणचन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्र० सं०- 1990

नागर रविशङ्कर, अलङ्कारकौस्तुभ- कर्णपूर, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र० सं०- 1981

पारिख रसिक लाल सी०, काव्यानुशासन- हेमचन्द्र, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई-21-5, प्र०सं०- 1936

पिशेल आर०, शृङ्गारतिलक-रुद्रट, सहृदयलीला-रुय्यक, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-1968

मालवीय सुधाकर, दशरूपक-धनञ्जय, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन- वाराणसी, प्र० सं०-1979

मिश्र कामेश्वरनाथ, सरस्वतीकण्ठाभरण-भोज, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्र० सं०-1976

मिश्र विश्वनाथ, रसमीमांसा-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, षष्ठ संस्करण-सम्वत्-2048

मिश्र राधेश्याम, वक्रोक्तिजीवित-कुन्तक, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि० सं०-1980

मिश्र राजेन्द्र, रसों की सङ्ख्या-वी०राघवन्, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-2007

वेदालङ्कार रामप्रताप, साहित्यसुधासिन्धु-विश्वनाथ देव, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं०- 1978

वि० कृष्णमाचार्य एवं शर्मा के रामचन्द्र, अलङ्कारसंग्रह-अमृतानन्दयोगी, आड्यार लायब्रेरी, मद्रास, प्र०सं०-1949

शर्मा सारस्वत केदारनाथ, काव्यमीमांसा-राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र० सं०-1954

शर्मा वटुक नाथ एवं उपाध्याय बलदेव, नाट्यशास्त्रम्-भरतमुनि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि०सं०-1980

शर्मा देवेन्द्रनाथ, काव्यालङ्कार-भामह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र० सं०-1973

शास्त्री नेमिचन्द्र, अलङ्कारचिन्तामणि-अजितसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली- प्र० सं०-1973

शुक्ल रामदेव, काव्यालङ्कारसूत्र-रुद्रट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण-1989

सिद्धान्त शिरोमणि विश्वेश्वर, काव्यप्रकाश-मम्मट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण-1998

सिद्धान्त शिरोमणि विश्वेश्वर, ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण-1998

त्रिपाठी राममूर्ति, काव्यालङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति व्याख्या-उद्भट, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं०- 1996

त्रिपाठी रामसागर, ध्वन्यालोकलोचन-अभिनवगुप्त, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, प्र० सं०-1963

त्रिपाठी श्री कृष्णमणि, चन्द्रालोक-जयदेव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, तृ० सं०-1984

स्वतन्त्र ग्रन्थ

अवस्थी ब्रह्ममित्र, अलङ्कारकोश, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं०-1989

उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, दशम संस्करण-2001

उपाध्याय रामजी, नाट्यशास्त्रीयानुसन्धानम्, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, द्वि० सं०-1992

काणे म० म० पी० वी०, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-अनुवादक-शास्त्री इन्द्रचन्द्र, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, प्र० सं०-1966

कृष्ण कुमार, अलङ्कारशास्त्र का इतिहास, साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, पञ्चम सं०-1998

गोस्वामी तुलसीदास, श्री रामचरितमानस, गीता प्रेस गोरखपुर-दशम पुनर्मुद्रित संस्करण-सम्वत्-2065

चौधुरी नरेन्द्रनाथ, काव्यतत्त्वसमीक्षा, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्र० सं०-1959

झा वैद्यनाथ, ध्वन्यालोकलोचनविमर्श, मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभङ्गा-बिहार, प्र० सं०-1978

द्विवेदी रेवाप्रसाद, संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास, कालिदास संस्थानम्, वाराणसी, प्र० सं०-2007

पाठक जगन्नाथ, संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (सप्तम-खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, प्र०सं०-2000

पाण्डेय कान्तिचन्द्र, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्र०सं०-1967

पाण्डेय रमाकान्त, आधुनिक संस्कृत काव्यसमीक्षणम्, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-राजस्थान, प्र० सं०-2009

बेलामलिक-, डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी-व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पब्लिकेशन स्कीम-जयपुर, प्र० सं०-1980

मिश्र राजेन्द्र, सप्तधारा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र०सं०-2003

मिश्र जयमन्त, काव्यात्ममीमांसा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-2005

मिश्र जयमन्त, काव्यविच्छित्तिमीमांसा, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्र० सं०- 1998

मुसलगाँवकर केशवराव, आधुनिक संस्कृत काव्य परम्परा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र० सं०-2004

ब्रह्मचारी कपिलदेव, भक्तिरसविमर्श, आचार्य महन्त श्री विद्यानन्ददास साहब आचार्य गद्दी, फतुहा, पटना-बिहार, प्र० सं०-1980

वेदालङ्कार रामप्रताप, त्रिविधा काव्यसमीक्षा, 15/2 त्रिकुय नगर, जम्मूतवी, प्र० सं०-2004

श्रीवास्तव आनन्दकुमार, आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र० सं०-1990

शास्त्री वी० कुटुम्ब, त्रिपाठी राधावल्लभ, पाण्डेय रमाकान्त एवं देवसिंह धर्मेन्द्र कुमार, आधुनिक संस्कृत साहित्य सन्दर्भ सूची, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्र० सं०-2002

शुक्ल हीरालाल, आधुनिक संस्कृत साहित्य, रचना प्रकाशन इलाहाबाद, प्र० सं०-1971

सिंह योगेन्द्रप्रताप, भारतीय काव्यशास्त्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि० सं०-1997

हीरा राजवंश सहाय, भारतीय काव्यशास्त्र (संस्कृत) का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र० सं०-2000

त्रिपाठी राधावल्लभ, भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०-2007

त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य परम्परा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, द्वि० सं०-2004

त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य-20वीं शताब्दी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, प्र० सं०-1999

त्रिपाठी राधावल्लभ, आधुनिक संस्कृत साहित्य श्रीः, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, प्र० सं०-2001

त्रिपाठी राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, परिवर्धित संस्करण-2007

त्रिपाठी भागवतप्रसाद, रसनिष्पत्तितत्त्वालोक, श्री सदाशिव केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, पुरी-उड़ीसा, प्र० सं०-1983

English Text

Dey . S.K., History of Sanskrit Poetics, Firma, KLM Private Limited Calcutta, IInd Edition-1960

Dixit Harish Chandra, Universal poetics, Samata Printing Press, Kanpur-Ist Edition-1995

Kane P.V., History of Sanskrit Poetics, M.L.B.D. Delhi, IIIrd Edition-1961

Krishnamachariar M., History of classical Sanskrit Literature, M.L.B.D. Delhi, Reprint Edition-2004

Macdonal A.A., History of Sanskrit Literature, M.L.B.D. Delhi, IInd Indian Edition-1971

Mishra Prafulla Kumar, Sanskrit poetics-with contribution

of Orissa, Bhartiya Vidya Prakashan Delhi, Ist Edition-1988

Sharma Brahmanand, A critical study of Indian poetics., Unique Traders Chaurarasta, Jaipur, Ist Edition-1978

Swami M.Shiv Kumar, Post-Jagannath Alamkara Sastra, Rastriya Sanskrit Sansthan, Delhi-Ist Edition-1998

Shrivastav Anand, Later Sanskrit Rhetoricians, Eastern Book Linkers Delhi, Ist Edition-2007

Dictionary-कोशग्रन्थ

आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत अंग्रेजी कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र० सं०-1963

आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र० सं०-1966

Williams Monier, Sanskrit English Dictionary, Oxford University Press, London, Ist Edition-1956

पत्रिकाएँ

अजस्त्रा, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मागाँधी मार्ग, लखनऊ, उत्तर प्रदेश

उशती, गङ्गानाथ झा शोध-संस्थान, कम्पनी बाग, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश

दृक्, दृक् भारती-झूँसी-इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

दूर्वा, कालिदास अकादमी (विक्रम विश्वविद्यालय) उज्जैन मध्य प्रदेश

विश्वसंस्कृतम्, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर, पञ्जाब

शोध-प्रभा, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

सागरिका , डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)

7259/23 अजेन्द्र मार्केट

प्रेमनगर, शक्ति नगर, दिल्ली-7

e-mail : pratibhabooks@ymail.com